स्वामी तपोवनम ग्रन्थावलि : १

हिमगिरि-विहार

[मलयालम भाषा में लिखित मूल ग्रन्थ का हिन्दी-रूपान्तर]

मूल लेखक

स्वामी तपोवनम जी महाराज

हिन्दी-रूपान्तरकार

सुधांशु चतुर्वेदी

प्राध्यापक हिन्दी–विभाग, श्री केरलवर्मा कालेज त्रिचूर–४ (केरल)

स्वामी महादेववनम उत्तरकाशी (उत्तर-प्रदेश)

अनुमति

श्री परमहंस महादेववनम द्वारा आनीत 'हिमगिरि-विहार' के हिन्दी-संस्करण के प्रथम प्रामाणिक प्रारूप का विलोकन कर प्रसन्नता हुई। श्री सुधांशु चतुर्वेदी कृत भाषान्तर सुस्पष्ट एवं प्राञ्जल है। श्री परमहंस तपोवनम जी महाराज परमहंस सम्प्रदाय के अमूल्य रत्न थे। उनकी विद्वत्ता, वैराग्य, तपोनिष्ठ-जीविका सुविदित है। 'हिमगिरि-विहार' में उनके सौन्दर्य एवं कला-प्रेम का चित्रण है। भारत के संन्यासी की दृष्टि से ही सारा वर्णन होने से एक नवीन आभा है। मूल मलयालम से अनभिज्ञ हिन्दी-जानकारों को यह प्रकाशन लाभान्वित करेगा यह निःसंशय है। आस्तिक व कला-रसज्ञों के द्वारा यह कृति सम्मान प्राप्त करे। हमारे प्रिय महादेववनम जी धन्यवादार्ह हैं। उनका श्रम सफल है।

शांकरो
महेशानन्दगिरिः
श्री ध्रुवेश्वर मठ, काशी

श्री सन्यास आश्रम
आश्रम मार्ग दिल्ली-८

हिमालय-स्तवन

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥

०

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥

—कुमारसम्भवम् (कालिदासः)

स्वामी तपोवनम जी महाराज

[संक्षिप्त जीवनी]

इस 'हिमगिरि-विहार' ग्रन्थ के मूल लेखक स्वामी तपोवनम जी महाराज ऐसे पुण्यात्मा थे जो संसार का अंधकार-पुंज सत्य रूपी सूर्य की आँखों से छिपा लेने के पहले ही वासना के चंगुल से मुक्त हो सके थे। बचपन में ही उनमें मुक्ति-मार्ग के प्रति जो अगाध प्रेम प्रकट हो गया था वह जीवन के 'द्वात्रिंशत्' के बीतते बीतते अदम्य हो गया और इसलिए उन्होंने ईश्वर की प्रबल प्रेरणा के वशीभूत होकर इस संसार रूपी वन को छोड़ कर जहाँ, काम-क्रोध आदि हिंसक पशुओं के द्वारा आत्म-विनाश की सम्भावना सदा बनी रहती है, शम, दम आदि गुणों को पुष्ट करने में समर्थ वातावरण के हिमगिरि-प्रदेशों की शरण ली थी।

कहा जाता है कि तपोवनों के जन्म और पूर्वचरित्र को जानने की आवश्यकता नहीं होती है। फिर भी उनके जीवन का परिचय प्राप्त करना सामान्य लोगों के लिए मार्गदर्शी तथा मानसिक विकास देने वाला होता है। इसी विचार से स्वामीजी महाराज का कुछ परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

● बाल्यकाल—सन् १८८९ (तदनुसार वि० संवत् १९४६) में स्वामी तपोवनम जी ने मार्गशीर्ष महीने के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन जन्म लिया था। पालघाट तालूक के आलत्तूर के पास मुटप्पल्लूर गाँव में एक पुरातन एवं प्रतिष्ठित नायर-परिवार में उनका मातृगृह था। किन्तु कोट्टुवायूर गाँव के करिप्पोट में अपने पितृगृह में ही वे बचपन से रहते आये थे। इनके माता-पिता के शुभ नाम थे श्रीमती कुंजम्मा और श्री अच्चुतन नायर।

यह बालक बाल्यकाल से ही भक्ति-मार्ग की ओर झुका हुआ था, तथा पुराण-कथाओं में भगवान की लीलाओं को सुनने एवं मिट्टी की मूर्त्तियों की पूजा करने में विशेष दिलचस्पी दिखाता था। बच्चे की जन्म-पत्री में 'केमद्रुम-योग' था, जिसका यह फल था कि वह अकिंचन एवं भिक्षु बन जाएगा, तथा 'केसरि' आदि के भी योग थे जो घोषणा करते थे कि वह ऐश्वर्य एवं संपूज्यता के शिखर पर बैठेगा। ज्योतिषी लोग असमंजस में पड़ गये कि इन विरुद्ध फलों को कैसे जोड़ा जाए। पिता तो बड़े संपन्न एवं धर्म-निष्ठ थे।

उनका उद्देश्य था कि पुत्र को नवीन शिक्षा की परम कोटि पर पहुँचा कर इसे लौकिक दृष्टि से एक अत्युच्च पद पर पहुँचाना चाहिए। इस साध्य के लिए उनके पास साधन भी कम नहीं थे। किन्तु क्या जन्म-पत्री का फल भी कभी अन्यथा हो सकता है ?

बालक अंग्रेज़ी पाठशाला में पढ़ने लगा। पर जब हाई स्कूल में पढ़ रहे थे तभी उन्होंने स्कूल जाना छोड़ दिया। जब पिता ने डाँटा तो बालक ने उत्तर दिया कि "मैं ने सिर्फ विद्यालय ही छोड़ा है; विद्याभ्यास नहीं छोड़ा है।" उसके इस उत्तर से पुत्र के विषय में बिना नींव का बनाया गया पिता का आशा-महल ढह कर चूर चूर हो गया। उन्हीं दिनों वे पितृघर में रहते हुए अंग्रेजी और मलयालम में धार्मिक एवं अध्यात्मिक पुस्तकें, जितनी मिल सकती थीं, सब का श्रमपूर्वक अध्ययन करते रहे।

अध्यात्मिक विषयों में अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तभी इन्हें संस्कृत पढ़ने की इच्छा हुई। परिणाम-स्वरूप कोटुवायूर हाई स्कूल के अध्यापक श्रीशंकरन नायर से काव्य, श्री कृष्ण शास्त्री से नाटक, अलंकार आदि तथा श्री वेंकिटाचल शास्त्री से व्याकरण, न्याय आदि का इन्होंने अध्ययन किया। इस प्रकार संस्कृत भाषा का ज्ञान पाकर वे कई वेदांत-ग्रंथ स्वयं और पंडितों की सहायता से पढ़ते रहे। इस तरह बचपन ही से मलयालम, तमिल, अँग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के धार्मिक एवं अध्यात्मिक ग्रंथों का वे ज्ञान प्राप्त करते रहे। स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि अर्वाचीन महात्माओं और शंकर, रामानुज आदि प्राचीन महात्माओं की जीवनी का भी उन्होंने उत्सुकता के साथ अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त वे ईश्वर के पूजापाठ में भी संलग्न रहे।

०

नाम पर इन्होंने कई वर्द्धापन-श्लोक लिख भेजे थे और उनसे आशीर्वाद के पत्र पाकर चरितार्थ एवं कृतार्थ हुए थे। एक बार इन्होंने 'आपवांचेरी तंप्रांकल' के दर्शन किये थे और अभिनंदन के पद्य सुनाकर उन का आशीर्वाद प्राप्त किया था।

● सन्यास-ग्रहणेच्छा—उस समय स्वामी जी का शुभ नाम पी० विष्णु कुट्टी नायर था। बंधु, मित्र और आसपास के लोग उन्हें 'सन्यासी' ही पुकारा करते थे। सुबह का स्नान, भस्म-लेपन, बिना कुछ खाये पिये दस-ग्यारह बजे तक पूजा-पाठ आदि करना, लौकिक विषयों से विरक्ति, एकांत में अकेले बैठकर चिंतन करना, आदि देखकर संसार ने उन्हें यदि विलक्षण व्यक्ति समझा था तो इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं। यद्यपि पिता की मृत्यु के बाद वे स्वतंत्र हो गये थे, तथापि वे धार्मिक, ईश्वरीय एवं प्रशांत जीवन बिताते रहे। बंधु-जनों ने विवाह करने पर विवश किया, पर वे उस से निवृत्त ही रहे। धन कमाने और कमाये हुए धन को बढ़ाने का जो परामर्श उन्हें समय-समय अपने बन्धु से मिलता था, उस की भी उन्होंने सदा अवहेलना ही की।

वे कभी कभी अपने मित्रों से कहा करते थे कि मैं परिव्राजक बन कर हिमालय-प्रदेशों में घूमना चाहता हूं तथा शास्त्र-चिंतन और ईश्वर-चिंतन में जीवन बिताने की मेरी इच्छा है, परन्तु अब स्वदेश छोड़कर जाना उचित नहीं लगता। इनका माता का उस समय उन्हीं दिनों उनका इकलौता भाई विद्याभ्यास में संलग्न था और उसकी देख-रेख करने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर था। अतः उन्होंने उस समय देश छोड़ना उचित नहीं समझा। सर्वस्व त्यागकर सन्यासी-जीवन बिताने की इच्छा का वे दमन करते रहे।

धीरे धीरे वेदांत-शास्त्र के श्रेष्ठ ग्रंथों के अध्ययन की इच्छा तीव्र होती गयी। किन्तु इसे पूर्ण करने का उस समय उनके पास कोई उपाय नहीं था। आखिर उन्होंने भाव नगर (काठियावाड़) की यात्रा की। वहाँ के रहने वाले श्री स्वामी शांत्यानंद सरस्वती के साथ रह कर इन्होंने कई महान ग्रंथों का अध्ययन किया। लेकिन वे अधिक समय तक वहाँ न रह सके। उन्हें घर लौटना पड़ा। फिर भी कई महात्माओं और विद्वानों के दर्शन एवं सत्संगति उन्हें प्राप्त हुई थी।

● लोक-सम्पर्क—सन् १९१२ के बाद के पालघाट नगर में वे अधिक समय रहे और वहाँ के कुछ मित्रों की प्रेरणा से श्री गोपालकृष्ण गोखले की यादगार में "गोपालकृष्ण" नामक एक मासिक पत्र का संपादन करने लगे। पर

सन् १९२० में उन्हें कलकत्ता से श्री स्वामी शांत्यानंद सरस्वती का एक पत्र मिला। वह पत्र शास्त्र-चिंतन एवं सत्संगति में कुछ दिन बिताने का निमन्त्रण था। उसके पाते ही सत्संगति में उत्सुक स्वामी जी कलकत्ता रवाना हुए। कलकत्ता जाकर वहाँ शहर के बाहर एक बाग में वे स्वामी जी के साथ रहने लगे। स्वामी जी उन दिनों द्वारका के शारदा मठ के शंकराचार्य के पद पर विराजमान थे। वहाँ के निवास-काल में कई पंडितों तथा साधु-संतों के दर्शन तथा उनकी सत्संगति उन्हें नित्य प्राप्त होती थी। मनन-चिंतन भी नियमपूर्वक चलता था। यह जान कर कि वे अविलंब सन्यासी होने वाले हैं, शंकराचार्य जी उन्हें 'चिद्विलास' के नाम से पुकारने लगे। वहाँ रहते हुए उन्हें बेलूर मठ में जाकर स्वामी शिवानंद जी, स्वामी ब्रह्मानंद जी आदि श्री रामकृष्ण मिशन के कई महात्माओं से मिलने का सौभाग्य मिला।

वहाँ से श्री काशी के रास्ते हरिद्वार में जाकर रहने लगे। वहां भी आर्यसमाज के नेता स्वामी श्रद्धानंद जी आदि कई महात्माओं के दर्शन किये। फिर वे कुछ दिन हृषीकेश में जाकर रहे। वहाँ स्वामी मंगलनाथ जी, स्वामी मूलसिंग जी, स्वामी प्रकाशानंद जी आदि विद्वान महात्माओं के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कुछ दिनों के बाद वहाँ यात्रा कर दिल्ली के रास्ते मथुरा, वृन्दावन, पुष्कर, द्वारका आदि पुण्य-क्षेत्रों के दर्शन करते हुए द्वारका से जहाज़ के द्वारा बंबई और फिर वहाँ से रेल के द्वारा अपने देश में सकुशल आ पहुँचे।

● महानिष्क्रमण—उस यात्रा के बाद स्वामी जी का रहन-सहन बिल्कुल बदल गया। केवल ध्यान-भजन और शास्त्र-चिंतन के अतिरिक्त और किसी काम में उनकी रुचि नहीं थी। एकांत, सुन्दर वनों तथा पर्वतों को वे अधिक प्यार करने लगे। भोजन केवल एक ही बार करते थे। अनेक व्रत और लम्बे उपवास करने लगे। इस कारण उनका शरीर दुबला हो गया था। फिर भी अध्यात्मिक चिंतन और चर्चा में अपना सारा समय बिताते थे। पालघाट नगर में रहनेवाले विक्टोरिया कॉलिज के संस्कृत-अध्यापक श्री रंग नायर, वकील श्री कुंजुराम पतियार, वटवन्नूर श्री नारायण मेनोन, वैद्य श्री नारायणन नायर आदि कुछ शिक्षित एवं ईश्वरीय चर्चा में रसिक लोगों के सिवा और सब मित्रों से उन्होंने अपने सम्बन्ध और व्यवहार कम कर लिये थे। इस प्रकार दो-तीन वर्ष बीत गये।

इसी बीच छोटे भाई ने बी. एल. परीक्षा पास करके पालघाट में वकालत शुरू कर दी थी। स्वामी जी को ऐसा लगा कि अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने, अर्थात् अपनी चिरंतन इच्छा पूरी करने का समय आ गया है। प्रज्वलित वैराग्य की आग को वे अब ढके रखने में असमर्थ हो गये। सन् १९२३ के भाद्रपद महीने की जन्माष्टमी के दिन उन्होंने अपनी सांसारिक संपत्तियों को ठुकरा कर महानिष्क्रमण किया। अपने भाई से केवल इतना ही कहा था कि "मैं कुछ तीर्थों में घूमना चाहता हूँ।"

ओलवक्कोट रेलवे-स्टेशन पर जब गाड़ी चलने लगी तो उनके मनोभावों को बहुत कुछ जानने वाले उनके भाई ने गद्‌गद् कंठ से प्रार्थना की थी कि "जल्दी ही लौट आएँ", पर उन्होंने कोई उत्तर न दिया।

० सन्यास—स्वामीजी नासिक के पास पंचवटी में पहुँचे और स्वामी हृदयानन्द नामक एक महात्मा के पास रहते हुए योग-दर्शन आदि ग्रंथों का अध्ययन करते रहे। इसके बाद जबलपुर के पास नर्मदा नदी के तट पर उन्होंने सन्यास-ग्रहण किया, अर्थात् गेरुआ कपड़ा पहनकर साधु और भिक्षु बन गये।

वहाँ से प्रयाग और अयोध्या में महात्माओं के बीच कुछ दिन रहने के बाद हृषीकेश में जाकर रहने लगे। अद्वितीय ब्रह्म में चित्त-समाधि का अभ्यास करने लगे। भिक्षा के अन्न से शरीर का पालन करते रहे। इसके बाद उन्होंने वहाँ कैलास आश्रम के अध्यक्ष एवं ब्रह्मनिष्ठ परम पूज्य जनार्दन गिरि स्वामी जी से शास्त्र-विधि के अनुसार सन्यास की दीक्षा ली। इस प्रकार वे शंकर-संप्रदाय के परमहंस साधु बन गये।

० तपस्या—और हिमगिरि-विहार हृषीकेश के एक तृण-कुटीर में स्वामी जी कुछ दिन रहे। शीतकाल में वे हृषीकेश में निवास करते थे और गरमी के दिनों में उत्तर काशी आदि हिमालय के ऊँचे प्रदेशों में विहार किया करते थे। वहाँ के विहार का पर्याप्त वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। सन् १९२५ और १९३० में तिब्बत की यात्रा की और वहाँ के सन्यासी-मठों में निवास करते लामाओं के दर्शन किये। 'कैलास-यात्रा' नामक ग्रंथ में उसका पूरा विवरण है।

तदुपरान्त अपने एक मित्र विद्यालंकार उपाधिधारी ब्राह्मण के साथ खंडन-ग्रंथ का भी अध्ययन किया।

इस प्रकार चार-पाँच वर्ष के बाद स्वामी जी हृषीकेश में ही नहीं आसपास के सब प्रदेशों में विख्यात हो गये। स्वामी जी के वैराग्य, त्याग, ज्ञान-निष्ठा आदि की सर्वत्र सराहना होने लगी। लोग उनकी कई तरह की सेवा करने के लिए तैयार हो गये। फिर भी त्याग-वृत्ति में, परम निष्ठा में, लगे स्वामी जी उन की सेवा को ग्रहण नहीं करते थे। वेदांत-श्रवण के इच्छुक साधु-संत एवं सत्संग के अभिलाषी दूसरे भक्तों से वे सदा घिरे रहते थे। सवेरे दो-एक घंटे साधु-संतों के लिए प्रस्थानत्रय-भाष्य का पाठ होता था। पाठ का श्रवण करने, सत्संग करने अथवा केवल दर्शन करने आदि के अभिलाषी लोगों की अधिकता के कारण स्वामी जी सर्दी के कम होते ही हृषीकेश छोड़कर हिमगिरि पर सौ मील ऊपर उत्तरकाशी के लिए प्रस्थान किया करते थे।

स्वामी जी सहज ही एकांत-प्रिय थे। हम जितना ही हिमालय के ऊपर चढ़ते जाते हैं, उतना ही अधिकाधिक एकांत और शांति मिलती जाती है। जब से स्वामी जी सांसारिक संबंधों का परित्याग कर हिमालय में तपस्या-वृत्ति में रहने लगे, तब से वे हृषीकेश से निम्न, प्रदेशों में जाकर कहीं नहीं रहे। कई राजाओं और धनियों ने प्रार्थना की, फिर भी हिमालय को छोड़ निम्न प्रदेशों में जाकर रहने में वे कभी राजी न हुए। यहाँ तक कि इस बात के लिए हृषीकेश में आयी हुई एक रियासत की महारानी द्वारा कई बार की हुई प्रार्थना को भी उन्होंने ठुकरा दिया।

स्वामी जी के ऐसे त्याग, उपराम स्वभाव तथा प्रसन्न, प्रेममय एवं स्वच्छन्द जीवन के कारण लोग उनसे बड़ा प्रेम और आदर करते थे। उत्तरकाशी, गंगोत्री, बदरीनाथ आदि हिमगिरि के उन्नत एवं एकान्त-सुन्दर तीर्थ ही उनके प्रिय निवास-स्थान थे। उत्तरकाशी, गंगोत्री और बदरीनाथ के पहाड़ी लोग स्वामी जी को देवता के समान मानते थे। वेदांत-श्रवण के इच्छुक सन्यासी-साधक लोग इन स्थानों पर स्वामी जी के साथ रहा करते थे। यद्यपि उनसे वेदांत-विद्या का अध्ययन करने के इच्छुक उन के कई शिष्य थे, तथापि वे किसी को गेरुआ कपड़ा देकर यति-धर्म में शामिल नहीं करते थे।

इस प्रकार स्वामी जी के अलौकिक जीवन से प्रभावित होकर राजा लोग, रानियाँ, अमीर, गरीब, शिक्षित, अशिक्षित सब तरह के लोग हृपीकेश आदि स्थानों पर उन के दर्शन कर चरितार्थ हो जाते थे। जब एक बार पंडित

मदनमोहन मालवीय जी हृषीकेश गये तो उन्होंने स्वामी जी की कुटी में जाकर उनके दर्शन किये थे और बड़ी देर तक बातें की थीं ।

कुछ भक्तों ने स्वामी जी से निवेदन किया था कि यदि वे हृषीकेश में स्थिर रूप से रहना चाहते हों तो हम उनके लिए निवास बनाने को प्रस्तुत हैं। पर स्वामी ने यह बात स्वीकार नहीं की। स्वामी जी नहीं चाहते थे कि हृषीकेश में, जहाँ लोगों की संख्या एवं व्यवहार बढ़ते जा रहे हैं, स्थिर रूप से रहें। स्वामी जी का अभिप्राय जानकर उनके भक्तों में से एक ने, जो लखनऊ की छोटी अदालत के जज थे, उत्तरकाशी में स्वामी जी के रहने के लिए एक कुटी बना दी। स्वामी जी ज्यादातर वहीं रहा करते थे। वहाँ से छप्पन मील ऊपर के गंगोत्री धाम में भी स्वामी के लिए एक कुटी बनायी गयी थी। वहाँ जाकर भी स्वामी जी कुछ महीनों तक रहा करते थे। यों ब्रह्मवस्तु में ही चित्त की समाधि लगाते तथा ब्रह्म-विद्या का प्रचार करते ऋषि-पुंगवों से संकुल हिमगिरि के प्रदेशों ही समाधि-पर्यन्त वे विराजमान रहे।

० ग्रन्थ-रचना—हृषीकेश में रहते हुए उन्होंने चार पाँच महीनों में ही मलयालम भाषा के प्रेम एवं इसकी प्रवृत्ति और संस्कृति के कारण इसमें कुछ ग्रंथों की रचना की थी। वे ग्रंथ ईश, केन और कठ उपनिषदों के शंकर-भाष्य के अनुवाद थे। शाण्डिल्य-सूत्र की एक विस्तृत व्याख्या भी उन्होंने लिखी है, किंतु उसका प्रकाशन नहीं हुआ है। 'कैलास-यात्रा' और 'हिमगिरि-विहार' नामक दो ग्रंथों का प्रकाशन मलयालम में हो चुका है। 'हिमगिरि-विहार का श्री टी. एन. केशवपिल्ला एम. ए. एल. टी. ने अँग्रेजी में अनुवाद किया है। स्वामी जी ने सन् १९२९ में उत्तरकाशी में रहते हुए 'श्री सौम्य-काशीश'—उत्तरकाशी-विश्वनाथ—स्तोत्र के नाम पर वेदांत-संबंधी एक संस्कृत-ग्रंथ की रचना की। विश्वनाथ के मंदिर में विश्वनाथ के ही सामने प्रतिदिन रचे हुए पद्य वे सुनाते रहे। सन् १९३१ में बदरीनाथ में श्रीबदरीश-स्तोत्र' नामक ग्रंथ की रचना की। सन् १९३२ के बाद प्रतिवर्ष गंगोत्री में जाकर रहा करते थे। उन दिनों वहाँ के लोगों की प्रार्थना मानकर उन्होंने 'श्री गंगोत्री क्षेत्र-महिमा', 'श्री गोमुखी-यात्रा' और 'श्री गंगा-स्तोत्र' नामक ग्रंथों की रचना भी संस्कृत में की थी। ये सब ग्रंथ उत्तरप्रदेश में प्रकाशित हुए हैं। श्री बदरीश-स्तोत्र का प्रकाशन बदरीनाथ के मुख्य पुजारी 'रावल जी' श्री वासुदेवन नंपूतिरी ने पहले किया था। दूसरे सब ग्रंथों का

प्रकाशन गुजरात के श्री वल्लभराम शर्मा नामक विद्वान ने, जो स्वामी जी के एक प्रमुख गृहस्थ शिष्य हैं, किया है। 'श्री बदरीश स्तोत्र' कोल्लंकोट श्री पी. गोपालन नायर की मलयालम व्याख्या के साथ तथा 'श्री सौम्य काशीश स्तोत्र' स्वामी श्री परमानंद तीर्थपाद की मलयालम व्याख्या के साथ प्रकाशित हुए हैं।

उत्तर भारत के कई मित्रों, भक्तों तथा शिष्यों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए स्वामी जी ने खुद अपनी जीवनी 'ईश्वर-दर्शन' के नाम से लिखी है। इस ग्रंथ को श्री वल्लभराम शर्मा ने देवनागरी लिपि में तथा श्री पी. कृष्ण पिल्ला ने मलयालम लिपि में प्रकाशित किया है।

● विदेह-मुक्ति—इस प्रकार ग्रंथ-रचना और धर्मोपदेशों से संसार का अनुग्रह करते हुए जीवनमुक्त होकर विराजमान स्वामी जी का स्वास्थ्य सन् १९५६ में खराब हो गया। अजीर्ण ही उन्हें मुख्य रोग था। किंतु उन्होंने यह बात किसी को नहीं बतायी थी। जब शरीर दुर्बल होने लगा तभी शिष्य लोग भी रोग की बात समझ गये। यद्यपि शरीर दुर्बल हो गया था, तथापि उन्होंने शरीर के अचल होने तक अपने नियमों एवं दैनिक चर्याओं को नहीं छोड़ा था। चिकित्सा द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाये रखने की इच्छा रखनेवाले शिष्यों से स्वामी जी सदा यही कहते रहे कि शरीर का धर्म नियम से चलता रहेगा, ज्ञानी को भी कुछ न कुछ शारीरिक प्रारब्ध भोगना पड़ेगा, पर उस प्रारब्ध में भी उसे जगत के मिथ्या होने की बुद्धि तथा आत्मानुभूति आश्वासन देती रहेगी।

स्वामी जी की बीमारी की बात जानकर अनेक महात्मा लोग और साधारण लोग उत्तरकाशी के श्री तपोवन-कुटीर में आते रहे। उन सब को वे पहले के समान उपदेश देकर आशीर्वाद देते रहे। परन्तु १६ जनवरी सन् १९५७ के ब्रह्म-मुहूर्त में स्वामी जी अपना प्रारब्ध शरीर छोड़कर विदेह-मुक्त हो गये। माघ महीने की पूर्णमासी का दिन सारे भारत के हिन्दुओं के लिए एक पुण्य-तिथि है। उत्तरकाशी के विश्वनाथ मंदिर में उसी दिन महोत्सव मनाया जाता है। उत्तर प्रदेश के कई स्थानों से उस उत्सव में भाग लेने के लिए अनेक भक्त लोग आया करते हैं। इस प्रकार १६ जनवरी १९५७ में वहाँ आये हुए भक्त लोगों, अनगिनत साधु-संतों तथा ब्रह्मचारियों के साथ श्री तपोवन स्वामी जी के भौतिक पिंड को उन के शिष्यों ने गंगा-जल में नहलाया, चंदन व भस्म लगाया और विधिपूर्वक एक मंच में बिठाया।

मदनमोहन मालवीय जी हृषीकेश गये तो उन्होंने स्वामी जी की कुटी में जाकर उनके दर्शन किये थे और बड़ी देर तक बातें की थीं ।

कुछ भक्तों ने स्वामी जी से निवेदन किया था कि यदि वे हृषीकेश में स्थिर रूप से रहना चाहते हों तो हम उनके लिए निवास बनाने को प्रस्तुत हैं। पर स्वामी ने यह बात स्वीकार नहीं की। स्वामी जी नहीं चाहते थे कि हृषीकेश में, जहाँ लोगों की संख्या एवं व्यवहार बढ़ते जा रहे हैं, स्थिर रूप से रहें। स्वामी जी का अभिप्राय जानकर उनके भक्तों में से एक ने, जो लखनऊ की छोटी अदालत के जज थे, उत्तरकाशी में स्वामी जी के रहने के लिए एक कुटी बना दी। स्वामी जी ज्यादातर वहीं रहा करते थे। वहाँ से छप्पन मील ऊपर के गंगोत्री धाम में भी स्वामी के लिए एक कुटी बनायी गयी थी। वहाँ जाकर भी स्वामी जी कुछ महीनों तक रहा करते थे। यों ब्रह्मवस्तु में ही चित्त की समाधि लगाते तथा ब्रह्म-विद्या का प्रचार करते ऋषि-पुंगवों से संकुल हिमगिरि के प्रदेशों ही समाधि-पर्यन्त वे विराजमान रहे।

० ग्रन्थ-रचना—ऋषीकेश में रहते हुए उन्होंने चार पाँच महीनों में ही मलयालम भाषा के प्रेम एवं इसकी प्रवृत्ति और संस्कृति के कारण इसमें कुछ ग्रंथों की रचना की थी। वे ग्रंथ ईश, केन और कठ उपनिषदों के शंकर-भाष्य के अनुवाद थे। शाण्डिल्य-सूत्र की एक विस्तृत व्याख्या भी उन्होंने लिखी है, किंतु उसका प्रकाशन नहीं हुआ है। 'कैलास-यात्रा' और 'हिमगिरि-विहार' नामक दो ग्रंथों का प्रकाशन मलयालम में हो चुका है। 'हिमगिरि-विहार का श्री टी. एन. केशवपिल्ला एम. ए. एल. टी. ने अँग्रेजी में अनुवाद किया है। स्वामी जी ने सन् १९२९ में उत्तरकाशी में रहते हुए 'श्री सौम्य-काशीश'—उत्तरकाशी-विश्वनाथ—स्तोत्र के नाम पर वेदांत-संबंधी एक संस्कृत-ग्रंथ की रचना की। विश्वनाथ के मंदिर में विश्वनाथ के ही सामने प्रतिदिन रचे हुए पद्य वे सुनाते रहे। सन् १९३१ में बदरीनाथ में श्रीबदरीश-स्तोत्र' नामक ग्रंथ की रचना की। सन् १९३२ के बाद प्रतिवर्ष गंगोत्री में जाकर रहा करते थे! उन दिनों वहाँ के लोगों की प्रार्थना मानकर उन्होंने 'श्री गंगोत्री क्षेत्र-महिमा', 'श्री गोमुखी-यात्रा' और 'श्री गंगा-स्तोत्र' नामक ग्रंथों की रचना भी संस्कृत में की थी। ये सब ग्रंथ उत्तरप्रदेश में प्रकाशित हुए हैं। श्री बदरीश-स्तोत्र का प्रकाशन बदरीनाथ के मुख्य पुजारी 'रावल जी' श्री वासुदेवन नंपूतिरी ने पहले किया था। दूसरे सब ग्रंथों का

प्रकाशन गुजरात के श्री वल्लभराम शर्मा नामक विद्वान ने, जो स्वामी जी के एक प्रमुख गृहस्थ शिष्य हैं, किया है। 'श्री बदरीश स्तोत्र' कोल्लंकोट श्री पी. गोपालन नायर की मलयालम व्याख्या के साथ तथा 'श्री सौम्य काशीश स्तोत्र' स्वामी श्री परमानंद तीर्थपाद की मलयालम व्याख्या के साथ प्रकाशित हुए हैं।

उत्तर भारत के कई मित्रों, भक्तों तथा शिष्यों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए स्वामी जी ने खुद अपनी जीवनी 'ईश्वर-दर्शन' के नाम से लिखी है। इस ग्रंथ को श्री वल्लभराम शर्मा ने देवनागरी लिपि में तथा श्री पी. कृष्ण पिल्ला ने मलयालम लिपि में प्रकाशित किया है।

● विदेह-मुक्ति—इस प्रकार ग्रंथ-रचना और धर्मोपदेशों से संसार का अनुग्रह करते हुए जीवनमुक्त होकर विराजमान स्वामी जी का स्वास्थ्य सन् १९५६ में खराब हो गया। अजीर्ण ही उन्हें मुख्य रोग था। किंतु उन्होंने यह बात किसी को नहीं बतायी थी। जब शरीर दुर्बल होने लगा तभी शिष्य लोग भी रोग की बात समझ गये। यद्यपि शरीर दुर्बल हो गया था, तथापि उन्होंने शरीर के अचल होने तक अपने नियमों एवं दैनिक चर्याओं को नहीं छोड़ा था। चिकित्सा द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाये रखने की इच्छा रखनेवाले शिष्यों से स्वामी जी सदा यही कहते रहे कि शरीर का धर्म नियम से चलता रहेगा, ज्ञानी को भी कुछ न कुछ शारीरिक प्रारब्ध भोगना पड़ेगा, पर उस प्रारब्ध में भी उसे जगत के मिथ्या होने की बुद्धि तथा आत्मानुभूति आश्वासन देती रहेगी।

स्वामी जी की बीमारी की बात जानकर अनेक महात्मा लोग और साधारण लोग उत्तरकाशी के श्री तपोवन-कुटीर में आते रहे। उन सब को वे पहले के समान उपदेश देकर आशीर्वाद देते रहे। परन्तु १६ जनवरी सन् १९५७ के ब्रह्म-मुहूर्त में स्वामी जी अपना प्रारब्ध शरीर छोड़कर विदेह-मुक्त हो गये। माघ महीने की पूर्णमासी का दिन सारे भारत के हिन्दुओं के लिए एक पुण्य-तिथि है। उत्तरकाशी के विश्वनाथ मंदिर में उसी दिन महोत्सव मनाया जाता है। उत्तर प्रदेश के कई स्थानों से उस उत्सव में भाग लेने के लिए अनेक भक्त लोग आया करते हैं। इस प्रकार १६ जनवरी १९५७ में वहाँ आये हुए भक्त लोगों, अनगिनत साधु-संतों तथा ब्रह्मचारियों के साथ श्री तपोवन स्वामी जी के भौतिक पिंड को उन के शिष्यों ने गंगा-जल में नहलाया, चंदन व भस्म लगाया और विधिपूर्वक एक मंच में बिठाया।

फिर सौन्दर्यकाधीश मंदिर के पास के भरद्वाज कुंड में ले जाकर उत्तर भारत की विधि के अनुसार उस भौतिक पिंड को गंगाजी की भेंट कर भक्तिपूर्वक गंगा में गोता लगाया और फिर सब इधर-उधर चले गये।

किसी भी ज्ञानी को कहीं न कहीं अपना भौतिक पिंड छोड़ देना पड़ता है। उस से उनकी ज्ञाननिष्ठा या मुक्ति का कोई उत्कर्ष अथवा अपकर्ष नहीं होता। जीवन्मुक्त स्वामी जी महातपस्वी भी थे, शायद इसीलिए उत्तरायन काल की माघ-पूर्णिमा के दिन ब्रह्म-मुहूर्त में ही वे ब्रह्म में विलीन हो गये—

> व्यासोऽथवा वियदुपेतशरच्छशाङ्कः
> किं वा दशावतरखेऽन्यतमो महर्षिः।
> आहोस्विच्छङ्करयतिर्भगवान् किमेषः
> श्रीमानयं विजयतेऽत्र तपोवनं सः।

इस प्रकार स्वामी तपोवनम जी का परम पवित्र जीवन एवं उनके उपदेश सदैव मानव-वर्ग को परमानंद-प्राप्ति की प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ सिद्ध हों।

—सुधांशु चतुर्वेदी

अवतारिका

भारत की वर्तमान स्थिति अध्यात्मिक कारुणिक है। वर्तमान पीढ़ी के हम लोग जो दरिद्र, अशिक्षित, आलसी, गुलाम, अल्पजीवी और चुँधले हैं, उस अलौकिक जननी की सन्तान होने का दावा कठिनाई से ही कर सकते हैं। परन्तु सौभाग्यवश, इन दुर्भाग्यपूर्ण दिनों में भी कुछ अमूल्य निधियाँ जिन्होंने हमारा परित्याग नहीं किया है—हमारा हिमालय, हमारी गंगा, हमारे मन्दिर, हमारे देवालय और तीर्थ और ऋषियों की पुरातन संस्कृति—इनका पुनःस्मरण हमें युगान्त-निद्रा से जाग्रत करने के लिए पर्याप्त है। एक ऐसे विश्व को जो आन्तरिक संघर्ष से विच्छिन्न है, शान्ति और सद्भाव का सन्देश प्रदान करने और अत्यधिक पाषाण-हृदय भी विश्व-बन्धुत्व की भावना भरने में समर्थ है। आज जो धुआँ हमें आच्छादित किये हुए है, जब तिरोभूत हो जाएगा, तो प्रकाश हमारा आलिंगन कर सकेगा। जब हमें अपवित्र करने वाले धुँधले बादल तिरोहित हो जाएंगे तब पूर्णचन्द्र अलौकिक आभा के साथ जगमगाने लगेगा। कुछ विद्याभिमानी लोगों ने अपनी मूर्खतापूर्ण बक-झक में कहा है कि भारतीयों में राष्ट्रीय उद्गारों का अभाव रहा है। ओह ! वे जानते ही क्या हैं—

अपि मानुष्यमापस्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ?
मनुष्याः कुर्वते तन्तु यन्न शक्यं सुरासुरैः।
अत्र जन्म-सहस्राणां सहस्रैरपि भारते
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्य-सञ्चयात् ॥

पुराणों का भी यही अभिमत है। जब स्वर्गवासी आत्माएँ अपने सत्कर्मों के प्रभाव को अलौकिक आनन्दानुभूति में खोने लगती हैं, तब वे पृथ्वी पर पूनर्जन्म लेने के लिए प्रार्थना करती है, जिससे कि वे कार्य, जो देवताओं और असुरों के लिए भी असम्भव हैं, सम्पन्न करने में समर्थ हो सकें और ऋषियों का कथन है कि लाखों योनियों में भटकने के पश्चात् भारतभूमि में एक बार जन्मलाभ हो जाता है, क्योंकि जिन्हें स्वर्ग अथवा मोक्ष की लालसा है, उनके लिए भारत एकमात्र कर्मभूमि है। ऋषियों ने हमारे पर्वतों का गुणगान इस प्रकार किया है—

विस्तारोच्छ्रयिणो रम्या विपुलश्चित्रसानवः।

और हमारी नदियों का—

विश्वस्य मातरः सर्वाः पापहराः स्मृताः ।

ऐसे भारतीय के लिए जो अपने पूर्वकाल को नहीं भूला है, चाहे वह गांधार से कामरूप तक या काश्मीर से कन्याकुमारी तक कहीं भी भ्रमण करे, अपने इतिहास की वीरगाथाओं के अतिरिक्त और कुछ सुनने, प्रेरणायुक्त कलाकृतियों को देखने, शक्तिवर्धक और जागृत कर देने वाली परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता ।

किन्तु भारत को आश्चर्यजनक स्थान प्रदान करने वाली सब वस्तुओं में अग्रणी वास्तव में हिमालय पर्वत है जो कि उसके मस्तक पर हीरक-जटित मुकुट के समान चमचमाता है । कवि-कल्पना के अनुसार पृथ्वी के मानदण्ड के रूप में अथवा गगन को अवलम्ब देने वाले सुदृढ़ स्तम्भ के समान रूप और आकृति की ऐसी उत्कृष्टता से सम्पन्न हैं जो पर्वत-मालाओं पर उसकी प्रभुता को घोषित करता है । केवल दर्शकों को ही नहीं वल्कि स्मरण करने वालों को भी आश्चर्य और प्रशंसा से प्रेरित करता है और आनन्दोन्मत्त कर देता है । वहाँ देवाधिदेव के श्वसुर, निश्कलंक, अजेय, सुषमा-निधान गौरी के पिता विराजमान हैं । कौन उनका सम्मान नहीं करता ? कालिदास आदि कवियों के द्वारा इस दैवी पर्वत के वर्णन को सुनकर कौन व्यक्ति स्वयं गौरवान्वित नहीं होता—

यज्ञांगयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्री धरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागः शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ।।

कुमारसम्भव से उद्धृत यह श्लोक श्रुतियों के इस कथन की ओर इंगित करता है ।

हिमवतो हस्ती यज्ञभागः ।

अर्थात् ब्रह्मा ने हिमवान को अपना सोम के समान यज्ञ के कुछ अपरिहार्य अंगों के स्रोत होने की मान्यता देने के लिए हाथी के रूप में प्रदान किया । नीलकंठ दीक्षित अपनी कविता 'गंगावतार' में कहते हैं—

यदीयनीहारकणा नितस्ततः किरन् मृगाङ्कः प्रथते सुधाकरः ।
यदीयगण्डोमल एव कश्चन प्रयाति कैलास इति स्थिरं यशः ।।

अर्थात चन्द्र को अपनी उपाधि 'सुधाकर' (अलौकिक अमृत का उत्पादक) इन पर्वतों के हिमकणों को यत्र-तत्र विकीर्ण करके प्राप्त होती है और

जिसका हम कैलास के रूप में स्तवन करते हैं, वह इस पर्वत की एक शिला ही है। जब हिमालय को 'देवतात्मा' अथवा 'पशुभृत्' के रूप में वर्णित किया जाता है तब वे व्यक्ति जो इस वर्णन को रूपकात्मक दृष्टान्त या अतिशयोक्ति समझते हैं, समझा करें। फिर भी एक बात निश्चित है—जब भारत की उत्तरोत्तर सीमा को स्रष्टा के शिल्प-कौशल की पराकाष्ठा समझा जाता है उसमें दो मत नहीं हो सकते। किन्तु क्या केरलवासी इस गौरव-किरीट के सम्बन्ध में, जो भारत को सुशोभित करता है, कुछ भी जानते हैं? हम अपनी सन्तान का लालन-पालन उन्हें कुछ अपभ्रष्ट शब्दों—जैसे एवरेस्ट, किंचिनचंगा की पुनरावृत्ति करके करते हैं। मुझे ऐसा स्मरण होता है कि कहीं पढ़ा था कि इंगलैंड में भी ऐसे अज्ञानी हैं जो तावीज़ (Talisman) को कवि और एच. जी. वैल्स (H. G. Wells) को किसी स्थान का नाम समझते हैं। यदि इंगलैंड के समान भौतिक विकास से सम्पन्न देशों में ऐसा है तो हम अपने देश से क्या आशा कर सकते हैं। भारत के कितने राजाओं ने हिमालय तक की यात्रा की है। केवल जनक के समान मैसूर-नरेश श्री कृष्णराज वडेयार को कैलास और मानसरोवर के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यदि केरल भारत के दक्षिण सिरे पर समुद्र और पर्वतों से घिरा हुआ एक छोटा सा प्रदेश है तो उस से क्या? एक हज़ार वर्ष पूर्व से भी अधिक एक अनाथ नम्बूतिरि बालक ने केवल अपनी तीव्र प्रज्ञा के आधार पर सम्पूर्ण ज्ञान पर अधिकार किया, अपने समस्त प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और ब्रह्मसूत्र इत्यादि पर विस्तृत भाष्य लिखे। वेदान्त को पुनर्जीवित किया और अजेय शक्ति और दिग्दिगन्त तक फैली हुई ख्याति के साथ स्वयं को काश्मीर के शारदा-मन्दिर के सर्वव्यापी सिंहासन पर आरूढ़ किया। श्री नारायण ने अपने को बदरी में एक नम्बूतिरि ब्राह्मण के रूप में वहाँ उच्च पुरोहित नियुक्त किया। समय समय पर अति मानवीय शक्तियों का प्रदर्शन किया और अपने ३२ वें वर्ष में ब्रह्म में विलीन हो गये। क्या यह सचमुच आश्चर्यजनक जीवन-घटना नहीं है जो कि किसी भी व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट कर सके? क्या केरल के बच्चों में एक भी ऐसा होगा जो, कि बदरी के मन्दिर और ज्योतिर्मठ, जिसकी स्थापना स्वयं शंकर ने उस स्थान में की है, के दर्शन करने की अभिलाषा नहीं रखता? किन्तु हम लोगों में कितने ऐसे हैं जो अपनी इच्छा कार्यान्वित कर पाते हैं? हिमालय तक की यात्रा सचमुच कोई बच्चों का खेल नहीं है। केरल से बहुत कम ही लोग इतनी लम्बी और

कष्टप्रद यात्रा-हेतु अग्रसर होते हैं; और उससे भी कम लोगों को अपनी जन्म-भूमि का स्मरण अपनी घोर यात्रा के समाप्त होने के उपरांत रहता है। यदि कुछ लोगों को स्मरण रहे भी तो ऐसे व्यक्ति—जिनमें अनिवार्य महत्त्वकाँक्षा की एकनिष्ठता और साहित्यिक प्रतिभा इतनी है कि इस प्रकार से संचित ज्ञान को अपने कम सौभाग्यशाली भाइयों के हित के लिए लेखबद्ध कर सकें—वास्तव में इने-गिने होंगे। शायद कोई एक हो, अथवा कोई भी न हो। यह सत्य है कि पाश्चात्य लेखकों ने हमें अँग्रेजी भाषा में हिमालय का वर्णन प्रदान किया है, किन्तु सामान्यतः उनके पर्यवेक्षण एवं विचार छिछले हैं और उनके निजी उद्देश्यों तक ही सीमित हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचना की पहुँच उन सब लोगों तक नहीं है जो उनकी भाषा से अनभिज्ञ हैं। सौभाग्यवश इस अनिच्छित वस्तुस्थिति में अभिनन्दननीय परिवर्तन हुआ है।

जिस पुस्तक को आज मैं केरलवासियों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ—वह है 'हिमगिरि-विहार'। इस पुस्तक का प्रथम भाग १९४१ ई० में प्रकाशित हुआ था। वे महान् सन्यासी जिन्होंने यह पुस्तक लिखी है अब विश्व में श्री तपोवनम स्वामी के रूप में विख्यात हैं। उनका नाम चिप्पु कुट्टि नायर था। उनका जन्म पालघाट के निकट मुडप्पालर में पुत्तन वीड्डु नामक एक प्राचीन और संभ्रान्त नायर परिवार में हुआ था। 'हिमगिरि-विहार' के तीनों भागों में हिमालय के अनेक धर्मधामों एवं तीर्थ-स्थानों का वर्णन किया गया है। बीच बीच में बहुत से शहरों, गाँवों, मन्दिरों, आश्रमों, नदियों, झीलों, पहाड़ियों, गुफाओं, जंगलों आदि का वर्णन है। इनके अतिरिक्त हिमालय के रमणीय मनोमोहक दृश्यों की झलकियाँ उस क्षेत्र की प्राकृतिक सम्पत्ति और सबसे बढ़कर यहाँ के निवासियों, उनकी वेशभूषा, उनकी भाषा, उनका धर्म, उनके रीति-रिवाज उनके तौर-तरीके और उनके दैनिक जीवन की परिचर्या—इन सबका वर्णन सन्तुलित और सही ढंग से किया गया है।

'विहारस्तु परिक्रमः' यह अमरसिंह का कथन है। 'विहारो भ्रमणे' मेदिनीकार कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग पुस्तक में पैदल-यात्रा के लिए विद्वत्तापूर्ण बारीकी के साथ प्रयुक्त किया गया है। 'हिमगिरि-विहार' में स्वामी जी विश्व के समक्ष हिमालय की पद-यात्रा में अर्जित अगाध ज्ञान-राशि उपस्थित करते हैं। किंतु इसे यात्रा-वर्णन मात्र की संज्ञा देना अनुचित है।

अपने पाठकों को यात्रा-वर्णन के योग्य रोचक तथ्यों को प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य कदाचित् नहीं था। स्पष्टतया उनके कई अन्य उद्देश्य हैं। कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिमालय का प्रत्येक स्थान पवित्र है, अनुपम सौंदर्य का कोष है। पर्वत का कोना-कोना अपना विस्मयकारी इतिहास रखता है। हमारे महर्षियों ने यहीं रहकर असम्प्रज्ञात समाधि में पदार्पण किया, ब्रह्मानुभूति की ओर पूर्णता के उच्चतम शिखर तक उठे। अब हमारे एक महर्षि ने उस पवित्र भूमि का कोना-कोना छान डाला है। इसके अन्तरतम के रहस्यों को समझा है। उनका जो संग्रह, विश्लेषण और अंकन किया है, वह सब हमें इस क्षेत्र के बारे में जानना चाहिए। यह स्वाभाविक ही है कि हमारे हृदयों को जाग्रत आत्माभिमान से प्रकाशित होना चाहिए, हमें आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार से पवित्र हो जाना चाहिए और अन्तिम सत्य पर विचार-विमर्श करने योग्य हो जाना चाहिए। स्वामीजी हमारे मस्तिष्क को प्राकृतिक सौन्दर्य के विवरण द्वारा आकृष्ट करते हैं। वे इसे हिमालय की बर्फ के समान ही पवित्र अंकित करते हैं और हमें अनूठे अध्यात्मिक उपदेश प्रदान करते हैं। उन्हें प्राचीन भारत की रीतियों में सुदृढ़ विश्वास है। साथ ही वे आधुनिक मान्यताओं के बारे में आशंकित नहीं है। यदि इन परिस्थितियों में पुराण-पंथी और आधुनिक लोग हिमगिरि-विहार को रोचक पाते हैं तो यह स्वाभाविक ही है।

स्वामी जी यात्रा-वृत्तों के साथ-साथ हमें उपनिषदों, विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों, पुराणों तथा साथ ही साथ क्षेत्रीय परम्पराओं का अगाध ज्ञान इहलोक और परलोक लाभ के लिए प्रदान करते हैं। लेखक का भाषा-नैपुण्य पुस्तक के आकर्षण में चार चाँद लगा देता है। वे जटिल से जटिल विचारों को सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने की सरस, सुबोध और ओजपूर्ण शैली पर अधिकार रखते हैं। प्रत्येक वस्तु जिसे उनकी चमत्कारपूर्ण तूलिका का स्पर्श प्राप्त हुआ है शाश्वत बन गयी है और पाठकों के मस्तिष्क पर अक्षुण्ण छाप छोड़ जाती है। उनकी पुस्तक के प्रत्येक अवतरण में हम इस कथन को सार्थक पाते हैं कि सौन्दर्य सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है। जब हम पुस्तक का अध्ययन समाप्त करते हैं, मस्तिष्क में केवल तीन बातें बच रहती हैं—एक विषाद, एक सुख और एक प्रार्थना। विषाद यह कि हम परम पावन हिमालय की निकटवर्ती हरी-भरी घास या प्रस्तर-खण्ड के रूप में उत्पन्न नहीं हुए। सुख यह कि किसी दुरुह यात्रा की कठिनाइयों और थकान का अनुभव किये बिना ही तथा बिना एक भी पैसा खर्च किए हम उस सम्पूर्ण क्षेत्र में विचरण

कर सके हैं। प्रार्थना यह कि स्वामी जी का यह ग्रन्थ तथा उनके अन्य ग्रन्थ भी उनके यश की अभिवृद्धि करते रहें। स्वामी जी ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना द्वारा हमें अपार आभार का ऋणी बना दिया है। ऐसी ही पुस्तकें पठनीय होती हैं। वे हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाती हैं। वे नास्तिक को आस्तिक, आस्तिक को अन्तर्निरीक्षक और अन्तर्निरीक्षक को मोक्षाभिलाषी बनाती हैं।

उल्लूर

तिरुवनन्तपुरम्

[महाकवि, साहित्यभूषण, राव साहब
उल्लूर एस० परमेश्वर ऐय्यर
एम. ए., बी. एल.,
एम. आर. ए. एस. आदि।]

प्रागनुनय

[हिन्दी-रूपान्तर की ओर से]

पूज्य स्वामी तपोवनम जी के ग्रन्थ 'हिमगिरि-विहार' के हिन्दी-रूपान्तर को हिन्दी-जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं अति हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। मूलतः यह ग्रन्थ मलयाळम भाषा में लिखा गया था। फिर इसका अंग्रेजी में रूपान्तर हुआ। आज तक इस रूपान्तर के पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह हिन्दी-रूपान्तर मलयाळम भाषा में लिखित मूल ग्रन्थ से ही तैयार किया गया है।

१६ जनवरी १९५७ ई० (बुधवार) को प्रातः पाँच बजे अपने शिष्य ब्रह्मचारी सुन्दरानन्द जी के हाथों से गंगाजल से निर्मित तीन चम्मच काफ़ी पीकर 'अब मैं आराम करता हूँ' कह कर शरीर छोड़नेवाले स्वामी तपोवनम के बारे में मैंने अपनी बाल्यावस्था में ही बहुत कुछ सुन रखा था। अतः जब मुझे उनके इस ग्रन्थ का रूपान्तर करने का अवसर मिला तो मैं अति उल्लसित हो गया।

भक्ति-भावना से ओत-प्रोत मेरा अन्तस्तल भक्ति एवं दर्शन-सम्बन्धी ग्रंथों के रसास्वादन में अतिशय आनन्द की अनुभूति करता रहा है। 'रामचरितमानस' और 'श्रीमद्भगवद्गीता' तो मैं बचपन से ही अपने वात्सल्य-मूर्ति पिता पं० प्रभुदयाल चतुर्वेदी एवं ममता-मूर्ति माता श्रीमती जानकी जी के कलित कंठ से सुनता रहा हूँ। हम पाँचों भाई और दोनों बहिनें जब कभी-कभी एक साथ नहा-धोकर उच्च स्वर में इन्हें पढ़ने लगते थे, तो कुछ समय के लिए मेरा घर 'आनन्द-संगीतशाला' का रूप धारण कर लेता था। अपने माता-पिता की शीतल छाया से अलग होकर भी मेरी भक्ति-लता ज्यों की त्यों लहलाती रही, क्योंकि मुझे १२ वर्ष की अवस्था में ही 'हनुमान चालीसा', 'शिव चालीसा', सतपंच चौपाई' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'रामचरितमानस' के अधिकांश स्थल कंठस्थ हो गये थे, जिन्हें मैं अब भी समयाभाव के कारण रास्ते चलते गुनगुनाता रहता हूँ। यही कारण है कि भक्तिभाव-भरित ऐसे ग्रन्थ का अनुवाद-कार्य मेरी रुचि के सर्वथा अनुकूल ही रहा है।

देववाणी संस्कृत में एम० ए० कर लेने के पश्चात् भी मेरी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हुई। अपने पूज्य चाचा श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी

द्वारा दक्षिण के भक्ति-सम्बन्धी तथा अन्य सुन्दर साहित्यिक अमूल्य ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में करने का निर्देश मिला। इसलिए मैंने अपने एम. ए. (हिन्दी) में दक्षिण की अत्यधिक समृद्ध एवं मनोहारी भाषा मलयाळम को अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया। एम. ए. (हिन्दी) पास करने के पश्चात् मुझे स्वामी शंकराचार्य जैसे दिग्विजयी आचार्य की जन्मभूमि कालटी (केरल) जैसे सुरम्य प्रदेश को देखने की लालसा हुई। वहाँ पहुँचने के पश्चात् केरल की इस कलित-कामिनी के रमणीय वक्षःस्थल एवं परम पुनीत गोद में मेरा यह रसिक मन अपने को भूल-सा गया। इसी बीच मलयाळम के कई सुन्दर ग्रंथों का रूपान्तरण भी मैंने किया है, जिन में, 'ओटयिल् निन्नु', 'कन्यका', 'वेलुत्तम्पी दलवा', 'बाल्यकाल सखी', 'सुधा', 'प्रतिध्वनि', 'परीक्षा', भारत-पर्यटनम्', राम मौत से खेला', 'अंधा गायक', ग्राम-बालिका', 'वे फिर मिले', 'संध्या' आदि प्रमुख हैं।

इस अनुवाद-धारा में आनन्दपूर्वक गोता लगाते हुए मुझे 'आनन्द-अनुवाद-सिन्धु' की ओर खींच लिया—हमारेअभिन्न हृदय बन्धुवर डॉ० के. भास्कर नायर एवं श्री पी. के केशव नायर ने, जिनके सुनिर्देशन का अनुसरण कर बन्धुवर श्री टी. एन. केशव पिल्ला ने एक शुभ प्रभात में अपनी अरुणिम स्मिति के साथ मेरे कालेज के होस्टेल में (जिस का मैं इस समय 'वार्डन' हूँ) दर्शन दिये और तीन घंटे तक मैंने उनसे दर्शन की भाषा में ही बातें कीं, जिसकी उन्हें कभी स्वप्न में भी आशा न थी। अतः उस गम्भीर वार्तालाप का प्रभाव उन पर पड़ा और उन्होंने मुझे यह ग्रंथ अनुवादार्थ दे दिया। इसको मैं पहले भी एक बार पढ़ चुका था।

लगभग दो महीने तक रात-दिन तन-मन से मैं इस ग्रंथ के अनुवाद में लगा रहा और परम पिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा से यह कार्य सम्पूर्ण भी हो गया। इसी बीच में मुझे बन्धुवर श्री पिल्ला का पत्र मिला कि स्वामी तपोवनम जी महाराज के शिष्य-प्रवर स्वामी महादेववनम उत्तरकाशी से पधार रहे हैं, और वे मेरे आश्रम (भावना-कक्ष) में आकर मुझ से कुछ वार्तालाप करना चाहते हैं। (उनके द्वारा पत्र में होस्टल के मेरे कमरे के लिए 'आश्रम' शब्द का प्रयोग किया गया था। कारण पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि उस दिन के वार्त्तालाप से इस कमरे का मेरे ऊपर आश्रम जैसा प्रभाव पड़ा था।)

अस्तु! एक दिन प्रातःकाल मुझे युगल-मूर्ति के दर्शन हुए, जिनमें एक पूर्व-वर्णित मान्य महोदय थे और दूसरे पूज्य स्वामी महादेववनम जी। उनकी ओजस्वी सरल मूर्ति का प्रभाव मुझ पर पड़ा। बाहर से कुछ खाने-पीने के

आदी न होने पर भी मेरे स्नेह-रस-रूपी चाय का उन्होंने स्वागत किया। फिर हम तीनों रामकृष्णाश्रम गये, वहीं पर स्वामी ईश्वरानन्दजी और स्वामी मृडानन्द जी आदि के अनुरोध से हम लोगों ने भोजन किया। उन्होंने मुझे स्वामी विवेकानन्द-सम्बन्धी सभी ग्रंथ भेंट किये, क्योंकि मैं उस समय स्वामी विवेकानन्द पर एक 'बाल-उपन्यास' तैयार कर रहा था। आश्रम की शीतल छाया में बैठ कर हम लोगों ने इस ग्रंथ की प्रकाशन-सम्बन्धी चर्चा भी की।

× × ×

स्वामी तपोवनम जी अपने 'हिमगिरि-विहार' द्वारा यही सन्देश देते हैं कि हिमालय प्रदेश में ही नहीं, सारे संसार के कण-कण में उसी परम प्रभु की झलक दीख पड़ती है, जिस पर ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति एवं संहार आधृत है। इसीलिए हमारे कवि-पुंगव तुलसीदास जी ने कहा—

सियाराममय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

मानव भी उस प्रकृति से भिन्न नहीं है, यह भी उसका ही एक अवयव है। इस में भी उसी ब्रह्म का चैतन्य वर्तमान है। तुलसीदास जी के ही शब्दों में—

ईश्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥

परन्तु जितना ही वह इस संसार के सुख-भोगों में डूबा रहता है और उनके लिए पाशविक वृत्ति को अपनाता जाता है, उतना ही उसका ईश्वरीय चैतन्य कलंकित होता जाता है। इसके विपरीत जितना ही वह क्षणिक भोगों से अलग रहता है और उस ब्रह्म का दिन-रात चिन्तन करता रहता है, उतना ही उनके अन्तर का चैतन्य निखर उठता है और वह ब्रह्म को जानने पर ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्मविद् 'ब्रह्मैव भवति।'

× × ×

प्रस्तुत ग्रंथ श्रद्धेय स्वामी महादेववम, डॉ० के. भास्कर नायर, श्री पी. के. केशवनायर और श्री टी. एन. केशवपिल्ला की अक्षुण्ण प्रेरणा के फलस्वरूप इस रूप में प्रकाश में आ सका है, अतः उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना, मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। साथ ही मैं

गयी है। अतः मेरा विश्वास है कि एक समय आएगा जब इन भू-भागों का अध्ययन करने वाले इतिहास-लेखकों को यह ग्रन्थ भी एक अमूल्य सन्दर्भ का काम देगा।

मलयाळम भाषा से हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत करके रूपान्तरकार ने श्रद्धेय स्वामी तपोवनम जी महाराज के प्रति अपनी जो श्रद्धा और कृतज्ञता अभिव्यक्त की है उससे हिन्दी-जनता को एक अमूल्य निधि उपहार-स्वरूप स्वतः मिल गयी है। हिन्दी भाषा में हिन्दीतर भाषाओं से अनुवादित ऐसे ग्रन्थ भारत की भावात्मक एकता में निःसन्देह सहयोग प्रदान करेंगे।

—सत्यदेव चौधरी

एफ. ११/१२ माडल टाउन,
दिल्ली-९

हेमगिरि-विहार

विषय-सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

तीसरा भाग

पहला भाग

१. हृषीकेश

: १ :

ईश्वर ही सत्य है और सत्य ही ईश्वर। सत्य वस्तु की शरण में सत्य जीवन बितानेवाले कई वर्णों के लोग, कई आश्रमों के लोग, विशेषकर कई सम्प्रदायों के अनगिनत साधु लोग जिस मनोहारी स्थान में, जिस एकांत-गंभीर वनांतर में, जिस पावनतम भागीरथी के किनारे, तपस्या-वृत्ति में निवास करते आ रहे हैं, वही स्थान है हृषीकेश।

सुप्रसिद्ध हरिद्वार से हिमालय के जंगलों से होकर उत्तर की दिशा में १४ मील यात्रा करें तो पुण्यक्षेत्र हृषीकेश पहुँच जाते हैं। चारों ओर हरियाली में फैली हुई विशाल और घनी वनराजि का, खास कर पूरब और उत्तर की दिशा में व्याप्त मणिकूट आदि पहाड़ियों का, तथा गहरी नीलिमा में नितान्त निर्मलता के साथ बहती हुई विशाल पुण्य-सलिला भागीरथी का, अलौकिक सुषमा-पुंज इस वनभूमि को अतीव रमणीय तथा आकर्षक बना देता है। रैभ्य नामक महर्षि अपने हृषीकों को, अर्थात् इन्द्रियों को वशीभूत करके यहाँ तपस्या करते थे, अतः यह स्थान हृषीकेश कहलाता है। 'स्थल पुराण' कहता है कि एक बार विष्णु भगवान् ने आम की शाखा पर बैठे हुए रैभ्य को दर्शन दिये और भगवान् के भार से आम्र शाखा कुब्जा (कुबड़ी) हो गयी, अर्थात् झुक गयी। तभी से इस जगह का नाम 'कुब्जाम्रक' पड़ गया। अस्तु!

इस सुरम्य, शान्त और सघन वनराशि को देखते ही यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि यह पुण्यक्षेत्र पुरातन काल में महर्षियों का अति प्रिय तपःस्थान रहा होगा। सप्तर्षियों से लेकर कई मुनि-पुंगव तथा श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि अनेक राजाधिराज इन्हीं स्थानों पर तप करते थे। कहा जाता है कि पुरातनकाल के ऋषिगण ही नहीं, मध्यकाल के भगवान् शंकर, पूज्यपाद रामानुज आदि आचार्य भी इस श्रेष्ठ तपोवन में आकर शांति-लाभ करते थे। ऋषियों की वही पुण्यभूमि अब तक विरागी साधु-महात्माओं की विहार-भूमि बनी चली आ रही है।

कुछ वर्ष पहले तक दुर्गमता एवं अन्न-विरलता के कारण फल-मूलों पर जीवन बितानेवाले इने-गिने महान् तितिक्षु महात्मा लोग ही यहाँ स्थिर रूप से निवास कर सकते थे। लेकिन इन्हीं महात्माओं की परिचर्या में लीन श्रद्धालु भक्तजनों की उदारता से धीरे-धीरे ये सब कठिनाइयाँ दूर होने लगीं, और ये स्थान सुखयात्रा तथा सुखवास के योग्य बनते गये। इधर अब तो काल-चक्र की तीव्र गति के द्वारा अनेक आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गये हैं। हृषीकेश जो कभी सिंह, व्याघ्र, गज आदि के गर्जन से गूंज उठता था, अब मोटर-गाड़ी आदि वाहनों के शब्द से निरन्तर भरा रहता है। जिस हृषीकेश को तितक्षु-जन ही बहुत बड़ी कठिनाइयों को झेलकर प्राप्त कर सकते थे, वह आज सब लोगों के लिए सुलभ हो गया है। कभी यह स्थान बिच्छू, सांप आदि के डर से तथा मलेरिया के प्रकोप के कारण वर्ष में चार महीनें जन-शून्य हो जाता था, किन्तु आज वर्ष भर समान रूप से जन-निबिड रहता है। किन्तु इस सुख-सुविधा का एक अनभीष्ट परिणाम यह भी हुआ है कि एकांत में भजन की इच्छा रखनेवाले लोगों को बाधा अवश्य पहुँचती है। काल-देवता के प्रताप को रोकने का सामर्थ्य भला किसमें है?

किंतु काल-परिवर्तन के द्वारा कितनी ही काया-पलट क्यों न हो गई हो, हृषीकेश अब भी पहले की तरह एक ऋषि-भूमि के रूप में विराजमान है। यहाँ के अधिकांश निवासी शान्त और सन्तोषी स्वभाव के हैं, और इनमें से अनेक वेदान्त-विद्या में निष्णात भी हैं। ये लोग विचार-सागर, वृत्तिप्रभाकर आदि वेदान्त-विषयक ग्रंथों को पढ़ते रहते हैं। यहाँ की अशिक्षित औरतों में भी ब्रह्म-विद्या के प्रमाण, प्रमेय, अविच्छेदक, अविच्छिन्न इत्यादि शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या करने की सामर्थ्य है। यह उनकी सत्संगति, कथा-श्रवण में जागरूकता तथा सुसंस्कृति का प्रमाण है, जिस पर हमें आश्चर्य होता है। किन्तु इसके विपरीत दक्षिण भारत के बड़े-बड़े संस्कृतज्ञ भी "जीवन का लक्षण क्या है? मोक्ष का स्वरूप क्या है?" आदि प्रश्नों के उत्तर देने में कठिनाई का अनुभव करेंगे। यह उनका अपराध नहीं है। दक्षिण में वैदान्तिक संस्कृति के लिए सुविधाएँ बहुत कम हैं। अच्छा, यह बात जाने दो, हृषीकेश में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी ऐसे दीख रहे हैं मानों "शिवोऽहं, शिवोऽहं" की भावना रखते हों, तथा शम, दम, मैत्री, करुणा आदि दैवी गुणों से मंडित हो गये हों। गायें, बंदर आदि पशु, अबाबील, वर्तक, चंडूल आदि छोटे पक्षी, और चूहे, गिलहरी, नेवले आदि छोटे जीव यहाँ महात्माओं के पास आकर खाना खाने में

तनिक भी भयभीत नहीं होते। यह साधु जब हृषीकेश में रहा करता था तब पर्णशाला में भिक्षान्न खाते समय गिलहरी तथा अनेक पक्षी समीप आ जाया करते थे और ज़बरदस्ती रोटी आदि ले जाकर खाया करते थे। यदि गंगा-किनारे भोजन होता था तो बड़ी-बड़ी मछलियाँ सहभोजी बन जाती थीं। बंदर न केवल हाथ से खाना लेकर खाते ही थे, बल्कि यदि उन्हें नहीं दिया जाता था तो खाने की चीज़ें बलपूर्वक छीनकर खा जाते थे। गायों का मनुष्यों के प्रति प्रेम तथा उनकी शांति देखकर आश्चर्य होता है। जो जानवर मनुष्यों को देखकर भाग जाते हैं, उन्हें इन के प्रति इतना प्रेम और अविकार कैसे मिला? प्रेम से प्रेम पैदा होता है और द्वेष से द्वेष। वस्तुतः इन्हीं महात्माओं की शांति-महिमा ही यहाँ के सब जीव-जन्तुओं की शांति-प्रियता तथा स्वभाव-मधुरिमा का कारण बन गयी है। यहाँ सबको आत्मवत् समझकर अहिंसा-तत्त्व का बड़ी सावधानी से पालन किया जाता है। शुद्ध अहिंसा के सामने क्रूरता करुणा बन जाती है, भीती मैत्री बन जाती है और चपलता शांति।

हृषीकेश में दीर्घकाल से पुण्यात्मा तपस्वी जनों के लिए सुख-सुविधाएँ प्राप्य रही हैं। यहाँ पतित-पावनी भागीरथी बहती है। भागीरथी के दोनों ओर—उत्तर और पूर्व की ओर—फैले हुए वनांतर-भाग एकांत-प्रेमी, समाविस्थ तत्त्ववेत्ताओं के लिए आनन्द की वर्षा करनेवाले हैं। जो प्रबुद्ध लोग निर्विषय रूप से शान्ति-सुख की अनुभूति की इच्छा करते हैं, उनके लिए ऐसे एकांत प्रदेश अमरावती के समान हैं। यही कारण है कि आत्माराम बनकर, आत्म-क्रीड़ा में लगे हुए, उपरत-वृत्ति सिद्ध लोग हृषीकेश की शरण लेते हैं।

इन साधकों के लिए हृषीकेश का निवास पुण्यपरिपाक से प्राप्त एक महान् अनुग्रह है। जो सत्यवस्तु को अपरोक्ष रूप में देखकर तृप्त होने के जिज्ञासु हैं, उनका मुख्य कर्तव्य श्रवण, मनन आदि का निरन्तर अनुष्ठान है। यह तथ्य है कि श्रवण आदि का अभ्यास विजन-देश में ही हो सकता है। यह एकान्त-मनोहर हृषीकेश वन हमारे मन के विकारों को दूर करता है तथा सहज ही चित्त को प्रसन्नता और आनन्द प्रदान करता है। जिस प्रकार घर में बैठकर, पढ़ने की अपेक्षा विद्यालय में जाकर पढ़ना परिपक्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए अधिक हितकर है, उसी प्रकार कोई कितना ही बुद्धिमान् व्यक्ति क्यों न हो, अकेले ब्रह्म-विचार करने की अपेक्षा ब्रह्मविदों तथा ब्रह्माभ्यासियों के बीच बैठकर ब्रह्म-विचार करना ज्ञान को शंकाहीन करके परिपक्व बनाने में अधिक सहायक सिद्ध होता है। सत्य तो यह है कि मुमुक्षुओं के ब्रह्माभ्यास के लिए

भारत में सबसे महान् विश्वविद्यालय हृषीकेश है।

इसके अतिरिक्त, यह स्थान भागीरथी की उपासना के लिए भी कितना उपयुक्त है। भागीरथी में एकान्त स्नान करने तथा भागीरथी-तट पर बैठकर एकान्त भजन करने की जितनी सुविधा इस पुण्यक्षेत्र में है, वह यहाँ से नीचे गंगा-तट के दूसरे मंदिरों में अलभ्य है। ब्रह्म-चिंतकों के लिए गंगा-सेवन कितना श्रेयस्कर है। चित्त-शुद्धि ब्रह्मज्ञान का मुख्य आधार है और चित्त-शुद्धि के उपायों में मुख्य उपाय निःसन्देह गंगा-स्नान है। यह ज्ञानेच्छुओं के प्रति आदरणीय है। श्रद्धापूर्वक गंगा-जल में स्नान करना, गंगा-जल को पी लेना, गंगाजी की पूजा करना, गंगाजी का भजन करना, "हे मातृगंगे! हे भागीरथी! 'हे जगज्जननी! हे जटा-शंकरी!" आदि शब्दों में, गद्गद् स्वर में, गंगा का नाम-संकीर्तन करना—ऐसे पुण्य शब्दों के द्वारा भागीरथी की निष्काम उपासना से चित्त-शुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस युग में दूसरा कोई उपाय मिल ही नहीं सकता।

: २ :

श्रुति इस प्रकार कहती है:—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

"इसकी बुद्धि में जो काम स्थित हैं, वे सब जिस समय समूल नष्ट हो जाते हैं, उस समय मर्त्य अमर बन जाता है। इसी शरीर में वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।"

बौद्ध धर्म-ग्रन्थ 'धम्मपद' भी यही उपदेश देता है—"चाहे नग्नभाव हो, चाहे जटाभार; चाहे स्नानादि से हीन शारीरिक मलिनता हो, चाहे, उपवास; चाहे भूमि-शयन हो, चाहे भस्मादि का विलेपन; और चाहे निश्चेष्ट एकासन-स्थिति हो, किन्तु जो मनुष्य अभिलाषाओं को नहीं जीतता, उसे कोई पवित्र नहीं बना सकता।"

काम-विजय ही कैवल्य रूपी परम पुरुषार्थ है। काम-विजय में ही मनुष्य के कर्तव्यों की परिसमाप्ति है। काम-विजय ही परम शांति और परम-सुख है। अणिमादि सिद्धियों से महत्तर सिद्धि भी यही काम-विजय है। निर्भीक,

स्वतंत्र तथा आनंदमय जीवन के लिए एकमात्र उपाय इच्छाओं पर विजय ही है। जिसमें कोई इच्छा नहीं रह गयी है, उसके सामने कोई बाधा नहीं आती। इच्छाहीन व्यक्ति को कोई दुःख या क्लेश नहीं सताता। जो इच्छाओं से मुक्त है वह साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप है। वह सर्वाधिपति है। इहलोक में सम्राट् तथा परलोक में ब्रह्मादि ऐसे व्यक्ति के सेवक बन जाते हैं। परन्तु इच्छाओं को जीतना आसान नहीं है। सामान्य-जन के लिए इच्छा-पिशाचिका के हमले से बच सकना असंभव है। जिस प्रकार एकादशी-व्रत रखनेवाला व्यक्ति व्रतभंग के डर से भोजन नहीं करता, तो भी उसका मन भोजन में आसक्त रहता है, उसी प्रकार विषयों को बलपूर्वक त्यागकर जो काम-विजय करता है तो भी उसका मन विषयों में आसक्त रहता है। जब तक सदा और सर्वत्र आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक मन कामनाओं से छुटकारा नहीं पा सकता। जो व्यक्ति आत्म-बोध के अतिरिक्त दूसरे उपायों से काम-विजय की कोशिश करता है, वह मानो कमलनाल से मत्त मातंग को बाँधना चाहता है। "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"—आत्मज्ञान के समान महा दिव्य और महा महिमामय और कोई पदार्थ इस संसार में है ही नहीं। सभी झंझटों का बीज कामान्धकार है। उसे दूर करके करोड़ों सूर्य की प्रभा के साथ स्वयंप्रकाशमय बनकर चमकनेवाले हे आत्मज्ञान! तू ही धन्य है। तू सर्वदा हमारे हृदयों में सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान रह!

सन् १९२० की बात है। एक ब्रह्मचारी के रूप में मैं हृषीकेश में आकर कुछ दिनों तक रहा था। उस समय ऐसे कई बूढ़े महात्माओं को मैंने प्रणाम किया था और उन से मिलकर बातें की थीं। वे आत्मबोध रूपी तलवार से काम-वैरी को जीतकर, सदा अपने स्वरूप में रम रहे थे। वे न्याय, वेदांत आदि शास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित थे, और परम वैराग्य का जीवन व्यतीत कर रहे थे। आज उन में से अनेक काल-धर्म को प्राप्त हो चुके हैं। इनकी निवास-भूमि 'झाड़ी' कहलाती थी, जो कि चारों ओर गंगा से घिरी, तथा निबिड़, वनों से भरी होती थी। मानो वह एक छोटा-सा एकांत द्वीप हो। हृषीकेश की यह झाड़ी जो महात्माओं की विहार-भूमि तथा मनोहारी प्रकृति की विलास-भूमि है, सारे उत्तर भारत में मशहूर है। किंतु गंगाप्रवाह के कारण यह स्थान आज शून्यप्राय हो गया है। आज धीरे-धीरे ऐसे महात्माओं की संख्या हृषीकेश में कम हो रही है, जो कामादि दोषों को भस्मसात् कर निवृत्ति-निरत होगये हैं, तो भी कुछ समय पहले तक ऐसे महात्माओं की यहां कोई कमी न थी।

ऐसे महापुरुषों के केवल दर्शन ही अनेकानेक धार्मिक ग्रंथों और उनकी व्याख्याओं से बढ़कर आत्मोत्कर्ष प्रदान करते हैं। हृषीकेश के उन महात्माजी की कहानी तो सुविदित है जो बाघ के मुँह में दबाकर ले जाने पर "शिवोऽहं, शिवोऽहं" का मंत्र जपते रहे। यदि यही एक घटना सुननेवाले के हृदय में असीम साहस और विवेक पैदा कर देती है तो यह कहने की जरूरत ही क्या है कि उस विज्ञान-निधि और शांति-स्वरूप दिव्य शरीर के दर्शन से हमारे हृदय में कितने उत्कृष्ट भाव पैदा होंगे।

इन्हीं महात्माओं में एक श्री विशुद्धानंद स्वामीजी थे। यह वैराग्य, त्याग आदि गुणों से मंडित थे, ब्रह्म-विद्या में निष्णात थे और काम-विजेता थे। यही महात्मा 'बाबा काली कमलीवाला' के नाम से मशहूर थे। वे केवल एक काला कंबल पहनते थे। केवल भिक्षा-वृत्ति से जीवन बिताते थे। वे महान् विरक्त तपस्वी थे। वह द्रव्यों का परिग्रह या संग्रह नहीं करते थे। उनका रहन-सहन धर्मानुसार और निष्कलंक था। किन्तु इतने उत्कृष्ट गुणों से संपन्न होने पर भी उनकी ख्याति नहीं थी। विद्वानों का यह कथन कि यश के योग्य व्यक्तियों को प्रायः यशोदेवी नहीं अपनाती, कितना ठीक है। इस तरह वे अज्ञात रूप में जीवन बिताते रहे। किन्तु प्रारब्ध की विचित्र गति ही कहिए, आगे चलकर लक्ष्मी उनकी सेवा करने लगी। यह लक्ष्मी की विलक्षणता ही है कि जो उससे प्रेम नहीं करता, वह उसके प्रेम में लग जाती है। लक्ष्मी उनकी चिरदासी हो गयी। अनेक धनाढ्य लोग उनके नौकर-चाकर हो गये। स्वामीजी के मन में यह संकल्प हो आया था कि हृषीकेश में अन्न-वस्त्रादि के बिना कष्ट झेलनेवाले साधु-महात्माओं को जरूरत की चीजें देकर उनकी सेवा करनी चाहिए। इसलिए वे द्रव्य-स्वामी बन बैठे। किंतु इस संपत्ति की दशा में भी एषणा या भोग की इच्छा उन्हें छू तक नहीं गयी थी। वे भिक्षु थे और हमेशा भिक्षुक की तरह ही जीवन बिताते थे। विराग की मूर्त्ति बनकर विराजमान 'बाबा काली कमलीवाला' के समान और कोई दृष्टांत विरला ही मिलेगा। यदि कोई साधु प्रारब्ध के वशीभूत होकर द्रव्य का अधिपति बन बैठे तो उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह उन्हीं से सीखना चाहिए। हृषीकेश तथा हिमालय के कई अन्य स्थानों पर साधुओं की सेवा-शुश्रूषा तथा इसी प्रकार के दूसरे धार्मिक कर्मों का जो प्रबन्ध उन्होंने किया था वह कितना विस्मयकारी है! हृषीकेश तथा केदारखंड के नाम से ज्ञात हिमालय की यह पुण्यभूमि जब तक भागीरथी और अलकनन्दा रूपी देव-नर्तकियों से परिपूत

रहेगी तब तक उनका धन्य नाम आदर के साथ प्रकीर्तित रहेगा।

अहोभाग्य ! इस प्रकार 'काली कमली वाला' आदि कई आधुनिक यतीन्द्रों के, तथा अत्रि, अंगिरस आदि कई पौराणिक महर्षियों के पाद-पांसुओं से परिपावन हृषीकेश में मैं कई बार आकर रहा और ब्रह्म-विद्या में रमकर आनंदानुभूति करता रहा। ऐसा मेरा विचार है कि यह मेरी सुकृत-राशि का ही रमणीय तथा मधुर फल है। भागीरथी-तट के एकान्त उटज में ब्रह्म-विचार तथा ब्रह्म-शास्त्र में निमग्न होकर संसार को भूलकर दिन को क्षण के समान बितानेवाले हृषीकेश के ऋषि-जीवन के विषय में यही कहना पर्याप्त है कि वह अत्यंत वांछनीय है।

यह हमें स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर-तत्त्व-चिंतन में रुचि रखने वाले बहुत कम व्यक्ति ही ऐसे ईश्वरीय जीवन के अधिकारी होते हैं। ऐसे व्यक्ति विवेकपूर्वक समझ लेते हैं कि यह संसार कदली-कांड के समान असार है, विष-मिले मिष्ठान्न के समान त्याज्य है तथा मृग-तृष्णा के समान अवास्तविक है। यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध है कि सब लोग सभी वस्तुओं के अधिकारी हों। भौतिकवादी व्यक्ति सदा यही प्रलाप करते हैं कि लौकिक व्यवहार ही सब कुछ है। इससे रहित जीवन व्यर्थ है। तत्त्वचिंतन अक्रियाशीलता है। विषयोपभोग से रहित जीवन पाषाण-दशा है। तपस्या करना मूर्खता है। एकान्तवास कारागृह है और आत्मानुभूति बौद्धिक विभ्रांति है। ऐसे भौतिकवादी हृषीकेश जैसे सुरम्य स्थलों में विचरने के अधिकारी नहीं हैं। किंतु यदि ईश्वर की कृपा हो तो कुछ काल के बाद, अर्थात् कुछ जन्मों के बाद, वे भी विषयों के दृष्ट-नष्ट भाव को जान लेंगे और विचारमार्ग के पथिक बन जाएंगे। सृष्टि के आरंभ से ही ऐसे लोग सदा विद्यमान रहे हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। पंडितों के लिए यह अज्ञात नहीं है कि सुरगुरु की परंपरा में ऐसा एक वर्ग पहले ही दुनियाँ में विद्यमान था जो ईश्वर और आत्मा का निषेध करके देहात्मवाद का नारा लगाता था। इन चार्वाकों के वर्ग में आज के भौतिकवादी भी आते हैं। किन्तु इससे हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए। वस्तुतः विपक्षी जन परोक्ष रूप से हमारे सदा सहायक ही होते हैं। उन्हीं के कारण हमारे विचारों में दृढ़ता आती है। इन नास्तिक जनों की सृष्टि भगवान् ने इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए ही की है।

: ३ :

हृषीकेश-गंगा के इस पार और उस पार अति रमणीय वन है, जिसमें दधि के समान श्वेत पुष्प-गुच्छों में सुशोभित आटलोटक के पौधे हैं, हरे-भरे सैंकड़ों फलों से विभूषित बिल्व वृक्ष हैं, बीजों को उदारता के साथ गिरानेवाले पुराने वेणुवृन्द हैं, पल्लव, फूल और फलों से लदे कई तरह के वृक्ष तथा वल्लियां हैं। हाथी, सुअर, भालू और चीते आदि इस पार और उस पार विहार करते हैं। उस पार तो कहीं और भी अधिक हैं। मयूरों की ऊँची आवाज़ रह-रहकर वनांतरों को मुखरित करती है। वे मदोन्मत्त होकर अपने पंख फैलाकर आनंद-तांडव करते हैं। जो रक्तमुख और कृष्णमुख वानर किलकारियाँ भरते इधर-उधर दौड़ते-भागते हैं, वे मोरों की नृत्य-कुशलता देख अपनी सारी चपलता छोड़ थोड़ी देर के लिए शान्तिपूर्वक बैठ जाते हैं। कभी-कभी तो यह साधु भी मोरों के नृत्य-महोत्सव में शामिल हो जाता है और इसका मनमयूर नाच उठता है। सच तो यह है कि परमात्मा के प्रेम में अपने को भूले हुए महर्षि-पुंगव ही मयूर रूप में नृत्य करते हैं और भक्ति में उन्मत्त ऋषि-जन ही वानर रूप में आनन्दोल्लास मनाते हैं। हिमालय की महिमा में और ऋषियों की विभूति में श्रद्धालु कोई भी पुरुष इस कथन में सहज विश्वास कर सकता है। यद्यपि जंगली कुक्कुट मोरों के सजातीय है। पर मोरों की मोहक सुन्दरता, नृत्य और आमोद को अपनी आँखों के सामने देखकर भी उनके हृदय में ज़रा भी ईर्ष्या या मत्सर पैदा नहीं होता। बल्कि वे तो अपनी कूक के द्वारा उन का अभिनन्दन करते हैं और अपनी स्त्री-जाति के साथ आनन्द से चारों ओर घूम-फिरकर चुगते-चुगते विहार करते हैं। उनका यह सात्त्विक स्वभाव कितना प्रशंसनीय है। जो लोग दूसरों की उन्नति में असहिष्णु बन जाते हैं, विद्वेष के कारण अशांत-हृदय रहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे इन वन-कुक्कुटों को अपना गुरु बनाएँ और उनसे ईर्ष्या न करने की शिक्षा लें। हिरण उछल-कूद मचा रहे हैं। वे बार-बार यात्रियों के सामने से बिना हिचक के गुजर जाते हैं। यह वन कई प्रकार के विचित्र जीव-जंतुओं से सुशोभित है। ईश्वर ने इसे अपने हाथों से सींचा है। हिमालय के ये बग़ीचे प्रकृति-निरीक्षक तथा मननशील व्यक्तियों के लिए अत्यन्त हृदयहारी हैं। एकांत-सुन्दर वनान्तरों का यह स्वभाव है कि वह भक्तों में अधिक भक्ति, ध्यानशीलों में अधिक ध्यान, भीरुओं में अधिक भय और कामियों में अधिक काम पैदा करते हैं। इसलिए भक्त तथा निदिध्यासन के इच्छुक लोगों के हृदय में ऐसे रमणीय वन भक्ति तथा समाधि के अंकुर को

बढ़ाने में अधिक सहायक होते हैं। लेकिन यहाँ यह संकेत करना आवश्यक है कि आदमियों के हमले से हृषीकेश की वन-शोभा धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है, और यदि इस प्रकार आगे भी ऐसी स्थिति रही तो जल्दी ही यहाँ के सब वन जनपद बन जाएँगे।

सन् १९२० में मैं एक सत्यान्वेषी की हैसियत से उत्तरप्रदेशों में भ्रमण करने गया और वहाँ के कई प्रसिद्ध महात्माओं के दर्शन करने के बाद हृषीकेश तथा हिमालय के दूसरे स्थानों का मुझे विशेष रूप से अनुभव हुआ। इस बार मैं सत्य-निर्णय का जिज्ञासु होकर, महापुरुषों में श्रद्धालु बनकर एक विनीत-प्रकृति नायर युवक के रूप में हृषीकेश में प्रविष्ट हुआ था। किंतु दूसरी बार सन् १९२३ में मैं सत्यवस्तु में निःशंक होने पर भी सत्यनिष्ठा में अचंचल अभिलाषा रखनेवाले, ध्यान-भजन में लीन एक मलयाली साधु के रूप में हृषीकेश पहुँचा था। वहाँ मैं साधु-संतों की संगति, ब्रह्म-चिंतन और उसके अनुरूप शास्त्र-चिंतन तथा गंगा-सेवन में ही अपना समय आनन्दपूर्वक बिताता रहा।

यहाँ विभिन्न संप्रदायों तथा जातियों के साधु-महात्माओं के दर्शन मिल जाते थे। इसलिए भारत के भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक मत-भेदों को जान लेने और उनके गुण-दोषों पर उनके साथ चर्चा करने का अवसर आसानी से मिल जाता था। यद्यपि हमारे पुरातन ग्रंथों के अनुसार ब्राह्मण-जाति ही सन्यास की अधिकारी है, तो भी उत्तर प्रदेश में ऐसा भी एक संप्रदाय है जिसमें मेहतर और तेली भी गेरुआ कपड़ा पहने सन्यासी बनकर परमात्मा का भजन करते हैं। यह तो सब को ज्ञात है कि गोरे लोग भी हिन्दू-धर्म में श्रद्धा रखकर गेरुए कपड़े पहनकर साधुओं का जीवन बिता रहे हैं। काल के बदलने के साथ राजनैतिक बातों के समान धार्मिक कृत्यों में भी स्वतंत्र आदर्श, परिवर्तन और कई रीतियाँ जन्म लेती हैं। स्वतंत्र-चिन्तन तथा धार्मिक नियमों में सुधार वस्तुतः संकुचित बुद्धि के लोगों को जरा भी पसन्द नहीं आता। फिर भी, उदारचेत्ता मानव उसका सानन्द स्वागत किये बिना नहीं रहते।

दक्षिण के लोगों के लिए हृषीकेश का निवास ही परम तपस्या है। वहाँ अति शीतल गंगाजल में स्नान करना, इसी जल से दूसरे काम करना, वहाँ रहते हुए अपरिचित अनाज खाना और कड़ी सर्दी व गर्मी सहना वस्तुतः एक महान् तपस्या है। परन्तु परमात्मा के चिन्तन में शारीरिक कष्टों को सहना सिर्फ़ बाहरी तपस्या है। आत्म-साक्षात्कार का सच्चा साधन आंतरिक तपस्या है। इसलिए हमें यह तत्त्व कभी नहीं भूलना है कि सच्ची आंतरिक तपस्या में

ही मन लगाकर एक मुमुक्षु को काम करना चाहिए। आत्म-स्वरूप का विवेचन ही आंतरिक तपस्या है। जो इस महान् आंतरिक तपस्या का अनुष्ठान नहीं करते, वे हृषीकेश में नहीं, कैलास में ही जाकर रहें, तो भी निर्वाण के विषय में, अर्थात् मानसिक शांति को प्राप्त कर अपने जन्म को चरितार्थ करने में, वे कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। इसके बदले जो इस आंतरिक तपस्या का तत्परता के साथ अनुष्ठान करते हैं, वे चाहे स्वदेश में रहें, अपने घर में रहें, नगर के बीच रहें या व्यवहार के बीच—चाहे जहाँ भी रहें, वे धीरे-धीरे उस महत्तम शांति-पद में पहुँचकर निर्वृत्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

हृषीकेश का शीतकाल बहुत ही सुन्दर, हृदयहारी तथा शांतिदायक है। इस कारण कई साधु-महात्मा देश-देशांतरों से भी शीतकाल में यहाँ पहुँच जाते हैं और भजन में लीन होकर शांतिमय जीवन व्यतीत करते हैं। साधु लोग राजा-महाराजाओं के समान स्वेच्छाचारी होते हैं। यदि राजा की दौलत उसे मनमानी करने की शक्ति प्रदान करती है तो साधु को उनका अकिंचन भाव ही इसके लिए समर्थ बना देता है। एक राजा की बड़ी-चढ़ी संपत्ति से बढ़कर एक साधु का अपरिग्रह तथा अविचारित लाभ का संतोष ही उन्हें देशाटन करने में मदद देता है। आज भी जबकि राग-बहुलता तथा भोग-लम्पटता का बोलबाला है, हिमालय प्रदेशों में ऐसे अनेक साधु-परिव्राजिक मिल जाएंगे जो धन को हाथ से छुए बिना कल के खाने की चिंता किये बिना, केवल परमेश्वर-परायण बनकर बड़ी तितिक्षा तथा अविचारित लाभ की प्रसन्नता के साथ जीवन बिताते हुए निश्शंक भाव से घूमते रहते हैं। कई सौ रुपये खर्च करके, अनेक सामग्रियाँ इकट्ठी करके, कुछ भारतीय और यूरोपीय यात्री कभी-कभी तिब्बत की यात्रा करते हैं। मगर एक साधु तो हाथ से पैसा छुए बिना, नंगे पैर, निरातंक होकर आनन्दपूर्वक तिब्बत का सफ़र करके, कई दिनों तक वहाँ रह-कर लौट आता है। एक अमीर का आर्थिक बल एक साधु की आत्मशक्ति की अपेक्षा कितना निःसार होता है? एक राजा अपनी आर्थिक शक्ति से जिन महान् कार्यों की सिद्धि नहीं कर सकता, उनकी सिद्धि एक साधु अपनी आत्म-शक्ति से कर लेता है। आत्मशक्ति और उससे पैदा होनेवाले पूर्ण विराग, पूर्ण संतोष, पूर्ण तितिक्षा आदि गुण एक साधु की अमूल्य निधि हैं। यह निधि उसके जीवन को सब रूप से समर्थ तथा आनन्दमय बना देती है। इस आत्मबल से संपन्न परिव्रजनशील कई महात्मा लोग हिमालय के ऊँचे प्रदेशों से तथा पंजाब आदि निम्न प्रदेशों से शीतकाल में हृषीकेश में आकर एकत्रित होते हैं।

यह साधु भी अधिकतर शीतकाल में हिमालय के ऊँचे प्रदेशों से उतर-कर, हृषीकेश-महिमा का उपभोग करने में आनन्द लेता है। हृषीकेश में पहुँच जाने पर वहाँ मलयाली साधुओं की संगति में बैठकर अपनी मातृभूमि तथा मातृभाषा की स्मृति आना स्वाभाविक है। याद आ जाने पर मैं मातृभूमि की उन्नति की दिल खोलकर प्रार्थना किया करता हूँ। "नाति मातरमाश्रमः", माता से बढ़कर और कोई आश्रम नहीं है। वस्तुतः यह ऋषियों का सिद्धांत है कि सन्यासी होने पर माता और मातृभूमि को नहीं भूलना चाहिए।

हिमालय प्रदेशों में पवित्रतर वदरिकाश्रम, गंगोत्री, जम्नोत्री आदि पुण्यधामों की ओर तीर्थयात्रा करनेवाले पुण्यवान् हृषीकेश से ही अपनी यात्रा शुरू करते हैं। हृषीकेश से गंगानदी को पार करके हिमालय के रमणीय शाखा-पर्वतों के अन्दर घुस जाते हैं। मन को लुभानेवाली वनराजि से आच्छादित पहाड़ों की तराइयों में, दिव्य सुषमा से संपन्न भागीरथी के किनारे से होकर ऊपर की ओर चलनेवाला एक यात्री—हिमालय तथा भागीरथी के प्रभाव तथा उनकी महिमा में श्रद्धा रखनेवाला एक यात्री—इस रजो-जटिल संसार को विलकुल भूल जाता है। उसका मन एक अलौकिक सत्त्वभूमि की ओर उठ रहा होता है। वह महान् शांति तथा सुख की अनुभूति करता है। प्रकृति की रम-णीयता उसके मन की रजस्तमोवृत्तियों को दूर कर देती है। यद्यपि हिमालय के कई दूसरे दुर्गम प्रदेशों की तरह इस मार्ग में किसी यात्री को भयानक वन तथा अत्युन्नत शिलाओं को पार नहीं करना पड़ता, तो भी किसी प्रकृति-निरीक्षक यात्री की कुतूहलता को बढ़ाकर उसे आनन्द देनेवाली रमणीय वस्तुओं की यहाँ भी कमी नहीं है। पहाड़ों की घाटियों में स्वच्छंद बहनेवाली गंगा और अलकनंदा की शोभा ही निराली होती है। यहाँ छोटे-मोटे पहाड़ों की कतारें तथा विशाल वन अति हृदयाकर्षक हैं। यह ठीक है कि सुषमाकर हिमालय सब कहीं हिमालय ही है। किसी भी भाग में हिमालय के स्वरूप तथा गंभीरता में कमी नहीं दीख पड़ती। लेकिन यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि हिमालय के स्वरूप तथा गंभीरता की प्रशंसा जो मैं यहाँ कर रहा हूँ और आगे भी कई प्रसंगों में करूँगा, वह अपनी दृष्टि में जैसा दिखाई पड़ता है, उसी के अनुसार है। यदि दूसरी कुछ आँखें शायद हिमालय को देख उसे केवल पत्थर, मिट्टी, जल-धाराओं तथा पेड़-पौधों का एक समाहार-मात्र समझें और हिमालय प्रदेशों को नीरस, निर्जन, निर्जीव तथा सूखे प्रदेश जान लें तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। आँखों की भिन्नता से दृष्टिकोणों की भिन्नता

होना नितान्त स्वाभाविक है।

हृषीकेश में सात आठ मील पूरब की ओर पहाड़ की चोटी पर नीलकंठ नामक एक पुण्यभूमि है। यह हाथियों की विहार-भूमि है, उन्मत्त मयूरों के केकारव से मुखरित है। यहाँ के श्यामल रंग के विल्व वृक्षों, घने वनांतरों से होकर नीलकंठ की ओर का मार्ग किसी का भी मन बहलाये बिना नहीं रहता। नीलकंठ की ही तरह हृषीकेश के पास और भी कई दर्शनीय स्थान हैं। तात्पर्य यह कि वे विरक्त महात्माओं तथा प्रकृति-निरीक्षकों के लिए देखने योग्य हैं। निर्विषय तथा निर्जन वनों में साधारण जनता का मन नहीं रम सकता।

हृषीकेश से तीन मील पूर्वोत्तर की ओर स्थित 'लक्ष्मण झूला' भी एक तीर्थस्थान माना जाता है। वहाँ से कुछ दूर की ब्रह्मपुरी में भी कुछ लोग यात्रा करते हैं। वस्तुतः भक्तजन ही अपने श्रद्धाभरे नेत्रों से ऐसे स्थानों की महिमा देख पाते हैं। जिनके नेत्रों में श्रद्धा नहीं है, उनके लिए गंगा, हृषीकेश, हरिद्वार, बदरिकाश्रम, काशी, रामेश्वर, आदि पुण्यधाम बिलकुल निरर्थक हैं। उनके सामने इनकी महत्ता प्रकाशित नहीं होती। इसका कारण है कि इन्द्रियों के लिए अव्यक्त परोक्ष विषय श्रद्धाहीन नास्तिकों की बुद्धि में नहीं आया करते। जो महामति लोग किसी में श्रद्धा किये बिना केवल अपनी इन्द्रियों को मुख्य मानते हैं, उनके लिए तो न कोई तीर्थ है और न तीर्थयात्रा है, न कोई पुण्य है और न पाप; न परलोक है और न परमेश्वर ही।

●○

गंभीर वालखिल्य पर्वत में कई अनोखी गुफ़ाएँ दिखायी पड़ती हैं, जहाँ वाल-खिल्य आदि अनेक ऋषि-पुंगव तपस्या में लीन रहा करते थे। श्रद्धालु बूढ़े महात्माओं का कहना है कि हिमालय के सभी प्रदेशों में आज भी ऐश्वर्यशाली महर्षि लोग गुप्त रूप में रहा करते हैं और घूमा करते हैं तथा पुराण-ग्रन्थों का कहना है कि कलियुग में मनुष्य-रूप की अपेक्षा वे पक्षी और वृक्षों के रूप में अधिक विहार किया करते हैं। वालखिल्य पर्वत के पास ही एक गंभीर वन के अन्दर नचिकेता का निवास-स्थान भी दिखायी पड़ता है। यहाँ 'नचिकेता तालाब' नामक एक सरोवर नचिकेता के नाम पर प्रसिद्ध है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि श्रुति-प्रसिद्ध नचिकेता की निवासभूमि यही प्रदेश है।

श्रद्धा और वैराग्य की मूर्त्ति नचिकेता का विस्मयकारी चरित्र तो प्रसिद्ध है जो मृत्यु-लोक में जाकर मृत्यु भगवान् से ब्रह्मविद्या सीखकर कृतकृत्य होगये थे। उनकी अनन्य ज्ञानमहिमा तथा वैराग्य आदि सात्त्विक गुण वेद-पुराणों में एक स्वर से गाये गये हैं। जब पुण्यात्मा नचिकेता के केवल नाम-संकीर्तन से ही कोई देश पवित्र हो सकता है, तो साक्षात् उनके पाद-पद्म-परागों से तीर्थ बने इन हिमालय प्रदेशों की पवि-त्रता का क्या कहना? ऐसा एक मोहनकाल, अर्थात् एक सुवर्ण युग, प्राचीन भारत का था, जबकि जितेन्द्रिय, फल-मूलों पर जीवन बितानेवाले ऋषीश्वर हिमालय के एकांत वनांतरों में रहते हुए बाहरी दुनियाँ को भूलकर तत्त्वचिंतन में डूबे रहते थे। आध्यात्मिक दृष्टि से इस जमाने को तो उस काल की अपेक्षा बिलकुल फीका, एक पाषाण-युग या पाषण्ड-युग ही मानना पड़ता है। जब तक अतीन्द्रिय, आध्यात्मिक तत्त्वों की अनुभूति साक्षात् नहीं होती, तब तक उन ऋषियों का मन तृप्त नहीं होता था। आध्यात्मिक तत्त्वों को वे श्रुतियों द्वारा या गुरुजनों द्वारा जानकर सन्तुष्ट नहीं होते थे, बल्कि उनके साक्षात् दर्शन के लिए वे लालायित और प्रयासशील रहते थे। उन्हीं के परिश्रम से भारत आध्यात्मिक-भूमि के नाम से सारे संसार में प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, वे अनगिनत ग्रन्थ भी जिनमें तत्त्व-शास्त्रों का अमूल्य निरूपण है, उनके अनुभव-प्रधान चिंतन का ही सुपरिणाम है।

इस प्रकार विषयी जीवन को तृणवत् छोड़कर मन को अंतर्मुखी बना कर आन्तरिक तत्त्वों का अनुशीलन करनेवाले ऋषिपुंगवों का वह अतिपावन सत्ययुग आज भारतवर्ष से बिलकुल ग़ायब हो गया है। आगे भी कभी भारत-माता को ऐसे ही पुत्रों को जन्म देने का सौभाग्य मिलेगा या नहीं, यह सर्वज्ञ परमेश्वर ही जान सकते हैं। आज ज्यों-ज्यों जीवन में विषय-बहुलता बढ़ती

जाती है, त्यों-त्यों मन बहिर्मुखी होकर बाहरी दुनिया में ही घूमता-फिरता है। वह अन्तर्लोक में विहार करके आंतरिक तत्त्वों को खोजने में रुचि नहीं रखता। बहिर्मुखी कर्मों में व्यस्त होकर जो बाहरी दुनिया में घूमते रहते हैं उनको सिर्फ़ बाहरी वस्तुओं का ही ज्ञान होता है, आंतरिक तत्त्वों की अनुभूति नहीं होती। अन्दर के आत्म-तत्त्वों को देख लेना हो तो एकांत स्थान में शांतिपूर्वक बैठकर अन्तर्मुखी चिंतन करने की आवश्यकता है। रजोवृत्ति में लीन आज के लोगों के लिए तो किसी को देखे बिना और किसी से संबंध किये बिना एकांत स्थान में एकाकी हो कर थोड़े दिनों तक जीवन बिताना भी असंभव हो जाता है। शांति, वैराग्य आदि सात्त्विक धर्मों की आज कोई महिमा नहीं मानी जाती। उनका ज़माना बीत गया है। राग, द्वेष, लोभ, दम्भ अहंकार तथा इन्द्रियों को कभी विश्राम न देनेवाले मोहक रजोगुणों का ही यह युग है; अर्थात् रजोवृत्ति को छोड़ सात्त्विक कर्मों का आदर और प्रशंसा करनेवाले लोग आज बहुत कम हैं।

यदि आत्मीय उन्नति ही प्राचीनकाल के लोगों का लक्ष्य था तो भौतिक समृद्धि ही नवीनकाल के लोगों का लक्ष्य है। वे आत्मा के अनुसंधान में जितना कठिन परिश्रम करते थे, उतना ही ये भौतिक अन्वेषण में करते हैं। उस समय के ऋषियों के पवित्र तपोमय जीवन और इस समय के लोगों के अपवित्र भोगमय जीवन, उनकी आत्मनिष्ठा और इनकी भौतिक निष्ठा आदि पर विचार करके देखें तो इसमें आश्चर्य नहीं है कि ये दोनों काल उत्तर-दक्षिण ध्रुवों की भाँति असमान दिखायी देते हैं। किन्तु क्या करें, यह सोचकर शांति पाये बिना और कोई चारा नहीं है कि भलाई-बुराई, उन्नति-अवनति और सम्पत्ति-विपत्ति सब स्थिरभाव से नहीं रहते, बल्कि चक्र-नेमि-क्रम से परिवर्तित होते रहते हैं। फिर भी, ऋषि-पुंगवों की निवास-भूमि हिमालय के एकांत रमणीय स्थानों में घूमते समय भारतवर्ष की इस कायापलट को याद करके दुःखी हुए और गहरी साँस लिये बिना रहने का साहस इस साधु के मन में नहीं होता था। ऐसा मेरा विचार भी नहीं होता कि मातृभूमि से प्रेम करनेवाले किसी भी विचारशील भारतीय में ऐसा साहस हो सकता है।

विशेष-बुद्धि को बंधन-मुक्त करने में नहीं, बंधन को और भी मजबूत करने के काम में लाते हैं। उन्हें यह अधिकार नहीं है कि वे अपने को विशेष बुद्धि से संपन्न समझें और उसके द्वारा अपने को अन्य जीवों से महान् मानें। अधिकाधिक बंधन और दुःख ही विशेष बुद्धि का परिणाम है। तो फिर, ऐसी विशेष बुद्धि से वह कौन-सी महत्ता मनुष्य को मिल जाती है जो दूसरे प्राणियों में नहीं होती, इसमें ज़रा भी शंका नहीं है कि शरीर में आत्मबुद्धि की स्थापना करके उसमें बद्ध तथा आसक्त होकर, अधिकाधिक विषयों का उपार्जन करके भोग करने में उतावले मनुष्यों की विशेष बुद्धि ही उनके लिए अधिक बंधन और अधिक दुःख का कारण बनती है। लेकिन यदि किसी का यह तर्क है कि विशेष बुद्धि से युक्त मनुष्य दूसरे जीवों की अपेक्षा ऐहिक जीवन को अधिक सुखपूर्वक बिता सकता है तो उनको चाहिए कि वे 'शोपनहोर' नामक एक महान् चिन्तक की इस बात पर ग़ौर से विचार करें। वे यों कहते हैं :—

"जानवर आदि जंतुओं को वर्तमान काल को छोड़ भूत-भविष्य की कोई चिंता या डर नहीं लगता। इसलिए वर्तमान में जो कुछ मिल जाता है, वे उसे व्यग्रता छोड़कर शांति से भोग लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इस बात में जानवर मनुष्यों से भी पक्वबुद्धि है। यह लज्जा के साथ मानना पड़ता है कि प्रकृति के कारण उन्हें जो मानसिक शांति मिल जाती है वह अक्सर नाना प्रकार की चिंताओं और भीतियों से सुख-चैन खोकर व्यग्र रहने वाले हम मानवों को नहीं मिलती।"

वे ही, और कहीं, मनुष्यों की इच्छाशक्ति का विवरण इस प्रकार देते है :—

"यह कहना कठिन है कि मनुष्य कितना असंतृप्त जीव है। एक विषय के लाभ में उसे कोई तृप्ति मिल जाती है तो उस तृप्ति में मन विराम नहीं पाता, वरन् कई नई इच्छाएँ फिर से उठ खड़ी होती हैं—उलटे उसकी इच्छाओं का कोई अंत नहीं दीखता।"

यही दशा उन मनुष्यों की है जो अपने में विशेष बुद्धि से संपन्न तथा विद्या-विचक्षण होने का अभिमान रखते हैं। यदि मनुष्य बुद्धि के कारण किसी विशेष सुख का अनुभव करते हैं तो मानसिक दुःखों का विचार करने पर वह निस्सार सिद्ध होता है। किंतु इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि महा-सुकृत-फल के रूप में शास्त्र जिसकी घोषणा करते हैं वह मानव-शरीर

पहाड़ की चोटी पर—वे समान रूप से आदर पाते हैं। सन्यासी विष्णुस्वरूप है। पंडाल की तरह फैलकर नीचे लटकी काली घटाएँ तथा तोरणों की भाँति पहाड़ों की बग़ल में नीचे लटका इन्द्रधनुष इस साधु को अत्यंत आनंद देता था। हिमगिरि के हृदय में विराजमान उत्तरकाशी की एकान्त रमणीयता और नितान्त पवित्रता ने मेरे अंतरतम को बहुत ही आवर्जित कर दिया था। इस प्रकार साधु और भक्तरूप में हिमालय के द्वारा प्रेमपूर्वक स्वागत किये जाने पर, मैं यद्यपि उस बार अधिक समय तक वहाँ नहीं रहा, तो भी बाद में कई बार वहाँ जाकर अधिक दिनों तक ब्रह्मविचार में लीन ईश्वरीय जीवन बिताता रहा।[1] चित्त को सत्त्वगुणी बनाये सदा ईश्वर के ध्यान और उसके शास्त्र-विचार में निमग्न होकर अनन्य-चित्तता के साथ एक आनंदमय जीवन बिताने में इतनी अनुकूल तपो-भूमियाँ तुहिन-गिरि में सुलभ होती हैं। हिमगिरि का शिखर ! भागीरथी का तट ! विश्वनाथपुरी ! महात्मा महर्षि-पुंगवों की विहारभूमि ! बड़ा ही रमणीय निर्जन वन-प्रदेश ! इनसे बढ़कर तत्त्वनिष्ठा के साथ एक सन्यासी-जीवन बिताने में भला और कौन-सी अनुकूलता अपेक्षित है ?

विश्वेश्वर मंदिर से लगभग दो मील उत्तर की ओर जाने एक पर वहाँ विशाल तथा सुन्दर धान का खेत दिखायी पड़ता है। वहाँ से कुछ और ऊपर की ओर जाने पर काशी क्षेत्र की उत्तरी सीमा 'असी' नामक एक छोटी नदी तथा भागीरथी का संगम है। वहाँ से उत्तरी दिशा में वल्ली-गुल्मादियों से निविड़, वृक्षराजियों से विराजित एवं निर्झराम्बु-निषिक्त कमनीय वनों से अलंकृत पर्वतों की तराइयाँ भी प्राप्त होती हैं। जब-जब मैं उत्तरकाशी में रहा, वहाँ के खेत और असी-किनारे का रमणीय वन चित्त-समाधि के साधन बन जाते थे। उन स्थानों पर बैठकर मैं चिंतन-सरणी में बहते हुए अलौकिक शांति का अनुभव किया करता था। चूँकि उत्तरकाशी में गंगातट की निम्न भूमि भी लगभग पाँच हज़ार फुट की ऊँचाई पर है, इसलिए हिमालय के निम्न स्थानों के समान गर्मी में प्रचंड ताप या वर्षा में मलेरिया आदि का अनर्थ यहाँ नहीं होता।

---

१. इन लेखों के लिखने के बाद सन् १९३५ में उत्तर काशी में कुछ प्रेमी जनों के उत्साह से इस शरीर के लिए निवास-कुटी बनायी गयी, और सन् १९३६ से यह साधु अधिकतर वहीं रहा करता था। किंतु प्रतिवर्ष ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण और भाद्रपद महीनों में गंगोत्री में तथा किसी वर्ष माघ और फाल्गुन महीनों में हृषीकेश में जाकर रहा करता था।

वर्षा में पहाड़ की तराइयों से नीचे की ओर उतरकर बहुत ही निकट चलने-वाले काले बादलों के समूह प्रतिदिन बरसते हुए मन को उन्मेष से भर देते हैं। यहाँ के जाड़े के बारे में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला है। बरसात के शुरू होने पर हिमपात के कारण धवल बन जानेवाली पर्वत-श्रेणियाँ तथा शीत की अधिकता से मनुष्यों का आवागमन ही नहीं, पक्षियों की आवाज़ को भी रोकनेवाली गम्भीर प्रशांति कितना आनन्द व आश्चर्य पैदा कर देती हैं।

वारणावत पर्वत की चढ़ाई को बड़ा पुण्य मानकर पुराणों ने प्रशंसा की है कि उस पर एक कदम आगे बढ़ने से एक यज्ञ करने का फल मिल जाता है। 'वाराहट' नामक तराई के ग्राम से लगभग चार मील ऊपर की ओर चढ़ जाने पर हम वारणावत-गिरि के ऊँचे शिखर पर पहुँच जाते हैं। सौम्य काशी क्षेत्र के अन्तर्गत श्रीविश्वनाथ के मंदिर की स्थिति से अनुगृहीत एक सुन्दर ग्राम है 'वाराहट'। कठिन होने पर भी कभी-कभी तराई से ऊँची-चढ़ाई के उस गिरिशिखर की ओर चढ़ जाना मेरे लिए एक स्फूर्तिदायक तथा विनोदमय तपस्या-कर्म था। एक या डेढ़ घंटे तक पर्वतारोहण करने में कुछ कष्ट तो होता है, फिर भी गिरिकूट में पहुँच जाने पर कितने ही पवित्र तथा सुन्दर दर्शन प्राप्त होते हैं। गिरिशिखर से हिमगिरि की मंजुल और मनोहारी प्राकृतिक सुषमा को देखकर हम आनंदपूर्ण हो उठते हैं। दक्षिण में हिन्दुस्तान के मैदान तक विशालता में फैली हुई हरी-भरी पर्वत-पंक्तियाँ, उत्तर में शिलामय शैलराजियाँ तथा उसके ऊपर धवल हिम-कूट-राशियाँ, बहुत ही शोभाभरी और हृदयाकर्षक दिखायी देती हैं। वहाँ हमें हिमालय का घन-गंभीर-भाव भी दृष्टिगोचर होता है। नीचे नितान्त नीलिमा में जाह्नवी सर्पाकार निःशब्द शान्त भाव से बहती जा रही है। संक्षेप में सिर्फ़ इतना ही कह देता हूँ कि वारणगिरि के आरोहणरूपी तपस्या के अनुष्ठान में परमेश्वर-प्रसाद के अदृष्टफल के अतिरिक्त प्रकृति-सुषमा का पीयूष इच्छानुसार पीकर आनन्दोन्मत्त होने का इष्ट फल यहीं प्राप्त होता है। उत्तरकाशी में पहली बार रहते हुए वहाँ के गोपालाश्रम के निवासी और 'गुरुवायूरप्पन'[1] तथा रमण महर्षि के भक्त एक केरलीय सन्यासिवर्य से प्रेरणा पाकर मैंने 'श्रीगुरुपवनपुराधीशपंचकम्' नामक जो रचना वहाँ की थी, उसे यहाँ प्रस्तुत कर इस अध्याय-खण्ड का

---

१. 'गुरुपवनपुराधीश' मलयालम में 'गुरुवायूरप्पन' कहलाते हैं।

उपसंहार कर रहा हूँ—

१. गोपीगोकुलमालपत्सुमुरली सप्तस्वरैर्हर्षयन्,
गोपीमंडलमध्यगः स्मितमुखो माधुर्यवीजाङ्कुरः ।
गोपालश्चिकुरोल्लसच्छिखिशिखण्डाऽखण्डदीप्तिश्चिरम् ,
गोपालाश्रमविश्रमी विजयतां विश्वैकमुग्धाकृतिः ॥

२. काशी कुञ्जवती परञ्च भवतो भूपद्विपो भूरियं,
यत्रास्ते खलु शंकरस्तव पदाम्भोजैकभक्तः स्वयम् ।
त्वत्पादाम्बुजसंभवा पुलिनवत्येषा हि सा जाह्नवी,
वृन्दायामिव राधिकेश ! रमतामत्रैव गोपीयुतः ॥

३. शुद्धं बुद्धमबुद्धिगम्यमचलं यद्वस्तु वेदान्तिनाम्,
तत्त्वं कृष्ण ! किशोरविग्रह ! विभो तत्त्वं न किञ्चित् परम् ।
राधावल्लभ ! रामराष्ट्रविलसद्धतेशमूर्तिर्भवा—
न्नेहेऽन्यं पुरुषार्थमात्मनि सदा संक्रीडमानोऽस्त्वलम् ॥

४. विभ्राणोऽनरुणं शरीरमरुणे स्थित्वापि तं भासयम्,
लोकानां गुरुरप्यगौरवतरैः क्रीडंश्च बालक्रमैः ।
सच्च त्यच्च हि यस्य रूपमपि च प्रच्छेदि दुश्चेतसाम्,
शीलः श्रीरमणः श्रीतामरतरुः कृष्णस्स पुष्णातु नः ॥

५. भट्टश्रीरथ बिल्वमंगलयतिः प्रख्यातभक्ताग्रगो,
रूपं यस्य विलोक्य नेत्रजनुषोः साफल्यमासेदतुः ।
तद् रूपं तव दिव्यदिव्यमनिलाधीश ! प्रभो ! कृष्ण ! मे,
साक्षाद्दृक्पथं गमिष्यति कदा चित्तं च वर्धिष्यते ॥

: ३ :

हृषीकेश से मैं ज्यादातर उत्तरकाशी के लिए प्रस्थान किया करता था। हृषीकेश से सौम्यकाशी की ओर के उस अनिर्वच्य और अधिक रमणीय हिमालय मार्ग को देखकर यदि पाठक खुश होना चाहते हैं तो लीजिए, उधर की ओर प्रस्थान करके मेरे पीछे-पीछे चलते आइये। बम्बई, पेरिस, लंदन आदि नगरों

की प्रासाद-पंक्तियों से परिवेष्टित, बहुत से आडम्बरों से संकुल, कलकलरवों से मुखरित और वैद्युत दीप-मालाओं से देदीप्यमान राजमार्गों में भी जो सुख नहीं मिलता, वह सुख इन हिमगिरि-सरणियों में मिलता है। इन पर चलने के लिए सभी पाठक उन्मेष के साथ मेरे पीछे आएंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

हृषीकेश से सौम्यकाशी की ओर मुख्यत: तीन मार्ग हैं। उनमें सबसे सरल तथा मेरे लिए सबसे अधिक परिचित मार्ग से हम यात्रा करेंगे। हृषीकेश-भूमि से पश्चिमोत्तरी दिशा में जानेवाले रास्ते से कुछ ऊपर की ओर चढ़ते जाएँ तो झिल्ली-झंकारनाद से निनादित गम्भीर वन का आरम्भ होता है। वनान्तर में प्रविष्ट होकर एक-दो मील समतल-भूमि पर चलने के बाद फिर ऊँचे पहाड़ आ जाते हैं और इसलिए चढ़ाई भी शुरू हो जाती है। पर पहाड़ों के पार्श्वभाग भी वनों से आच्छादित बने रहते हैं। विभिन्न भाँति की विटपियों, वल्लियों और गुल्मों से भरी-पूरी निविड वनराजि का सौंदर्य व गांभीर्य न्यूनाधिक-भाव के विना पर्वत के शिखर तक एक रूप से विराजमान है।

अहो, कितना रमणीय वन है! कृत्रिम सुन्दरता तो क्षणिक होती है, पर अकृत्रिम सुन्दरता अमर होती है। मानव-कर या मानव-बुद्धि से बिलकुल असम्बद्ध, ईश्वर के ही हाथों निर्मित सौंदर्य-संपत्ति ऐसे वनान्तरों को छोड़ और कहीं संपूर्ण रूप से प्रकट नहीं होती। सौंदर्यानुभूति का आनंद ही नहीं, बल्कि बहुमुखी ईश्वरीय लीलाओं के प्रत्यक्ष-वीक्षण का एक असाधारण सुख भी यहाँ भरा रहता है। सब प्रकार के लोक-व्यवहार यहाँ चित्रित-से दिखायी देते हैं। समाचार-पत्रों को पढ़े बिना ही यहाँ खड़े होकर चारों ओर देखनेवाले एक बुद्धिमान् की बुद्धि में संसार के सभी समाचार समा जाते हैं। लीजिए, मर्कटयूथ का नेता अनेक मर्कट-युवतियों के साथ विहार कर रहा है कि इतने में एक दूसरा बड़ा-सा बंदर इन मर्कटियों के पास पहुँच जाता है, और इनका प्रियतम उसके साथ महासंग्राम करके वनान्तर को थर-थर कंपा देता है। देखिए, दूसरी ओर एक और समूह किसी खाद्य-वस्तु के लिए जर्मन-युद्ध को भी पीछे करते हुए भयानक लड़ाई में लगा है। आपस में दाँत दिखाते, साहस के साथ लड़ते, कुछ डरकर भागते और कुछ उनके पीछे दौड़ते कोलाहल मचा रहे हैं। अहो! कामिनी और काँचन सब कहीं कलह के ही कारण हैं। ये रक्तमुख मर्कट बड़े धूर्त होते हैं। लीजिए, इन कृष्णमुखों के समूह का निरीक्षण कीजिए। ये बड़े भक्त तथा शांत होते हैं। दूर ऊँचे वृक्षों की

शाखाओं पर झगड़ा या अधिक चपलता किये बिना वे ईश्वर-चिंतकों के समान चुपचाप बैठे हैं।

लीजिए, अब दूसरी ओर देखिए। वन-कुक्कुट और वन-मयूर धीरे-धीरे चलते हुए जो भी अन्नकण मिल जाते हैं उन्हें इच्छानुसार चोंच मारकर चुग लेते हैं। 'यह नहीं', 'वह नहीं' की शिकायत किये बिना और दरिद्रता का स्वप्न में भी अनुभव किये बिना संतोष के साथ जीवन बितानेवाले ये बड़े ही सुकृती हैं। लेकिन दूसरी तरह के छोटे पक्षियों का एक समूह क्षुधा से पीड़ित हो, खाने की इच्छा में इस वन में खाना पाये बिना, दूर देशों की ओर आकाश-मार्ग से शीघ्रता से उड़ता जा रहा है। दूसरे कुछ पक्षी खाद और वल्मीकों में स्वेच्छापूर्वक आनंद करनेवाले कीड़े-मकोड़ों तथा पिपीलिकाओं को निगल जाने में लगे हैं। शिव ! शिव ! इनको इतना पता नहीं है कि ये इन छोटे-मोटे जीवों को खा जाते हैं तो इनसे बड़े जीव कभी इन्हें भी खा जाएंगे—

"अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्,
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्।"

यह सर्वत्र प्रचलित ईश्वरीय मर्यादा की महिमा समझना कितना ही कठिन है। लीजिए, ये दूसरे कुछ विहग आहार-विहारों से विराम पाकर, ऊँचे वृक्षों की शाखाओं पर बैठे दीर्घ स्वर में मधुर गान अलापते संतोष का अनुभव कर रहे हैं। वन में सर्वाधिपत्य जमाने वाले राजा कहाँ हैं ? जान पड़ता है कि व्याघ्रादि जन्तु मानो यह समझकर अपने घरों में ही विलीन बैठे हैं कि अपना अधिकार जमाने का यह समय नहीं है, और इसीलिए वे बाहर आकर अपना प्रभाव प्रकट नहीं करते। इस प्रकार मनुष्य-समाज में जो विषय-भोग, विषय-नैमित्तिक कलह, सांपत्तिक-दरिद्रता, जन्म-मरण, राजत्व-प्रजात्व, आदि व्यवहार दिखायी देते हैं, वही इस प्राणि-समाज में भी अनवरत होते रहते हैं। ऐसे समाज में होनेवाली ऐसी बातें ही तो समाचार-पत्र सुनाते रहते हैं। प्रकृति का सूक्ष्म-निरीक्षण करने में जो पुरुष समर्थ हैं उसकी बुद्धि में सारा संसार सभी चेष्टाओं के साथ उपस्थित हो जाता है; और यदि उपस्थित हो जाता है तो उसे परोक्ष लोक-वार्ताएं पढ़ने की क्या आवश्यकता ? प्रतिदिन तीन बार निकलनेवाला पत्र भी कोई नया समाचार नहीं लाता। जो है ही नहीं, वह होना भी नहीं है, और जो है उसके होने में किसी नवीनता के लिए स्थान भी नहीं है। प्रकृति के रहस्य को, दूसरी बातों में कहें तो ईश्वर की महिमा को जो नहीं जानता, उसके लिए तो सब नये और निराले हैं। पर प्रकृति-रहस्य को जाननेवाले के

शोभा के क्रीड़ा-स्थल के रूप में विराजित है। उत्तरकाशी की ओर यात्रा करनेवालों को गंगा पार कर टहरी नगर में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं होती, तो भी मैं केवल कौतूहलवश वहाँ जाकर रहा था।

प्रख्यात स्वामी रामतीर्थजी ने अमेरिका की यात्रा से लौटकर इसी टहरी नगर में अपने अन्तिम दिन व्यतीत किये थे। विल्लंगणा नदी के किनारे एक कुटीर में वह रहा करते थे और इसी नदी में उन्होंने अपने शरीर का परित्याग किया था। इस मार्ग से आते-जाते इस प्रदेश में पहुँच जाने पर स्वामी रामतीर्थजी और उनके शोचनीय अंत के बारे में विषाद की कुछ तरंगें मेरे अन्तःकरण में उठा करती हैं। अंग्रेजी में लिखी उनकी एक जीवनी के द्वारा केरल में रहते हुए भी वे मेरे लिए सुपरिचित थे। फिर भी उनके संन्यास-जीवन आदि का इतिहास सच्चे और विशद रूप में समझने का अवसर मुझे यहीं मिल सका था।

टहरी नगर में आदि बदरीनाथ का एक मुख्य और मनोहारी मंदिर स्थित है। बदरीनाथ टहरी (गढ़वाल) के राजाओं की परंपरागत उपासना का कुल-देवता है। कहा जाता है कि इस राजवंश के कुछ प्राचीन राजाओं की पुकार पर बदरीनाथ प्रत्यक्ष हो जाया करते थे।

लीजिए, यहाँ से सीधे पश्चिमोत्तरी दिशा में गंगा-किनारे से होकर पथ ऊपर की ओर जा रहा है। यहाँ से पैंतालीस मील की दूरी पर उत्तरकाशी स्थित है। शरीर स्वस्थ होने पर मैं यहाँ से दो दिनों में सौम्यकाशी पहुँच जाया करता हूँ। सर्वज्ञ परमेश्वर ने पहले ही यह जानकर मुझे कृश शरीर और लंबे पैर दिये होंगे कि मुझे एक साधु के रूप में हिमगिरि पर पैदल ही परिव्रजन करना पड़ेगा; कभी-कभी यह सोचकर मैं उस दयानिधि की मन-ही-मन वन्दना करता हूँ। ईश्वर की कृपा की कोई सीमा नहीं होती। 'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्'—ऐसा भक्ति-सूत्रकार का कहना है। ईश्वर की करुणा ही करुणा है, अर्थात् ईश्वर निरपेक्ष करुणा का सागर है। उनकी कृपा में श्रद्धा न रखनेवाले दुःखी होते हैं। भगवान् की कृपा में श्रद्धा रखनेवाले के लिए दुःख का कौन-सा कारण हो सकता है? सभी दशाओं में आनंद ही आनंद है-- इसे छोड़ और कोई भावना उनमें हो ही नहीं सकती। सूत्रों का तात्पर्य है कि इस संसार में उत्कृष्ट लाभों की उपलब्धि में ईश्वर-करुणा ही मुख्य साधन है, दूसरे सब पुरुषार्थ गौण हैं।

टहरी से एक विशाल मैदान से होकर रास्ता ऊपर जाता है। वैनाग

का महीना होने से गेहूँ की फसल काटकर श्यामाक आदि अनाज बोये गये हैं। अधिक वृक्षों के अभाव में चारों ओर ऊँचाई पर उठी हुई इन नग्न पर्वत-राशियों, उनके पार्श्व-भागों में इधर-उधर पास-पास स्थित ग्राम-पंक्तियों तथा केदारराजियों का दृश्य इस मैदान के बीच से चलनेवाले एक रसज्ञ के मन को अधिकाधिक आकृष्ट करता रहता है। लीजिए, इस विशाल मैदान को पार करने पर, अर्थात् टहरी से चार मील पश्चिम की ओर, 'मादगून' नामक गाँव दिखायी देता है। यहाँ स्वामी रामतीर्थ जी कुछ काल तक रहे थे।

यहाँ से गंगा के दर्शन करते हुए पर्वत-प्रांतों से फिर आगे की ओर बढ़िए। कई पहाड़ों और जहाँ-तहाँ कई गाँवों को पार करते हुए सत्ताईस मील आगे जाने पर वहाँ 'धरासु' नामक एक स्थान आ जाता है। यहाँ से जम्नोत्री की ओर एक मार्ग तथा उत्तरकाशी से होकर गंगोत्री के लिए दूसरा मार्ग निकलता है। धरासु से पर्वत-नितम्बों से होकर भागीरथी के किनारे-किनारे नौ मील ऊपर की ओर यात्रा करने पर 'डूण्डा' नामक एक पवित्र स्थान पर पहुँच जाते हैं। इस प्रदेश के पौराणिक नाम का निर्णय करना अब असंभव है, तो भी यह अनुमान किया जा सकता है कि पुरातन काल में यह ऋषियों के विहार से पवित्र एक तपोवन था। क्योंकि यहाँ से दो मील की दूरी पर 'उद्दालक' का आश्रम-स्थान दिखायी देता है। उद्दालक श्वेतकेतु के पिता, ब्रह्म-विद्योपदेष्टा तथा छन्दोग्योपनिषद् के एक प्रसिद्ध ऋषि-पुंगव थे। उद्दालक महर्षि तथा उनकी शिष्य-मंडली के पाद-पांसुओं से पवित्र इस प्रदेश में पहुँच जाने पर मेरा मन कई उत्कृष्ट भावनाओं में निमग्न हो जाता था। कभी-कभी तो मैं भक्ति और आदर से पुलकित शरीर के साथ अत्यधिक कृतार्थ होकर उस आश्रम-भूमि की ओर देखते हुए आत्मविस्मृत हो मार्ग में चिरकाल तक बैठा ही रह जाता था।

इस स्थान को पार कर फिर चार मील आगे की ओर चले जाएँ तो वहाँ कुछ दूरी पर गंगा-जमुना नदियों के मध्यवर्ती एक पर्वत-शिखर पर एक अति सुन्दर आश्रम दिखायी देता है, जहाँ रेणुका देवी के साथ जमदग्नि महर्षि विराजमान थे। यहाँ से पुनः एक मील आगे बढ़ें तो वहाँ गंगातट पर कपिल मुनि का आश्रम नज़र आता है। सांख्यशास्त्र-कर्ता कपिल-भगवान् के स्थान हरिद्वार तथा गंगासागर में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यों हिमालय-शिखरों पर तथा निम्न देशों पर इधर-उधर कई ऋषि-पुंगवों के भिन्न-भिन्न स्थान दिखायी पड़ते हैं। चूँकि एक ही ऋषि के जहाँ-तहाँ भिन्न-भिन्न स्थान दिखायी

भयानक वनों को पार करना पड़ता है । किन्तु मैं तो प्रकृति-सौंदर्य का प्रेमी हूँ । इसलिए सब कुछ ईश्वर के सामने समर्पित कर निश्चित एवं निर्भय होकर उस सरोवर में जाकर स्नान करने की इच्छा से निकल पड़ा ।

सन् १९२८ के अक्टूबर महीने में उत्तरकाशी से मैं इस वन-विहार के लिए तैयार होकर निकला था । उत्तरकाशी से दूसरे चार-पाँच साधु भी इस सैर के लिए तैयार हुए और हम सब रवाना होकर पहले दिन दस मील की दूरी पर 'मंजोली' नामक एक गाँव के देव-मंदिर में रहे । सरोवर की ओर सैर करने की इच्छा से इस तरह निकल पड़ना ही इस गाँव के कुछ भक्त-जनों की प्रार्थना तथा प्रेरणा से हुआ था । सरोवर का पूरा पता भी मुझे उनके द्वारा ही मिला था । इसलिए उस गाँव के चार मुखिया लोग वहाँ से ऊपर की यात्रा में सहायता देने के लिए हमारे सहचारी होकर साथ आये । परन्तु गाँव के कुछ बुजुर्गों और औरतों ने सलाह दी थी कि हमें ऊपर नहीं ले जाना चाहिए । सरोवर देवों का निवास-स्थान है, बड़ा ही गोपनीय है । इसलिए वहाँ मनुष्य नहीं जा सकते । यदि कोई साहस के साथ वहाँ जाता है तो वहाँ मल-मूत्र-विसर्जन, खाना-पकाना और नींद लेना आदि उनके अशुद्ध कर्मों के कारण वह देवभूमि अपवित्र हो जाती है । ऐसी अशुद्धि को दूर करने के लिए उनके रहने के दूसरे दिन अवश्य ही भयानक वृष्टि होती है । वृष्टि में पत्थर बरसते हैं और समीपवर्ती नीचे के सभी गाँवों की सारी फ़सलें विनष्ट हो जाती हैं । ये ही वहाँ के पर्वतीय लोगों का प्रबल तर्क था । ऐसे ही लोगों ने इस विश्वास पर हमारे प्रस्थान को रोकने का प्रयत्न किया था कि हमें लेकर ऊपर जाने से वृष्टि अवश्य होगी और उपलों के निपात से पके हुए सारे अनाज नष्ट हो जाने से हमारा गाँव ग़रीबी में डूब जाएगा ।

लेकिन हमारे पक्ष का समर्थन करने वाले साहसी लोगों का भी एक दल उस गाँव में था । उनका तर्क था कि महात्मा लोग ही सरोवर में स्नान करने जाते हैं । महात्माओं पर देवों की कोई अप्रीति नहीं हो सकती, और महात्माओं की महिमा तथा तपोबल से ग्राम की उन्नति होती है । इनकी यात्रा में सहायता पहुँचाना ग्राम के लिए अमंगल नहीं हो सकता । जो भी हो, हम महात्माओं की महिमा तथा सिद्धि पर उन परिजनों में भी श्रद्धा जमाकर, किसी प्रकार उनकी भी पूर्ण सम्मति लेकर, उपर्युक्त चार व्यक्ति हमारे मार्ग-दर्शक बनकर चले थे । यात्रा में कोई अमंगल न हो, इसके लिए उनके ग्राम-देवताओं से उन्होंने और हमने हृदयपूर्वक प्रार्थना की और इसके बाद हम वहाँ से रवाना हुए । विषम

परिस्थितियों में ईश्वर ही सब की गति है। किसी विपमता में पड़ जाने पर लोग ईश्वर का जितनी शुद्धता, दृढ़ता और अनन्यचित्तता के साथ स्मरण और प्रार्थना करते हैं उतनी ही दृढ़ता के साथ साधारण काल में भी यदि स्मरण किया जाता है तो वे ईश्वर-सायुज्य के योग्य बन जाते हैं।

पर्वतीय जनता की अपने ग्राम-देवता में श्रद्धा और भक्ति अनन्य साधारण तथा अत्यन्त दृढ़ है। किन्तु उनकी यह श्रद्धा-भक्ति कामनाओं से परिपूर्ण है। विचार-शक्ति और विद्यावल से हीन इन पहाड़ी लोगों ने यह सपने में भी नहीं जाना है कि निष्काम-प्रेम कौन-सा है? संपत्ति पाने तथा विपत्ति को दूर करने के वास्ते वे देवताओं के सामने प्रार्थना करते और रोते दिखायी देते हैं। इस प्रकार ग्राम-देवता और कुल-देवता में असीम श्रद्धा तथा भक्ति केवल हिमालय में नहीं हिमवत्-सेतु-पर्यन्त भारतवर्ष में किसी न किसी तरह थोड़ी-बहुत सर्वत्र फैली दिखायी देती है। लेकिन अंतर केवल इतना है कि मैदानी प्रदेशों में नवीन परिष्कृति के साथ-साथ उनकी जैसी क्षति होती दिखायी देती है, वैसी हिमालय में उनकी क्षति नहीं हुई है। शास्त्र-ज्ञान से होनेवाली विचार-शक्ति से न सही, केवल परंपरागत संस्कृति के कारण ही सही, तो भी देवता में ऐसी दृढ़ श्रद्धा-भक्ति का होना प्रशंसनीय ही है। क्योंकि ईश्वर ही सर्व-नियंता है; ईश्वर ही सर्व फलों का देनेवाला है; ईश्वर की सहायता के बिना हमारे लिए खाना-सोना भी असंभव है। ईश्वर की आज्ञा से ही बादल बरसते हैं। ईश्वर की आज्ञा पाकर ही नदियाँ बहती हैं। ईश्वर की आज्ञा से ही पेड़-पौधों पर फल लगते हैं। ईश्वर की आज्ञा से ही एक मानव सुख भोगता है तो दूसरा दुःखी होता है। इस स्थिति में अपने देवता को ईश्वरीय रूप में देखनेवाले पहाड़ी लोग उस देवता में सर्वशक्ति और सर्व-नियंतृत्व की कल्पना करें तो वह शास्त्र-विहित ही है।

उस गाँव से निकलकर, चूँकि तीन चार मील तक खुला मार्ग है, इसलिए वहाँ तक चलकर हमने वहाँ वनांतर में ही विश्राम किया। अब यहाँ से ऊपर का मार्ग बड़े संकट और विषमता का है। देहाभिमान को छोड़े हुए ज्ञानीवर या वीरवर व्यक्तियों को छोड़कर अथवा फिर भूत-भावियों की चिंता न करनेवाले पशु-समान मनुष्यों को छोड़कर और कोई व्यक्ति यहाँ से ऊपर चढ़ने का साहस नहीं करेगा। हम इनमें से चाहे किसी भी वर्ग के भले हों या न हों, पर हम सुबह ही वहाँ से उठकर उत्साह के साथ चल पड़े। अब यहाँ से छः सात मील कठिन चढ़ाई के पहाड़ पर चढ़ते जाना है। रास्ता

है ही नहीं। चारों ओर पौधों-लताओं और वृक्षों-वनस्पतियों से भरा-पूरा घना अंधकारमय गंभीर वन है। हमारे सहचारियों में पहले इस रास्ते पर चलने वाला एक धीरप्रकृति का व्यक्ति हाथ में आयुध ले कर, जहाँ तक हो सके, पौधों, झाड़ियों तथा वृक्षशाखाओं को काटते हुए हमारे आगे-आगे चला। हम तो अपने पैरों के आगे ही दृष्टि तथा चित्त को एकाग्र करते हुए बड़ी सावधानी के साथ उन का पीछा करते गये। विषैले पौधों से टकराकर हमारे पैर सूजते गये। कंटीले पौधों से लगकर पैरों से रक्त बहने लगा। हमारे कपड़ों में एक तरह के कंटीले पत्ते और बीज लग जाते। इस प्रकार वृक्ष-शाखाओं को पकड़कर बैठते-चलते, झुकते-सरकते तथा कंकड़ों, कांटों से होकर चलते चलते हम ग्यारह बजे के पहले पर्वत-शिखर पर पहुँच गये। विषैली हवा के लगने से एक महात्मा का सिर चकराया और वह गिर पड़े। अतः उन की शुश्रूषा में कुछ समय बिताना पड़ा।

बारह बजे खाना पका कर खाया और फिर यात्रा शुरू की। वहीं शैल-शिखर पर एक विशाल तथा वृक्षादि से रहित थोड़ा सा खुला एक मैदान मिला। छोटे-छोटे पौधों मे तरह-तरह के रंग-बिरंगे खिले हुए फूलों से भरा मैदान कितना ही रमणीय था! बीस हज़ार फुट से अधिक ऊँची 'वानरपुच्छ' और 'श्रीकंठ' नामक हिमालय की दो मशहूर चोटियाँ कभी न पिघलनेवाली हिम-संहिता के साथ धवल-धवल सी यहाँ पास ही पूर्वोत्तरी दिशा में दिखायी देती हैं। इन हिमच्छादित पर्वत-शृंगों के सौन्दर्य का मैं कहाँ तक वर्णन करूं?

प्रकृति-सौंदर्य क्या है? ब्रह्म-सौंदर्य ही प्रकृति-सौंदर्य है। ब्रह्म की सुन्दरता को छोड़ प्रकृति की कोई अलग सुन्दरता नहीं होती। जैसे पुरुष से उसकी शक्ति भिन्न नहीं है, वैसे ब्रह्मा से ब्रह्म-शक्ति—प्रकृति—भी भिन्न नहीं है, अतः प्रकृति का विलास ब्रह्मा का विलास है। प्रकृति का सौंदर्य ब्रह्मा का सौंदर्य है। यदि प्रकृति में कोई सामर्थ्य है तो वह ब्रह्मा की सामर्थ्य है। ब्रह्म-प्रकृति के तत्त्वों का साक्षात्कार करनेवाला एक ज्ञानी प्रकृति और प्रकृति-विलास सब को ब्रह्म रूप में देखता है। हिमाच्छादित शैल शृंग तथा वन-राजि यह सब उसके लिए निरतिशय सौंदर्यशाली ब्रह्म ही है। ब्रह्म! ब्रह्म!! ब्रह्म!!! ब्रह्मविद् के लिए—जहाँ जाओ, जिसे देखो—ब्रह्म को छोड़कर और कुछ नहीं है। ब्रह्म ही विभिन्न नाम-रूपों में दिखायी देता है।

जैसा कि पहले वर्णन किया गया है, वैसा ही अति विकट स्थल फिर

हमारे सामने आ गया। यह स्थल यम-राजधानी के राजपथ के समान भयानक था। वर्षा को बीते अभी अधिक दिन न हुए थे। अतः इतना घना अन्धकार था कि पास यदि कोई हाथी भी खड़ा हो तो वह न दिखाई पड़े। ऐसे घने-घने घोर वनांतरों से, पर्वतीय लोगों द्वारा आगे बढ़ते हुए बनाये जाने वाले मार्गों से होकर, कई चढ़ाइयों-उतराइयों को पार करके हम शाम के पाँच बजे से पहले सरोवर के किनारे पहुँच गये।

'मोनाल' नामक एक तरह के विचित्र विहंगमों ने, जो लाल मुर्गों के समान थे, अपने निवास-स्थान पाषाण-छिद्रों से बाहर निकल कर हमारे सामने आकाश में उड़ते हुए मानों अपने अतिथियों का अभिवादन-पूर्वक स्वागत किया। बहुत ही उन्नत तथा शीतल वनांतरों में पाया जाने वाला यह विचित्र जीव है—मोनाल पक्षी। गहरे रंगीले परों से निविड़ रूप से ढके शरीर के साथ ये पक्षी कितने रमणीय लगते हैं। मोर और मोनाल अत्यन्त मनोहारी परों से युक्त हिमालय के दो विशिष्ट विहंगम हैं। इतिहासकारों का कहना है कि सिकन्दर मयूरों की सुन्दरता पर मुग्ध होकर हिमालय-प्रांतों से मयूरों को पकड़कर ग्रीस ले गये थे। लेकिन मोनाल की मोहक रूप-सुन्दरता देखने का सौभाग्य यदि उन्हें मिलता तो उन का चित्त कितनी उत्कंठा से भर जाता? उच्च देशों में मोनाल और निम्न देशों में मयूर इस गिरिराज के सचमुच अमूल्य आभूषण हैं। हिमालय में यदि पन्द्रह सौ फ़ुट के ऊपर मोर नहीं दिखायी देते, तो सात हज़ार फ़ुट के नीचे मोनाल भी नहीं दिखायी पड़ते। कहा जाता है कि शिकारी लोग पंखों तथा मांस के लिए मोनालों को गोली चलाकर मार डालते हैं। अपने इस मार्ग में इधर-उधर कई स्थानों पर हमने इन अलौकिक खगों को देखा था। सरोवर के किना विकसित मुख के साथ इन मित्रों ने सपत्नीक हमारा स्वागत किया था। इस पर मुझे असीम आनंद हुआ। किन्तु इस घोर विपिन में कस्तूरी-मृग और व्याघ्र-भल्लूकादियों ने दर्शन देकर हमारा स्वागत क्यों नहीं किया था? मेरा अनुमान है कि नव वधु के समान कस्तूरी-मृग की लजीली तथा विनम्र प्रकृति ही इसकी उत्तरदायी है। वह लाज के मारे हमारे सामने नहीं आ सके। और उधर अदम्य वीर्य-पराक्रम के कारण किसी के सामने सिर न झुकाने वाले एक छत्राधिपति नृप के समान सारे वन पर शासन करनेवाले व्याघ्र की। दर्पपूर्ण प्रकृति भी उत्तरदायी है। वह अहंकार के कारण हमारा स्वागत करने न आया होगा। फिर भी जिसके दर्शन की अभिलाषा में इतनी कष्ट-

दायक यात्रा हम ने की थी, उस महामहिमाशालिनी सरोदेवी ने गंभीरता की मूर्ति होकर भी मधुर मुस्कान के साथ हमारा स्वागत किया। इस पर अतीव कृतार्थ होकर भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हुए हम उस देवी के निकट जा बैठे।

सांयकाल हुआ। सूर्य भगवान् की अरुण-किरणों के फैल जाने से दिशाएँ अरुणिमा से भर गयी थीं। सरोवर का स्वच्छ जल भी प्रतिविम्ब को ग्रहण कर अरुणिम होकर दिव्य सुषमा-संपत्ति के साथ शोभायमान था। चूँकि शीत असहनीय था, इसलिये पर्वतीय लोग लकड़ियाँ इकट्ठी करके सारी रात आग जलाते रहे। रात के समय न जाने वहाँ विपिन के बीच से कैसी विलक्षण तथा दिव्य ध्वनियाँ सुनायी दे रही थीं।

प्रभात हुआ। मैं उस पर्वतीय नेता के साथ उस दिव्य सरोवर की परिक्रमा करने निकला। महादुर्घट और विकट घाटियों से घने वन के बीच झुककर सरकते हम दोनों परिक्रमा करने लगे। उन पहाड़ी लोगों ने परिक्रमा के बीच मुझे ऐसे कई विषैले पौधे, जिन के पुष्पों की गंध से ही मनुष्य मूर्छित होकर गिर पड़ेंगे, दिखाये। इतना ही नहीं, उस सरोवर के विषय में कई आश्चर्य-जनक इतिहास भी वे मुझे सुनाते रहे। मेरा मन सरोवर की महिमा सुनते-सुनते भक्ति तथा आदर से संभृत होता गया। पौन घंटे में हम उस छोटे सर की परिक्रमा कर चुके, जिसका घेरा सिर्फ़ चार-पाँच फ़र्लांग था। भागीरथी की पोषक नदी तथा उत्तरकाशी की उत्तरावविभूत 'असी' नदी, देखिए, इस सरोवर से एक छोटी जल-धारा के रूप में निकलकर धीरे-धीरे प्रवाहित हो रही है। पहाड़ी ब्राह्मण को पुरोहित बनाकर हम सबने सरोवर में स्नान, पूजा, भजन आदि धार्मिक क्रियाएँ यथाविधि सम्पन्न कीं। मुझे ऐसा लगा कि जैसे पर्वतीय लोगों ने गाँव में हमें बताया था, वही यह देवों तथा ऋषियों की निवासभूमि है, और यह स्थान इतना निगूढ़ एवं दिव्य है कि मनुष्यों के लिए गंतव्य नहीं हो सकता। दिव्य दिव्य ही रहेगा। मुझे ऐसा भी मालूम हो रहा था कि मेरा मन मुझे उपदेश दे रहा है कि मानुषी संसार से ज़रा भी सम्बन्ध न रखनेवाले किसी दिव्य लोक में खड़ा मैं यह स्नान-भजनादि कर रहा हूँ। अहा ! कौन जाने, मनुष्यों की विचार-सरणी से अलग कितने ही निगूढ़ तत्त्व इस प्रदेश में अंतर्लीन हुए पड़े हैं ?

ज़रा खा-पीकर हम वहाँ से लौट पड़े। यद्यपि एक-दो दिन और वहाँ रहने की मेरी इच्छा थी, तो भी शीत की अधिकता तथा हिमपात के आरंभ का समय हो जाने के कारण वह अभिलाषा पूरी किये बिना, उदास मन के

साथ मैं उस सरोवर का किनारा छोड़ चला आया था। एक घंटे का समय बीत गया था। हम पर्वत-शिखर पर पहुँच गये। पिछली रात बादल उमड़-घुमड़ कर रहे थे तो भी सवेरे जो आकाश नील-निर्मल हो गया था, वह अब फिर काली घटाओं से घिर गया और सारे पहाड़ को हिला देनेवाला गंभीर गर्जन भी शुरू हो गया। ऐसा लगा मानो पर्जन्य देवता हम सर्व-संग-परित्यागियों के साहस की परीक्षा लेना चाहता हो। वायुदेवता प्रचंडता के साथ चलने लगा, मानो इस देवभूमि में यात्रा करने के कारण वह हम मनुष्यों पर क्रुद्ध हो उठा हो। जल नहीं, हिमकणों को धीरे-धीरे बरसाने लगा।

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ग्रामीणों के विश्वास के अनुसार ही यह घटित हो रहा है। हम सब ने ईश्वर से प्रार्थना की कि हमारे शरीर तथा ग्रामीणों की फसल को कोई हानि न पहुँचे। अक्टूबर महीने से ऐसे पर्वत-शिखरों पर बादल अधिकतर पानी नहीं, ओले बरसाया करते हैं। नवम्बर महीने से हिम भी बरसाने लगते हैं। लेकिन यहाँ की ओलों की वर्षा और निम्न देशों की ओलों की वर्षा में कितना बड़ा अंतर है। यहाँ ओलों के गिरते-गिरते कभी-कभी पहाड़ी चोटियों पर एक फुट तक बर्फ जम जाती है। पाषाण-वर्षा के शुरू होते ही हमारे सहचारी पहाड़ी लोगों का सारा साहस छूट गया और वे बहुत घबराने लगे।

धीरे-धीरे पाषाण-वर्षा खूब होने लगी। सारी भूमि हिमाच्छादित हो धवल हो गयी। बिना छतरी व जूते के स्वच्छंद रूप से सैर करने वाले हम बड़ी कठिनाई में पड़ गये। दस हजार फुट से अधिक ऊँचाई पर हिमवर्षा के बीच चलने के कारण हमारे हाथ-पाँव सिकुड़ने लगे तथा शरीर काँपने लगे। चूँकि हम सब आत्मविश्वास तथा ईश्वर-विश्वास रखनेवाले थे, इसलिए इस विपत्ति में भी साहस के साथ अमंगल की प्रतीक्षा किये बिना दौड़ते हुए चले। वर्षा हो रही है। हिम भूमि पर जम-जमकर बढ़ता जा रहा है।

थोड़ी देर के बाद हम यह जान गये कि अब गिरि-मस्तक से अवरोहण शुरू हो गया है। चार-पाँच फर्लांग उतर आने पर हमने देख लिया कि नीचे जाते-जाते पाषाण-वृष्टि कम होती जा रही है। फिर और नीचे आने पर मालूम हुआ कि वहाँ केवल वर्षा हुई है, पाषाण-वृष्टि जरा भी नहीं हुई है। जितनी प्रसन्नता हमें इस बात से हुई कि उन अति दरिद्र ग्रामीणों की खेती का नाश नहीं हुआ है, उतनी ही प्रसन्नता हमें इस बात की भी हुई कि हम सुरक्षित लौट आये हैं।

हमारे प्रत्यागमन पर शुद्ध-हृदय ग्रामीणों ने हमारी प्रशंसा की कि महात्माओं की महिमा तथा सिद्धि के कारण ही पाषाण-वृष्टि नीचे नहीं हुई है, और वे अपनी बढ़ी-चढ़ी भक्ति को कई प्रकार से प्रकट किये बिना नहीं रह सके। जो हो, हमारी इस विषम यात्रा की सफलता का श्रेय हमारे मार्गदर्शक ब्राह्मण नेता को अथवा उस ब्रह्माण्ड-नेता की नेतृत्व-कुशलता को था। हमारे इस ब्राह्मण नेता की कार्य-कुशलता तो देवता के विश्वास में—ईश्वर के विश्वास में—दृढ़-प्रतिष्ठ थी। वस्तुतः ईश्वर का विश्वास दुर्बल को प्रबल बना देता है। ईश्वर का विश्वास अवीर को सुवीर बना देता है। भगवान् का विश्वास असमर्थ को सर्वथा समर्थ बना देता है।[1]

●●

1. इस यात्रा के बाद मैंने फिर उस सरोवर की ओर यात्रा की थी। चूँकि अब उस सरोवर की ओर मार्ग बन गया है, इसलिए अब यात्रा बहुत सरल हो गयी है।

३. जम्नोत्री और गंगोत्री

जम्नोत्री

जमुना नदी का उत्पत्ति-स्थान जम्नोत्री कहाता है, जो कि हृषीकेश से लगभग एक सौ बीस मील पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित है। 'वानरपुच्छ' नामक सुप्रसिद्ध शिखर के नीचे उष्णजल (गंधक-जल) से पूर्ण कुंडों के साथ हिमालय के इस रमणीय तथा पवित्र तीर्थधाम में भी कई पुण्यात्मा यात्री यात्रा करते हैं। यह देखिए, यहाँ कलिंद शैल से निकलकर एक छोटी जलधारा के रूप में इन्द्रनील के समान नीलिमा से भरी कलिंदजा बह रही है।

उत्तरकाशी से एकबार मैंने इस पुण्यधाम की ओर यात्रा की थी। करीब पैंतालीस मील पर स्थित इस स्थान पर उत्तरकाशी से तीन चार दिनों में पहुँच सकते हैं। जम्नोत्री का मार्ग हिमालय के दूसरे मार्गों के ही समान अति प्रकृति-सुन्दर तथा हृदयाह्लादक है। इसके सौन्दर्य के सम्बन्ध में केवल इतना कह सकता हूँ कि नन्दनवन के बीच यदि कोई मार्ग हो तो वही इस हिमालय-मार्ग का उपमान बन सकता है।

गंगोत्री

: १ :

तत्र वर्षसहस्रैश्च समाराध्य पुनः पुनः।
ब्रह्माणं शंकरं जह्नुं भुवि गंगामयोजयत्॥ (वासिष्ठम्)

हजारों वर्षों तक ब्रह्मा, शंकर तथा जह्नु महर्षि का बार-बार तप करके भगीरथ ने भूमि पर गंगाजी का अवतारण कराया था।

इस प्रकार भारत-सम्राट् श्री भगीरथ हजारों वर्षों तक हिमालय में तप करके स्वर्गंगा को स्वर्गलोक से मर्त्यलोक में लाये थे। कुछ लोग पुराणों में वर्णित इस प्रसिद्ध आख्यान को अर्थवाद के रूप में ग्रहण करते हैं।

इसके विपरीत दूसरे लोग इसे यथार्थ रूप में स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं मानते। यदि व्यवहारकुशल तथा बुधजन ऐसी कहानियों को यथाश्रुत अर्थ में स्वीकार न करें तो उन पर हमें आक्षेप नहीं करना चाहिए।

पुराण की उन गाथाओं, को जो हमारे दैनिक जीवन से मेल नहीं खातीं, प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार भी नहीं कर सकता। हमारे पुराने आचार्यों ने भी इन्हें यथावत् स्वीकार करने का उपदेश नहीं दिया। अतः नवीन विद्वानों का यह विचार है कि इस प्रकार की गाथाएँ गंगा की पवित्रता में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए प्रस्तुत की गयी हैं। किन्तु प्राचीन गाथाओं में विश्वास रखने वाले लोग आधुनिक विद्वानों के इस आशय का खंडन करते हैं। फिर भी इस बात में तो दोनों पक्ष सहमत हैं कि भगीरथ का भागीरथी के साथ कितना ही बड़ा सम्बन्ध था और वे गंगा के लिए हिमालय में दीर्घकाल तक तपस्या करते रहे। गंगा-विषयक इस समानता को स्वीकार करते हुए भी इन दोनों प्रकार के विचारकों में पर्याप्त मतभेद है।

परन्तु मैं इस आलोचना-विवाद में प्रवेश नहीं करना चाहता। शिव ! शिव ! आलोचना तो अथाह सागर के समान है। आलोचना के पारावार में उतर जाने पर फिर उसके किनारे आ लगना असंभव होता है। हे गंगे, हे भागीरथी ! हे जगज्जननी ! मैं आप का भक्त हूँ। मैं आपका आलोचक नहीं हूँ। आपकी समालोचना करने में मैं असमर्थ हूँ। साक्षात् परमेश्वरी के रूप में मैं आपके दर्शन कर रहा हूँ। प्रिय माता के रूप में मैं आपका भजन कर रहा हूँ। चाहे सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने आपकी सृष्टि की हो, अथवा उसके बाद भगीरथ ने ही सृष्टि की हो। यह जान लेने से मेरे लिए कोई लाभ या हानि नहीं हो सकती। चाहे आप विष्णु के चरणों से निकलकर शंकर की जटा से होकर भूमि में प्रवाहित होती रहें, या हिमालय के शिखर से निकलकर हिमधाराओं से भूमि में बहती रहें, मेरी आँखों तथा मेरी बुद्धि के लिए आप साक्षात् परमेश्वरी बनकर सतत प्रकाशमान रहेंगी। एक मातृ-भक्त पुत्र के लिए माता या मातृ-महिमा की कौन-सी आलोचना रह जाती है ? मैं आप जगज्जननी का अनन्य भक्त हूँ। अतः मेरे लिए आप या आपकी महिमा की समालोचना करने की क्या ज़रूरत है ? हे देवी ! आप मुझे शान्ति दीजिए कि मैं आपके चरणारविन्दों की भक्ति किसी विकल्प या आलोचना के बिना कर सकूं। हे पतित-पावनी ! हे जननी ! पापी और पतित सभी का उद्धार करते हुए आप सर्वदा, सर्वोत्कर्षेण, इस संसार में विराजती रहें।

सम्राट् भगीरथ हिमगिरि के जिस एकांत सुन्दर शिखर पर बैठे अनेक वर्षों तक प्रगाढ़ तपश्चर्या में निमग्न रहे, वह पुण्य प्रदेश अब गंगोत्री के नाम से पुकारा जाता है। भगीरथ जिस वन में और जिस शिला पर बैठे तप करते

रहे, वह गंगावन तथा भगीरथ-शिला के नाम से आज भी प्रसिद्ध हैं। लेकिन गंगा का ठीक उत्पति-स्थान गंगोत्री से लगभग अठारह मील ऊपर की ओर रजत-शिखरों के अंतराल में स्थित 'गोमुख' नामक दिव्य तथा दीर्घ हिम-संघात है। धवलातिधवल हिमशृंगों से हिम के पिघलने पर अनेक अदृश्य और दृश्य रूप में निकलती हुई अनेक छोटी-बड़ी जल-धाराएँ मिलकर एक बड़ी जलधारा बन जाती हैं, जो गंगा के रूप में प्रवाहित होती रहती हैं।

गंगोत्री से ऊपर जाने का कोई रास्ता नहीं है। इसलिए गंगा के उत्पतिस्थान पर सामान्यत: यात्री नहीं जा सकते। किंतु फिर भी कुछ तितिक्षु तथा उत्साही यात्री किन्हीं विशेष कालों में वहाँ की यात्रा कर ही आते हैं। जिसे यह ज्ञात न हो कि हिमालय पर्वत की चोटियाँ सदा धवल हिम से ढकी रहती हैं, वह गंगोत्री जाकर पूर्व दिशा की ओर अपनी नजर दौड़ाएं तो वह एकाएक बोल उठेगा कि "इसी रजत पर्वत से साक्षात् भागीरथी निकलती हैं।"

आग्रहायण से चैत्र महीने तक गंगोत्री धाम नीचे से ऊपर तक समान-रूप से हिमावृत रहता है। इसलिए उस समय वह देश अगम्य ही रहता है। इन्हीं दिनों भालू आदि भी बाहर घूमने तथा शिकार करने में असमर्थ हो जाते हैं तथा अपनी गुफाओं या वृक्ष-कोटरों में छिपे पड़े रहते हैं। यदि इस समय भालुओं की गति भी निरुद्ध हो तो मनुष्य की तो बात ही क्या कहनी है?

ज्येष्ठ महीने से लेकर गंगोत्री धाम फिर यात्रा के योग्य बन जाता है और अनेक भक्त तथा तपस्वी लोग वहाँ की यात्रा आरम्भ कर देते हैं। मेरा विश्वास है कि पतित-पावनी भागीरथी के उत्पत्ति-स्थान गंगोत्री धाम पहुँचकर, वहाँ के गंगाजल में निमज्जन कर, उस पवित्र विशाल गंगातट पर बैठे कम-से-कम दस-पाँच मिनट तक साक्षात् ब्रह्ममूर्ति सच्चिदानंद-स्वरूपिणी भागीरथी माता का भक्तिपूर्वक ध्यान करनेवाले मनुष्य का जन्म अवश्य कृतार्थ हो जाता है। धन्य पुरुषों के सिवाय और किसी को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता—

तदेतत् परमं ब्रह्म द्रवरूपं महेश्वरि !
गंगाख्यं यत् पुण्यतमं पृथिव्यामागतं शिवे !

(स्कन्दपुराणम्)

पौराणिक लोग भागीरथी की परिभाषा यों देते हैं—गंगा, गंगा के नाम से, द्रव रूप में प्रवाहित साक्षात् परब्रह्म ही है। महा पातकियों का भी समुद्धार करने के वास्ते स्वयं कृपानिधि परमात्मा ही पुण्यतम जल के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेकर आया है।

गंगा समुद्रजल या तालाव के जल के समान साधारण जल नहीं है। वह सर्वान्तर्यामी तथा सर्वाधिष्ठान-स्वरूप साक्षात् परब्रह्म ही है। पर यदि कोई प्रश्न करे कि भागीरथी के जलमात्र न होने, बल्कि सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मवस्तु होने का प्रमाण क्या है तो 'श्रद्धा-श्रद्धा' किसी भागीरथी-भक्त का उत्तर होगा। सब धर्मों और सब आचार्यों द्वारा समुद्घोषित तत्त्व यह है कि आध्यात्मिक कार्यों में बुद्धि से अधिक श्रद्धा का ही प्राधान्य रहता है। बुद्धि-शक्ति से अब तक किसी ने अध्यात्म-निष्ठा नहीं पायी है। किंतु श्रद्धा के द्वारा बड़ी आसानी से अध्यात्म-निष्ठा पा सकते हैं। इतना ही नहीं, यह संसार में सर्वत्र देखा जाता है कि श्रद्धालु लोग शुद्धचरित्र और सद्गुण-निधि होकर सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं तथा बुद्धिशाली लोग चरित्रहीन और दुर्गुण-निधि होकर दुःख से दिन काटते हैं। गंगा एवं गंगोत्री तथा राम एवं रामेश्वर को ईश्वर-रूप अथवा ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न विशिष्ट वस्तु सिद्ध करने में शिष्ट परम्परा एवं पुराण-वचनों की श्रद्धा को छोड़ न्यायवाद या प्रत्यक्षादि प्रमाण समर्थ नहीं हो सकते। अतः इतिहास में ऐसी कई कहानियाँ देखी जाती हैं कि अनुमान-कुशल बुधजनों ने भी अध्यात्म-विषय की आकांक्षा में पांडित्य-गर्व को छोड़-छाड़कर श्रद्धादेवी की उपासना की है—

जो रामेश्वर दर्शन करिहैं।
सो तनु तजि मम धाम सिधारिहिं॥
जो गंगाजल आनि चढ़ाइहिं।
सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहिं॥

"जो जाकर रामेश्वर का दर्शन करता है वह शरीर छोड़कर वैकुण्ठ को पा लेता है। जो गंगाजल को रामेश्वर ले जाकर देव का अभिषेक करता है वह सायुज्य मुक्ति को पा जाता है।"

भक्ति से मदोन्मत्त हो तुलसीदास ने जब यह गान किया होगा तब वह पांडित्य-साम्राज्य से कितने ही नीचे उतर कर श्रद्धा के राज्य में विहार कर रहे होंगे—यह बताने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाए कि तर्क-कुशल महापंडितों ने भी केवल श्रद्धा पर ही अवलंबित होकर कई सिद्धान्त और कई परिभाषाएँ तथा कई ग्रंथ-रत्न निर्मित किये हैं। सच तो यह है कि श्रद्धा की लकड़ी के बिना अति विकट तथा दुर्गम अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाना बिल्कुल संभव नहीं है।

जब मैं गंगोत्री में जाकर रहा करता था, तब कभी-कभी किसी मार्ग-

हीन, शिलामय तथा अतिदुर्गम गंगा के किनारे से होकर गंगोत्री धाम से ऊपर की ओर अकेले ही चलते जाना मेरे लिये अति आनंददायक था। चित्त को महान् उन्मेष, शांति तथा उत्कृष्ट भावनाएँ प्रदान करनेवाले उन विशिष्ट गंगातट-विहारों को मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकता। मैंने एक बार अपने एक परिचित अति वृद्ध, विद्वान् महात्मा से प्रश्न किया था, जो कि गंगोत्री मन्दिर के ऊपर एक गुफा में रहते थे, "इस बुढ़ापे में यों एकाकी होकर इस गुफ़ा में रहने की क्या ज़रूरत है ? नीचे किसी सुविधाजनक स्थान पर जाकर क्यों नहीं रहते ?" तो उन्होंने धीरे और गम्भीर वाणी में जो उत्तर दिया था मैं कभी-कभी उसका स्मरण किया करता हूँ—"पुराणों का कहना है कि कई ब्रह्मर्षियों तथा राजर्षियों ने अपना अन्तिम जीवन गंगातट की की गुफ़ाओं में रहते हुए समाधि-वृत्ति में बिताया था और यहीं शरीर छोड़ दिया था। यों, मैं भी अपने आखिरी दिनों में योगवृत्ति का अनुष्ठान करते हुए यहाँ रह रहा हूँ। यहीं शरीर-त्याग करने की मेरी इच्छा है। मेरे सामने कोई कल्पना नहीं है। सतत ध्यान-निरत हो मैं दिन काट रहा हूँ। मुझे यहाँ किसी कष्ट या दु:ख का अनुभव नहीं होता। 'आनंद, आनंद' के सिवा यहाँ मेरे लिये कोई कष्ट होता ही नहीं।" उनके इस कथन का मैं अनुमोदन किये विना न रहा। गंगोत्री के निकट प्रदेशों में आज भी, इस कलिकाल में कई बड़े महात्मा दिखायी देते हैं।

हे हिमालय ! हे देवता-स्वरूपिन् ! आपका तो भाग्य है ही अतुलनीय। आपके भाग्य की उपमा संसार में कहीं नहीं मिल सकती। अपने एक ही जल-विन्दु से हमारे शरीर को परिशुद्ध बनाने वाली यह पुण्यसलिला एवं जगदेक-वन्दनीया भागीरथी आपकी पुत्री है। यह आप ही का परम सौभाग्य है कि आप इस लावण्यमयी मनोहारिणी पुत्री का अपनी गोद में पालन-पोषण कर आनन्दानुभूति प्राप्त कर रहे हैं। आपके इस अनुपम सौभाग्य पर किस पर्वत-राज को ईर्ष्या नहीं होगी ? आपकी शिरोमणि बनकर, आपको अत्यधिक सुशोभित करनेवाली, इस गंगोत्री के समान लोकोत्तर महिमामय पुण्यधाम भला और किस शैल-शिखर पर दिखायी देगा। दूसरे पर्वतों पर ऐसी गुफ़ाएँ कहां मिलेंगी, जो तत्त्वचिंतक तपोनिधियों का समाधि-स्थान हैं। ये गुफ़ाएँ उनके निवास के कारण कितनी शुद्ध पवित्र, शांत और सुप्रकाशित हैं ?

अहो अद्रि-राज ! आप के महाभाग्य तथा महिमातिशय्य का वर्णन कहाँ तक करें ? हे मातृभूमि ! आपकी महिमा निरुपम है ! इतना विशिष्ट

हिमशैल आप का उत्तमांग होकर विराजमान है तो आपके भाग्य की गणना कैसे की जा सकती है ? अहो स्वात्मन् ! इतनी सौभाग्यवती और इतनी विशिष्ट भारतभूमि ही आपकी प्रिया माता है तो आपके इस महान् भाग्योदय के लिए मैं आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

: २ :

दोपहर बीत रही थी और दो बज गये थे। भाद्रपद, आश्विन के महीनों में यहाँ यद्यपि मैदानों की तरह भयंकर गर्मी तो नहीं पड़ती तो भी आठ हज़ार फुट की ऊँचाई वाले पर्वत-खण्डों पर काफी तेज धूप पड़ती है। दिन होने के कारण रीछ आदि वन्य पशु अपने-अपने निवासस्थानों में आराम करते होंगे। चूँकि पास कोई गाँव नहीं है; इसलिए गायें आदि ग्रामीण पशु भी दिखायी नहीं देते। यद्यपि हिमालय के विचित्र कौए इधर उधर उड़ रहे हैं तो भी दूसरे कुछ मोहन पक्षी-विशेष पेट के भर जाने के कारण निश्चित होकर वृक्षों की शाखाओं पर बैठे विश्रान्ति-सुख का अनुभव कर रहे हैं। दोपहर का खाना खाकर हाथ में हँसिया लिये ऊँची आवाज़ में सुन्दर गीत गाती हुई पहाड़ी वनिताएँ उल्लसित होकर अपने दूर के खेतों की ओर चली जा रही हैं। भाँति-भाँति के शस्यों से समृद्ध ये खेत अति रमणीय तथा हृदयाह्लादकारी हैं।

इन वनिताओं को छोड़कर उस समय कोई भी उस प्रदेश की निर्जनता तथा निःशब्दता को भंग नहीं करता। मनुष्य से लेकर पक्षी तक सब प्राणियों को यह पर्वत नित्य प्रति निरंतर अन्न-जल देता है, और उल्लास तथा वात्सल्य के साथ उनका पालन-पोषण करता है। उस जगत्पिता विश्वंभर की इस सामर्थ्य के बारे में सोचकर मैं प्रायः आनंदित हो जाया करता हूँ। ज्यों-ज्यों यह सोचता हूँ कि सर्वदा हिम से ढके हुए हिमाद्रि-शिखरों की गुफाओं में रहने वाले पशु-पक्षियों को भी भगवान् प्रतिदिन खाना देकर उनका पेट आसानी से भर देते हैं, त्यों-त्यों मेरा विस्मय बढ़ता ही जाता है।

एकबार गंगोत्री की ओर एकाकी होकर चलते हुए यह साधु गंगोत्री से अठारह-बीस मील निचले प्रदेश में मार्ग के किनारे निर्झर के पास एक पेड़ के नीचे बैठा था। वह निर्जन, निःशब्द तथा नितान्त सुन्दर स्थान मेरे मन को सत्त्वभूमि की ओर ले जाकर आनंद देता रहा, तो भी क्षुधा-राक्षसी

का आक्रमण बीच-बीच में मेरे शान्ति-देवता को आकुल कर देता था। उस दिन मैं कुछ भी न खा सका था। मार्ग के पास एक गाँव में आकर यद्यपि मैंने भिक्षा माँगी थी, तो भी वहाँ से मैं कुछ नहीं पा सका था। परमात्मा की भक्त-वत्सलता में अति श्रद्धालु मैं यह जान लेने के लिए कि आज करुणा-विश्वंभर किस प्रकार इस साधु का पेट भरेंगे, बच्चों के समान कौतुक के साथ ललचाते हुए उस वृक्षमूल में ही विश्राम करता रहा। अभी वर्षा को अधिक समय न बीता था। अत: हिमालय की विचित्र प्रकृति-शोभा दर्शनीय थी, तथा क्षीर की भ्रान्ति देनेवाले गंगोदक की तत्कालिक कान्ति हृदयाह्लादक थी।

इस सौन्दर्य से अभिभूत होकर मैं यह भूल गया था कि अब आगे भी रास्ता तय करना है, और मैं वहीं कुछ देर तक बैठा रहा। लीजिए, एक सुदामा-सदृश पर्वतीय वृद्ध ब्राह्मण एक भारी बोझ पीठ पर लादे थका-माँदा, पसीने से तर उसी मार्ग से धीरे-धीरे चला आ रहा है। पीठ से बोझ उतारकर जलधारा के पास बैठ क्षुधा-पीड़ित वह भोजन के लिए अपने पाथेय की गठरी खोलने लगा। कुछ दूर पर एक सन्यासी को देख सारा भोजन अपने हाथ में लिये मेरे पास चला आया, प्रणाम किया और प्रार्थना करने लगा कि मैं इसमें से यथेष्ट स्वीकार करूँ।

उसकी भक्ति तथा उदारता देख मैं अति उल्लसित हुआ। मुझे ऐसा लगा कि साक्षात् ईश्वर ही पथिक के रूप में मेरी क्षुधा शांत करने के लिए आ उपस्थित हुए हैं। उसका भोजन बिना नमक के पकाया आलू मात्र था। मैंने उनकी इस आश्चर्यजनक आस्तिक्य-बुद्धि तथा धार्मिक भावना की मन-ही-मन प्रशंसा की। अहो दीनबन्धु! अपने खाने के लिये गाँठ में बाँधकर लाये भक्ष्य पदार्थ को स्वयं भूखे रह दूसरे की उदरपूर्ति के लिए दे देना संसार में कितना असाधारण है। किन्तु सच्चा त्याग और उत्तम दान यही है। स्वयं पेट भर खा-पीकर दूसरों को गर्व के साथ खिलाना-पिलाना यथार्थ त्याग या दान नहीं होता। अपने खाने के लिये बने भोजन को यदि कोई भिक्षुक आकर माँगे, तभी उस दाता की त्याग-महिमा तथा दान महिमा देखनी चाहिए। महाभारत के नेवले की कहानी तो प्रसिद्ध है। दानवीर धनियों द्वारा दानरूप में दी गयी धनराशि की तुलना में गरीबों का ऐसा दरिद्र-दान कितना मूल्यवान् होता है? उस निर्जन गिरि-शिखर पर ईश्वर से प्रेरित उस भक्ष्य-विशेष को मैंने थोड़ा-सा स्वीकार किया और भगवान् के प्रसाद-रूप में उसे खाकर तथा जल पीकर मैं तृप्त हुआ, और वहाँ से उठकर फिर आगे की ओर बढ़ता गया। तभी मेरे

मुख से निकला—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव॥
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

ईश्वर की शरण में विचरण करनेवाले भक्त जनों के योगक्षेम का यदि वह भगवान् ध्यान न रखें तो भगवान् शून्य वस्तु माने जाएँगे। यदि ईश्वर शून्य न हों और यदि ईश्वर पंचत्व को प्राप्त न हो गये हों तो उसके सबसे प्यारे भक्तजनों की कोई दरिद्रता, कोई विकलता या कोई हानि नहीं हो सकती।

गंगोत्री उत्तरकाशी से छप्पन मील की दूरी पर स्थित है। अत्यानंद-दायक पर्वतखण्डों से पवित्र तथा सतत दर्शन में भी तृप्ति न देनेवाले गंगाप्रवाह के किनारे-किनारे पूर्वोत्तर दिशा में जानेवाला यह मार्ग प्रकृति का दर्पण है। जो लोग इधर घूमने आते हैं वे भाग्यशाली और पुण्यवान् हैं। यद्यपि कुछ वर्ष पहले तक गंगोत्री-जम्नोत्री के मार्ग कुछ खतरनाक थे, किन्तु अब वे सब कठिनाइयाँ दूर हो गयी हैं और वे सुगम बन गये हैं। उत्तरकाशी से सताईस मील ऊपर पराशर आश्रम है। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि यह पवित्र स्थान व्यास के पिता, शक्तिपुत्र पराशर महर्षि का आश्रम था। गंगा की निकट-वर्तिनी यह तीर्थभूमि मेरे मन को अत्यधिक आकृष्ट करती है। इसलिए मैं गंगोत्री के आवागमन में यहाँ अधिक समय तक रहा करता हूँ।

यहाँ से ऊपर की ओर अत्युन्नत तथा हिमाच्छादित गिरि-शिखर शुरू हो जाते हैं। यह प्रदेश 'गंगाणी' कहलाता है। यहाँ से चौदह-पन्द्रह मील ऊपर 'हरसत्' नामक शोभन समभूमि है। वहाँ से तीन मील ऊपर की ओर गंगोत्री के पुजारी ब्राह्मणों का निवासस्थान 'मरच्चा' नाम का एक बड़ा गाँव है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह ग्रामभूमि प्राचीनकाल में पुराण-प्रसिद्ध मतंग महर्षि तथा मार्कण्डेय महर्षि का पुण्य आश्रम-स्थान थी। यह सर्वविदित है कि मतंग महर्षि नीच जाति में उत्पन्न हुए थे, किन्तु अपनी असाधारण तपःशक्ति एवं ज्ञान-महिमा से वे सर्वादरणीय पूज्य पद पर पहुँचे हुए एक विलक्षण व्यक्ति थे। एक व्याख्यान में भगवान् बुद्ध ने उनके विषय में कहा है—

"जन्म से कोई नीच नहीं होता, जन्म से कोई ब्राह्मण भी नहीं बन जाता। कर्म से ही कोई नीच होता है, कर्म से ही कोई ब्राह्मण बनता है।

मतंग नामक ऋषि श्वपाक जाति में जन्मा एक चाण्डाल था। यह मतंग अपनी महिमा से बहुत ऊँची ख्याति पा गया। अनेकानेक क्षत्रिय तथा ब्राह्मण उन के शिष्य बनकर उन की परिचर्या में तत्पर रहे।"

महात्मा मतंग महर्षि की पदधूलि से पवित्र इस मनोहर भूमि के पास 'धराली' नामक एक दूसरा स्थान है। इन स्थानों में मैं कभी-कभी कौतुहल-वश जाकर रहा करता था। हिमधवलित उच्च पर्वतों की तराई में गंगा के किनारे आठ हज़ार फुट की ऊँचाई पर वर्तमान इस प्रदेश की सुन्दरता तथा शांति सब प्राणियों को आकर्षित करती है। लीजिए, यहाँ से थोड़ी दूरी पर, जहाँ महर्षि का सुन्दर, महनीय आश्रम-स्थान है, सीधे तिब्बत की ओर, अर्थात् पश्चिम तिब्बत में स्थित कैलास पर्वत की ओर, एक अच्छा-खासा मार्ग निकलता है। इसी मार्ग पर अति उन्नत गिरि-पार्श्वों से होकर दिव्य देवदारु तरुओं की छाया तले बहती हुई गंगा के दर्शन करते-करते कुछ मील ऊपर की ओर चलें तो गंगोत्री नामक दिव्य धाम दीख पड़ता है। इसी मार्ग पर गंगा नदी का स्वर अति उच्च हो जाता है। क्योंकि यहाँ वह घने पर्वत-खण्डों के बीच में से होकर गुजरती है। दो उन्नत शिलोच्चय-पंक्तियों के बीच उच्च स्वर के साथ बहती हुई गंगा नदी यहाँ ऐसे प्रतीत होती है जैसे कोई बालिका अपने माता-पिता के बीच किलकारियाँ मारती दौड़ रही हो।

यह गंगोत्री धाम बदरी-केदारों के समान यद्यपि उतना बहुत विशाल स्थान नहीं है, फिर भी प्रकृति-शोभा में तो हिमालय के दूसरे धामों के बराबर ही है। गंगोत्री की पौराणिक महिमा का क्या कहना! जब गंगा की इतनी महिमा मानी गयी है, तो गंगा के उत्पत्ति-स्थान 'गंगोत्री' की महिमा तो अवर्णनीय है। पुराणों तथा इतिहासों ने बड़ी-बड़ी चमत्कृत आख्यायिकाओं एवं वर्णनों द्वारा भागीरथी की महान् प्रशंसा की है। यद्यपि विचारशील पुरुष यह नहीं मान सकते कि पौराणिक उपाख्यान तथा विवरण कई जगह यथाभूत अर्थों का प्रतिपादन करने वाले हैं, तथापि इस तथ्य का कोई निषेध नहीं कर सकता कि उन में यथार्थ तत्त्व अन्तर्निहित है।

इस समय मुझे एक पाश्चात्य दार्शनिक का यह मन्तव्य स्मरण आ रहा है कि अयथार्थ आख्यायिकाओं और विवरणों के बिना सत्य को उस के नग्न रूप में दुनियाँ के सामने रख देना असंभव है। अयथार्थ विवरणों के आवरण के बिना सत्य को असली रूप में, शुद्ध और अभिन्न रूप में, पा लेने

हिमगिरि के ऊँचे प्रदेशों में जाकर नहीं रह सकते। उन के लिए वह रुचिकर या प्रिय हो भी नहीं सकता। ऐसे एकांत गंभीर तथा विषय-विदूर प्रदेशों में उन लोगों का मन रम नहीं सकता जो सांसारिक वातावरण में लिप्त रहते हैं। महात्माओं का वैराग्यपूर्ण तथा विचारोन्मुख मन ऐसे देशों में अधिक संलग्न होता है। विषयचिन्ता या विषय-रमणीयता उन के मन को वहाँ से पीछे की ओर नहीं खींचती। विषयी लोगों का विषयमय जीवन साधु-महात्माओं के लिए नरक-दुःख है। दरिद्र जीवन, अर्थात् कष्टमय भिक्षु-जीवन उनके लिए स्वर्ग-सुख है। भगवान् बुद्ध के पिता ने रोष तथा भर्त्सना के साथ उन्हें कहा था—"तेरे भिक्षुक बनने और भिक्षा-पात्र हाथ में लिये भिक्षावृत्ति में अपनी राजधानी में यों घूमते रहने में क्या तू अपने राजकुल का अपमान नहीं समझता? तुझे तत्त्व-चिन्तन आदि करना हो तो राजोचित घर में

निवास किया। उसके बाहर मैंने किवाड़ लगा दिये थे। उसके बाद पत्थरों के गिरने से वह गुफा टूट-फूट गयी थी। तब एक सुरक्षित स्थान में देवदारु की लकड़ी से बनी एक कुटिया में रहने लगा।

यहाँ रहते हुए ऐसा करने में कौन-सी आपत्तिहै ?" इसका उत्तर गौतम बुद्ध ने विनम्र तथा हृदयस्पर्शी रीति से दिया था—"पूज्य पिताजी ! आप को प्रणाम ! मेरे भिक्षाटन से आप के कुल को कोई कलंक नहीं लग सकता। क्योंकि मैं हमेशा एक भिक्षु हूँ। मैं देखता हूँ कि मेरा कुल हमेशा भिक्षुओं का कुल रहा है। मेरा कुल राजकुल नहीं है। राजकुल होता तो मेरा मन उस में रम जाता।" भिक्षुक-संस्कृति के साथ वे राजकुल में पैदा हुए थे तो भिक्षुओं को छोड़ बुभुक्षितों के बीच में उनका मन कैसे रम सकता था ? वस्तुतः यह संस्कारों और वातावरण का ही प्रभाव है जो एक को तो भोगी तथा विषयी बना कर भौतिक जीवन की ओर, तथा दूसरे को तपस्वी बनाकर आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जाता है। यह परिभाषा अक्षरशः सत्य है कि महात्मा स्वयं बनते हैं, वे बनाये नहीं जाते।

●●

४. केदारनाथ

केदारनाथ एक बिलकुल नग्न विशाल मैदान है जहाँ तरुलता- गुल्मादि नाममात्र के लिए भी नहीं दिखायी देते। यह स्थान उत्तर में बड़े-बड़े श्वेत पाषाणों से तथा पूर्व और पश्चिम में तत्काल पिघले हुए हिम से लथ-पथ पर्वत-पार्श्वों से घिरा हुआ है। इसी मैदान के बीच एक छोटी नदी बह रही है, जो उत्तर दिशा के हिम-शिखर से निकलकर पाषाण-समूहों के बीच से गुज़रती हुई नीचे उतर आयी है। जो हिम-खण्ड नहीं पिघले वे चाँदी की चट्टानों की भाँति मैदान में इधर-उधर पड़े दिखायी दे रहे हैं। कुछ साधु और कुछ गृहस्थ यात्री जाड़े की अधिकता के कारण हाथ सिकोड़े और दन्तवीणा बजाते बड़े कष्ट के साथ जहाँ-तहाँ बैठे तथा चलते दिखायी दे जाते हैं। कहा जाता है कि गरमी गरमी से शान्त होती है। दो ही मिनटों में रक्त को जमा देने वाले उस नदी के अत्यंत शीतल-जल में कुछ लोग पीपल के पत्ते के समान थर-थर काँपते अपने शरीर को डुबो देते हैं, मानों वे शीत से शीत को शान्त करना चाहते हैं। लेकिन उधर पक्षी-वृन्द किसी शीत-बाधा के बिना आकाश में उड़ते हुए स्वच्छन्द विहार कर रहे हैं। सूर्य-किरणों के पड़ने से विस्तृत हिम-संहति स्वर्ण-शिखर के रूप में दिखायी देती है। इस मैदान में एक गंभीरता तथा एक अलौकिकता सी सर्वत्र छायी रहती है। यहाँ का वातावरण दिव्य और आध्यात्मिक है। इस वातावरण को देखते ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यही देवों और ऋषियों की पवित्र भूमि है। इस मैदान के उत्तरी छोर पर पत्थरों के बने एक-दो छोटे-छोटे देव-मंदिर हैं। इनको देखकर यात्रियों के मन में उत्साह तथा भक्ति उत्पन्न होती है। वे इनकी ओर आकृष्ट हुए चले जाते हैं। सचमुच यह भूभाग ही शांत, रमणीय एवं अलौकिक है।

इस केदारनाथ नामक लोकप्रसिद्ध पुण्य धाम का दर्शन मैंने सर्वप्रथम कुछ वर्ष पहले किया था। ज्येष्ठ मास के एक मेघहीन, निर्मल, सुप्रसन्न पूर्वाह्न में लगभग दस बजे प्रातः में यहाँ पहले-पहल पहुँचा था। उस अलौकिक भूमि में प्रविष्ट होते ही मेरे मन में आनंद तथा आश्चर्य की कोई सीमा नहीं

थी। समुद्र की सतह से बारह हज़ार फुट की ऊँचाई पर स्थित उस मंजुल स्थान पर चढ़ जाते ही शीत, क्षुधा, पिपासा आदि कितने ही विघ्नों के होने पर भी मेरा मन बाह्य तथा आन्तरिक रूप से भाव-समाधि में लीन हो गया। इन प्राकृतिक दृश्यों को देख कर मेरा हृदय कितना उल्लसित हो गया था—मैं इसका वर्णन नहीं कर सकता। तेईस हज़ार फुट की ऊँचाई पर पहुँच कर मैंने जब अपने-आप को इन अत्याकर्षक, रमणीय, ऊँची उठी हुई, धवल-धवल पर्वत-पंक्तियों के बीच खड़ा और घिरा पाया तो मुझ में सत्त्वभाव उमड़ आया। ईश्वर की अखंड-विभूति को देख-देखकर मैं अतृप्त ठगा-सा रह गया, और न जाने कितने समय तक यों ही प्रकृति के अनुपम सौंदर्य को निहारा करता था।

कुछ इतिहास-वेत्ताओं का कहना है कि इस एकांत विचित्र मैदान में पांडवों ने ही पहले-पहल केदारनाथ की स्थापना करके मंदिर बनाया था। यह भी विश्वास किया जाता है कि कालांतर में श्री शंकराचार्यपादों ने उस मंदिर का संस्कार किया था, तथा वहाँ दक्षिणात्य शैवों को पुजारी नियुक्त किया था। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि शंकर के अवतार शंकर भगवत्पाद इसी पुण्यधाम से इहलोकवास छोड़कर अपने धाम कैलास चले गये थे।

इसी मन्दिर के अन्दर पृथ्वी के आन्तरिक भाग से आविर्भूत एक विशाल वृत्ताकार शिलापिंड है, जिसे केदारनाथ-मूर्ति के रूप में पूजा जाता है। सर्वव्यापी, सच्चिदानंदघन अन्तर्यामी ईश्वर से लेकर पत्थर, मिट्टी और पेड़ तक सब की पूजा करना अनुचित नहीं है। क्योंकि सब ईश्वर-स्वरूप ही हैं। इस संसार में ईश्वर- स्वरूप से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। यही कारण है कि विष्णु, रुद्र आदि के समान काष्ठ-पाषाणादियों की भी जब ईश्वर के रूप में श्रद्धा-भक्ति के साथ उपासना की जाती है तो उपासक को उसका शुभ-फल अवश्य प्राप्त हो जाता है। सर्वत्र ईश्वर है— इसी एक मूल भावना को अपना लेने पर हमें संसार का कोई भी धर्म या मत असत्य अथवा निष्प्रयोजन नहीं दीखेगा। सभी धर्मों के प्रति आस्था जगेगी। हम उदार-हृदय बनेंगे। जो लोग सनातन हिन्दू-धर्म पर यह आरोप लगाते हैं कि वह एक ईश्वर को नहीं, अनेक ईश्वरों को मानता है, वे सनातन धर्म के इस सिद्धांत-रहस्य के प्रति अज्ञ हैं कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का शरीर ही तो है।

श्री केदारमूर्ति देखने वाले के हृदय को भावाविष्ट बनाकर अपने में

लीन कर देती है। उस दिव्य भूमि में जा खड़े होते ही व्याकुल-चित्त मानवों की सैकड़ों व्यथाएँ एकदम मिट जाती हैं। विषयी लोगों की विषय-संबंधी सैकड़ों कल्पनाएँ वहाँ पहुँचते ही तुरन्त गायब हो जाती हैं। यह स्थान आनंद-रस परिपूर्ण है। उस स्थान में ऐसी मलिनताओं का कोई स्थान नहीं है। यहाँ आस्तिक-नास्तिक का भेद-भाव मिट जाता है। सचमुच अलौकिक ही है यह दिव्य भूमि !

यहाँ गंगा नदी अति तीव्र वेग से बहती है। यही कारण है कि इसमें स्नान करने का साहस बड़े श्रद्धालुओं को छोड़ और किसी को नहीं हो सकता। हिमाद्रि की ऊँचाई के निर्झरों को निमज्जन करना सचमुच एक कठिन तपस्या है। लेकिन श्रद्धा कठिन कार्यों को भी सरल बना देती है। जब मन में श्रद्धा से उत्पन्न उष्णता हो तो मंदाकिनी का जल भला कैसे शीतल लगेगा ? शुद्ध तथा सात्त्विक श्रद्धा बड़े ही पुण्य का फल है। पापी लोगों के मन में श्रद्धा का उदय नहीं होता। मनुष्य संसार में जिस दिन जन्म लेता है वह उसी दिन मरण-दिवस को अपने सिर पर लिये आता है। किन्तु वह बड़ा होकर यह भूल जाता है कि मृत्यु अवश्यंभावी है। दिन-प्रतिदिन अनेकानेक प्राणियों को अपनी आँखों के सामने मरते हुए देखकर भी वह अभिमानी बना रहता है। जिस प्रकार ह्वेल के मुँह में मछलियाँ बाल-बच्चों के साथ खेला करती हैं, उसी प्रकार ये साँसारिक लोग भी मरण-पिशाचिका के भयानक वदन-गह्वर में पत्नी-पुत्र तथा नाम-धाम के साथ आनन्दानुभव करते रहते हैं। उनके कान में ऋषियों का यह गान—

> किं ते धनेन किमु बंधुभिरेव वा ते,
> किं ते दारैर्ब्राह्मण ! यो मरिष्यति।

—प्रविष्ट नहीं होता। इस प्रकार ये पापी जन देह-धन आदि में चित्त को आसक्त बनाये रखते हैं। वे परलोक एवं आध्यात्मिक तपस्या में श्रद्धा नहीं रखते। जिनके पास पापों का ढेर लग गया हो, उन्हें पारलौकिक पुण्य-क्रियाओं एवं आत्म-शुद्धि की तपश्चर्याओं में आस्तिक्य-बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती। वे तो इन सबकी खिल्ली उड़ाते हैं। मैंने एक ओर तो उन सौभाग्य-शाली विदेशी गोरों को देखा है जो भक्तिपूर्वक गंगा के ठंडे जल में उतरकर डुबकी मारते हैं, और दूसरी ओर ऐसे दुर्भाग्यशाली हिन्दुओं को भी देखा है जो गंगा-जल को छूते तक नहीं, गंगातट पर बने देव-मन्दिरों में झाँकते तक नहीं, पर गंगा के किनारे उल्लसित हो घूमते रहते हैं। इस विलक्षणता का क्या

केदारनाथ की ओर जाता है। इस मार्ग की सुन्दरता तथा महिमा भी अनुपम है। जलधाराएँ पाषाण-समूह से टकरा-टकरा कर मानो यहाँ की शोभा का वर्णन उच्च स्वर से श्रोताओं को सुना रही हैं। उस महान् प्रभु की महिमा को साधारण लोग नहीं जान सकते। वह सौन्दर्य-मूर्ति, सर्वशक्तिमान भगवान सब कहीं हैं। पत्थर, मिट्टी, जल और वन सब में प्रकाशमान है। फिर भी अहंकारी व्यक्ति उस सर्वत्र स्फुट प्रकाशमान भगवान को देखकर आनन्द भोगने में समर्थ नहीं होते। बुद्धि, इन्द्रिय तथा देह में अहं का अभिमान ही अहंकार है। अहंकार में डूबते-तड़पते एक पापात्मा की अशुद्ध-बुद्धि में ईश्वर का दर्शन नितान्त असम्भव है।

मंदाकिनी के रमणीय तट पर 'गौरी कुण्ड' नामक एक और उल्लेखनीय स्थान है। यह कुण्ड गंधकमय पाषाणों से निकलने तक जल से परिपूर्ण है। इस अति शीतल प्रदेश में तप्त जलाशयों का मिल जाना यात्रियों के लिए अति सुखद है। बड़े बूढ़ों का कहना है कि जब शंकर भगवत्पाद अपने शिष्यों के साथ पहले-पहल केदारनाथ पहुँचे थे, तो उन्होंने देखा कि शीत की अधिकता के कारण उनके शिष्यों को स्नानादि करने में कष्ट होता है। उनके कष्टों को दूर करने के लिए उन्होंने अपनी संकल्प-शक्ति से ये कुण्ड बनाये थे। विद्यारण्य स्वामी जी की लिखी जीवनी 'शंकर-दिग्विजय' नामक ग्रंथ में भी इस घटना का उल्लेख मिलता है।

लीजिए, अब हम केदारनाथ पहुँच गये हैं। भक्तों के आनन्द की कोई सीमा नहीं है। 'केदारनाथ की जय' की पुण्य-ध्वनि से आकाश-मण्डल मुखरित हो उठा। केवल दृश्य-दर्शन के लिए आये रसिकों का आनन्द भी उच्च' सीमा तक पहुँच गया है। भक्तजन निःशंक मंदाकिनी में गोता लगाकर, जल-पात्र में जल लिये तथा कुछ पुण्य-पुष्पों को पाकर पूजा के लिए 'हर हर महादेव' के शब्द-घोषों के साथ मंदिर में प्रवेश कर रहे हैं। यात्री दूर-दूर से अनेक कष्टों को सहकर यहाँ आ पहुँचे हैं। वे केदारनाथ की मूर्ति के दर्शनोत्सुक हैं। मंदिर के दरवाजे पर स्त्री-पुरुष—छोटे-बड़े—सबकी भीड़ लगी हुई है। अहो विचित्र! प्रेम संसार भी कितना महिमामय है। प्रेम की मधुरिमा के समान उसकी प्रेरणाशक्ति भी बलवती होती है। अलौकिक कल्पना-शक्ति के लोक-वन्दनीय वाल्मीकि, व्यास, कालीदास आदि साहित्यकारों ने इस महा विचित्र प्रेम के एक-एक कण को ही अपने स्थायी ग्रंथों में स्थान दिया है। प्रेम ही भक्ति है। प्रेम और भक्ति भिन्न पदार्थ नहीं हैं। प्रेम के अनेक रूप हैं। अपने से उत्कृष्ट

वस्तुओं के प्रति प्रेम का नाम भक्ति है । निकृष्ट जीवों के प्रति प्रेम का नाम दया है, और समान जीवों के प्रति प्रेम स्नेह कहाता है। देवता और ईश्वर के प्रति चित्त को पिघला देने वाला अनुराग विशेष ही तो भक्ति है। ईश्वर-चरणों में शुद्ध भक्ति पैदा होने से ही मनुष्य-जन्म कृतार्थ एवं चरितार्थ होता है।

○●

५. बदरीनाथ

सन् १९२४ में मैंने पहले-पहल केदारनाथ से बदरीनाथ की यात्रा की थी। उस यात्रा में मैं बहुत दिनों तक वहाँ नहीं रह सका था। परन्तु सन् १९३० में दूसरी बार तथा सन् १९३१ में तीसरी बार हृषीकेश से सीधे बदरीपुरी जाने और उन अवसरों पर वहाँ कुछ महीनों तक तपोवृत्ति में निवास करने का मुझे सौभाग्य मिला।

बदरीकाश्रम आदि हिमाद्रि-शिखरों में विराजित एक पुण्यधाम में रहते हुए मुझे सदा यही प्रतीत होता था कि माया की क्रियाशक्ति सर्वत्र समान रूप से कार्य कर रही है। प्रशांत, एकांत और निगूढ़ स्थानों में भी यह क्रिया-शक्ति प्रक्षीण दिखायी नहीं देती। तृण, पौधे, वृक्ष और लताएँ फल-फूल रही हैं; पर्वतों से जल-धाराएं प्रवाहित हो रही हैं; नदियाँ बह रही हैं; वायु चल रहा है; सूर्य प्रकाशित हो रहा है। जब जड़-वर्ग यों सर्वदा व्यापारोन्मुख है तो चेतन-वर्ग की बात ही क्या कहनी है? पक्षी उड़ रहे हैं, चहक रहे हैं; पशु मैदानों में विचर रहे हैं, विहार कर रहे हैं, विश्राम कर रहे हैं। मनुष्य भी अपने-अपने कामों में संलग्न हैं। सर्वत्र कर्म ही कर्म है। कर्म वस्तुतः संसार का सहज स्वभाव है। क्रिया-शक्ति अर्थात् प्राण-शक्ति, सभी शरीरों अनवरत चलाती रहती है। अकर्मण्य भाव होता ही नहीं। इच्छाहीन उपशांत निर्विकल्प भाव कठिन होता है। कर्म देहेन्द्रिय का व्यापार है। विषयजन्य सुख-दुःख का जनक है। इस कर्मरूपी धारा का अतिक्रमण किये बिना निर्विकल्प भाव के बिना स्वरूप-सुख भासित नहीं होते। लेकिन कर्मधारा को पार करना माया का अतिक्रमण करना है। किन्तु माया का अतिक्रमण कर सकना कठिन है: "मम माया दुरत्यया"। बदरीकाश्रम जैसे पवित्र स्थानों में भी माया का अतिक्रमण करके परम ब्रह्म की प्राप्ति कर सकना कितना ही दुर्लभ और दुष्कर होता है। चाहे कोई महात्मा कितना ही समाधि में लीन हो तो भी इसके मन व इन्द्रियों को प्रचण्ड शक्ति महामाया मन्द लगती है। एकनिष्ठ ज्ञानी-विरागी और महाभाग्यवान् व्यक्ति को छोड़ कर और कोई व्यक्ति चाहे कहीं भी चला जाए, कितने ही ऊँचे हिम-शृंग पर पहुँच जाए—तो भी विश्व

मोहिनी माया शक्ति का वह अतिक्रमण कर नाम-रूप-क्रिया-शून्य समाधि में संलग्न नहीं हो सकता।

बदरिकाश्रम नर-नारायण नामक पर्वतों के बीच अलकनन्दा-तट पर विराजित है। कहा जाता है कि नर और नारायण ने यहीं तपस्या की थी। इन्हीं के नाम पर इन पर्वतों का भी यही नाम पड़ गया है। प्राचीनकाल में यहाँ भी ऋषि लोग रहा करते थे। यज्ञ आदि रचाते थे। किन्तु अब केवल कुछ देव-मंदिर हैं, जिनमें पुरोहितों और यात्रियों के लिए निवास-स्थान बने हुए हैं। खाद्य-पदार्थ आदि की बिक्री के लिए छोटी-छोटी दुकानें हैं। यहाँ ऐसे ब्राह्मण भी हैं जो यात्रियों से दान-दक्षिणा के लिए झगड़ते रहते हैं। बदरिकाश्रम का यह रूप प्राचीन रूप से कितना भिन्न है।

बदरीवन के दो मुख्य तीर्थ हैं—'तप्त-कुण्ड' तथा कुछ दूर पर स्थित 'ब्रह्मकपाली'। बदरीनारायण का मंदिर भी उन्नत स्थान पर तप्तकुण्ड के पास सुशोभित है। मंदिर में 'श्रीनारायण' के पास बदरीवन के पूर्व-निवासी 'नर-नारायण' भी प्रतिष्ठित हैं। इनके अतिरिक्त एक छोटे मंदिर में श्रीशंकराचार्य की मूर्ति प्रतिष्ठित है। किन्तु यहाँ व्यास, शुक, गौडपाद आदि ऋषियों के नाम पर बने हुए मन्दिर नहीं हैं, जो कि यहाँ आकर रहे थे।

बदरीनाथ का मंदिर अलकनंदा के दक्षिणी किनारे पर है। इसके अन्दर, बदरीनारायण की सन्निधि में पहुँच कर, उस मंजुल दिव्य-मूर्त्ति के दर्शन करते ही, मन की सारी मलिनता दूर हो जाती है। मन अत्यन्त आनन्द को प्राप्त कर भक्ति में लीन हो जाता है। बदरीनाथ की मूर्त्ति विविध भूषणों से विभूषित है। कई रंगों की कमनीय कुसुम-मालाओं से अलंकृत देदीप्यमान है। उसके देखते ही मन उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। बदरीनाथ के मंदिर में मैंने जब एक केरलीय नंपूतिरी को मुख्य पुजारी के पद से देवताराधना करते देखा तो मुझे केरलीय की आँखों के आगे गुरुवायूर[1] आदि (केरल) के मन्दिर का दृश्य नाच उठा, और मेरा मन अभिमान और आनंद से पुलकित हो उठा। इसी मंदिर के पुजारी जी को 'रावलजी' कहा जाता है। मैं इन्हीं पुजारी जी के साथ बदरीनाथ की पूजा के विषय में, केरल के साथ इस प्रकार की पूजा के चिरन्तन सम्बन्ध के विषय में, तथा बदरीनाथ के इतिहास के विषय में कभी-कभी चर्चा किया करता था। एक केरलीय होने के कारण वस्तुतः मैं बड़े

---

१. गुरुपवनपुर

गर्व के साथ श्री शंकरपादों की महामहिमा का वर्णन किया करता था। यह प्रसिद्ध है कि बदरिकाश्रम में नारायणगिरि के नितंब देश पर श्री शंकराचार्य ने ही श्री नारायण-मूर्त्ति की स्थापना की थी। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शंकर का सजातीय एक नंपूतिरी कब से बदरीनाथ में पूजा करने लगा था। अहो! शंकर का चरित्र कितना अलौकिक तथा अद्भुत है। श्री शंकर की विचारणा-शक्ति तथा कर्म-कुशलता अतुलनीय थी। इस संसार में उनके समान एक सर्वतन्त्र-स्वतंत्र, अलौकिक क्षमता-संपन्न, दार्शनिक, धुरंधर तथा महोद्यमी, कर्मवीर, धर्म-योद्धा बहुत कम अवतार लेते हैं। जब हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी अल्प आयु में कई प्रौढ़तर ग्रंथों की रचना की, अनेक गुरु-गम्भीर धार्मिक कृत्य किये, तो ऐसा आभास होने लगता है कि वह शंकर तो साक्षात् शंकर के अवतार थे। किन्तु खेद तो इस बात का है कि इतने बड़े महात्मा, सनातनधर्म के उद्धारक और जगद्गुरु श्री शंकर की महिमा को तथा उसके जीवन-वृत्त को भारतवर्ष के अधिकतर लोग भलीभाँति नहीं जानते। वस्तुतः इसके लिए हम भारतीय जनों की अपेक्षा वर्तमान शिक्षाक्रम ही अधिक उत्तरदायी है। मातृभूमि के महान् पूर्वपुरुषों के शोभायमान जीवन-चरित्र को समझने और उनके पुण्यमय जीवन को आदर्श बनाने में जो शिक्षा प्रोत्साहन नहीं देती, वह यथार्थ शिक्षा नहीं हो सकती।

इस प्रकार बदरिकाश्रम में केरलीय पूजाक्रम आदि बातों को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि 'बदरीश' भी गुरुपवन-पुराधीश के समान केरलीयों का ही परदेवता है। फिर भी, प्राचीनकाल के समान केरलीय अब भी अति दुर्लभ रूप में ही बदरिकाश्रम जाकर बदरीश के दर्शन कर पाते हैं। केरलीयों के लिए भारतवर्ष के दक्षिणी छोर से हिमगिरि-शिखर की ओर यात्रा करना अब भी दुष्कर बना हुआ है। यद्यपि यहाँ की यात्रा कठिन है। किन्तु यहाँ पहुँचकर अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है। इहलोक और परलोक को सुधारने की कई उत्कृष्ट शिक्षाएं भी यहाँ हमें मिलती हैं। यह उत्तराखण्ड ईश्वरीय तेज से अत्युज्ज्वल रूप में शोभित है। इसके दर्शन से वासनाएं मिट जाती हैं। नास्तिक मन भी आस्तिक बन जाता है। यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य प्रशांत, गंभीर और नितांत निश्चल है। यहाँ के वातावरण से कितने मलिन मन शुद्ध तथा ध्यान-निरत बन जाते हैं। वस्तुतः यह हिमालय-प्रदेश ज्ञान-भूमि है; दक्षिणी प्रदेश के समान कर्मभूमि नहीं हैं। यहाँ यह विश्वास दृढ़ हो चुका है कि ब्रह्म को छोड़कर और कोई वस्तु नहीं है। सौहार्द और सम्भावना का विचार

यह तो प्रसिद्ध है कि व्यास तथा शंकर ने अपने सब मुख्य ग्रंथ बदरिकाश्रम में ही लिखे थे। ऐसे ही यह विश्वास किया जाता है कि गौडपाद ने भी बदरिकाश्रम में इसी शिला पर बैठ चिन्तन करते हुए माण्डूकोपनिषद् के विवरण-रूप कारिकाओं की रचना की थी। एक परम्परा-प्रसिद्ध बात यह भी है कि श्रीशंकर गौड़पाद से बदरिकाश्रम में मिले थे। गौड़पाद ने उस समय स्वरचित माण्डूक्य कारिकाएं श्री शंकर को दी थीं, ताकि वे गौडपाद के विचारों की व्याख्या करते हुए उन पर अपना भाष्य लिख सकें। भारत माता के ललाट पर कुंकुम-तिलक के समान प्रशोभित उस गौडपाद-शिला पर मैं कभी-कभी शाम को अकेले जाकर बैठता था और उस समय मेरा मन भक्ति तथा गर्व से प्रफुल्लित हो जाता था।

: २ :

महाभाग, वीरव्रत, धर्ममूर्ति युधिष्ठिर आगे ही आगे कदम बढ़ाते हुए जिस पुण्य देश से इन्द्र-सारथी मातलि द्वारा स्वर्ग की ओर ले जाये गये, वह 'स्वर्गारोहिणी' नामक प्रसिद्ध दिव्यभूमि बदरीनाथ से पन्द्रह-सोलह मील पर स्थित है। यह प्रसिद्ध है कि वे बदरीनाथ के रास्ते हिमाद्रि के ऊपर चढ़ते गये थे। जब मैं बदरीनाथ में था, तब आषाढ़ मास में मैंने उस मार्ग से यात्रा की थी। यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य की सुषमा ही नहीं, पौराणिक महापुरुषों के प्रति श्रद्धा-भक्ति भी मुझे ऐसे दुर्गम प्रदेशों का दर्शन करने की प्रेरणा देती थी।

जिस पर्वत की पूर्वी तराई में बदरीपुरी विराज रही है, उसी पर्वत की पश्चिमी तराई से ऊपर की ओर चढ़ते जाने पर 'नारायण पर्वत' नामक स्थान पर पहुँच जाते है। बदरी-मंदिर से अलकनंदा के किनारे-किनारे विशालता में फैले हुए मैदान से होकर करीब तीन मील तक सीधे उत्तर की ओर यात्रा करें तो वहाँ 'माना' नामक एक ग्राम आ जाता है। यद्यपि अब यह ग्राम कुछ अशिक्षित कृषकों और व्यापारियों का निवास-स्थान है, तथापि यहाँ ऐसे चिह्न भी मिल जाते हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि पूर्वकाल में यह प्रदेश ऋषि-मंडलियों से मंडित होगा। केशवावतार बदरीनारायण महर्षि जिस स्थान पर विराजमान थे—वह व्यास-गुहा, महाभारत आदि ग्रंथों की रचना के लिए उन्होंने गणेश का आह्वान करके जहाँ पूजा की थी—वह गणेश-गुहा तथा श्रीकृष्ण के आदेशानुसार मुचुकुन्द राजा अन्ततः जहाँ रहते थे—वह

मुचुकुन्द-गुहा, तथा अन्य कई रमणीय गुफ़ाएँ इस गाँव के पास आज भी विद्य-मान हैं। वैशाख से कार्तिक तक के महीनों में कई साधु-महात्मा इन्हीं गुफ़ाओं में आकर तपोवृत्ति में रहा करते हैं।

पश्चिमोत्तरी हिमसंघात से बहती आनेवाली अलकनंदा तथा सीधे उत्तर की ओर से देवसरोवर से निकल आनेवाली सरस्वती का संगम यह पुण्य-स्थान पुराणों में 'केशव-प्रयाग' कहलाता है। इस केशव-प्रयाग से सरस्वती के किनारे से अठारह हज़ार फुट ऊपर स्थित 'माना पास' को पार करते हुए तिब्बत की ओर एक मार्ग जाता है। उस मार्ग को छोड़कर अलकनंदा के किनारे से सीधे पश्चिम की ओर कुछ दूर यात्रा करें तो वहाँ 'वसुधारा' नामक प्रसिद्ध तीर्थस्थान आ जाता है। हिमाच्छन्न शिखर से ऊँची आवाज़ के साथ गिरनेवाली दो जलधाराएँ 'वसुधारा' कहाती हैं।

'वसुधारा' से हिम-सेतु का अतिक्रमण करके, अर्थात् अलकनंदा नदी के ऊपर विशाल रूप में फैली हुई हिम-शिलाओं से होकर, उस सुर-नदी के पार पहुँचकर कुछ दूर पश्चिम की ओर प्रयाण करें तो वहाँ 'लक्ष्मीवन' नामक एक अति सुन्दर स्थान आ जाता है। लाल रंग की छाल से ढके भूर्जवृक्षों, रंग-बिरंगे विकसित कुसुमों से भरे छोटे-बड़े नाना प्रकार के पौधों से परिपूर्ण उस वन की शोभा को देखकर यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि यह वन साक्षात् लक्ष्मीदेवी का विहारोद्यान है। परमात्मा के कर-कौशल के विषय में सोचते-सोचते, तथा उस उपवन का सुषमा-विलास देखते-देखते मेरा मन अत्यधिक आनंदित हुआ था। कई पुष्पों को तोड़कर मैंने उन्हें श्रद्धा और उत्साह के साथ सूंघ लिया और सिर पर रख लिया। यह तो सर्व-विदित है कि हिमाच्छन्न हिमगिरि के शिखरों पर जब हिम पिघलता है तो यहाँ आषाढ़, श्रावण और भाद्र मासों में कई प्रकार के दिव्य पौधे उत्पन्न होते हैं जो मैदानी इलाकों में देखने को भी नहीं मिलते। यही पौधे जब पुष्पित हो उठते हैं तो केवल मनुष्यों के ही नहीं, अपितु पशुओं के भी मन को आकृष्ट कर लेते हैं। अज्ञ लोगों के लिए तो ये केवल साधारण पौधे होते हैं, किन्तु विज्ञ जनों के लिए ये दिव्यौषधियाँ हैं।

यहाँ से नारायण पर्वत के पश्चिमी पार्श्व से होकर दक्षिण की ओर जाना है। यहाँ से ऊपर मार्ग का कोई चिह्न नहीं दिखायी पड़ता। पाषाण-संचयों और हिम-संहतियों का सामना करते हुए ऊपर चलते जाना है। अत्युन्नत नारायण पर्वत के शिखर से कितनी अत्यंत मनोहारी जलधाराएँ यात्रियों के

मन को हठात् आकृष्ट कर लेती हैं। इन प्रपातों को सनातन-धर्मी हिन्दू लोग न जाने कितने युग-युगों से पवित्र तीर्थ समझते आ रहे हैं।

× × ×

अहा ! युधिष्ठिर का वैराग्य लोक-विलक्षण है। ज्यों-ज्यों यह विचार आता है कि राजसिंहासन का सुखानुभव करनेवाले कोमल-गात्र पाण्डु-पुत्र एकाकी होकर, इतने दुर्गम तथा भयानक स्थानों से होकर कैसे चढ़े होंगे, त्यों-त्यों आश्चर्य बढ़ता जाता है। अहो ! वैराग्य की महिमा अपार है। वैराग्य के उदय के साथ ही सुकुमारता और कठिनता में; दुर्बलता और प्रबलता में भीरुता और शूरता में तथा दुःख और सुख में कोई अन्तर नहीं रहता। वैराग्य दुष्कर महाकार्यों को भी सुकर बना देता है। लौकिक विषय में तृष्णा के अभाव को वैराग्य कहते हैं।

इस प्रकार अशेष विषयों में वितृष्णा को पा जाने वाला व्यक्ति संसार में विरला ही दीख पड़ता है। तृष्णा का जन्म अनेक कारणों से होता है। यदि एक निमित्त न हो तो दूसरा निमित्त तृष्णा की उत्पति करता है। अर्थात् एक पदार्थ की तृष्णा शान्त हो तो दूसरे पदार्थ की तृष्णा उदित हो जाती है। यदि स्त्री-तृष्णा नष्ट हो तो धन-तृष्णा प्रज्वलित रहती है। धन-तृष्णा उपशांत दीखती है तो शारीरिक सुखों को भोग करने की तृष्णा जाग उठती है। देहासक्ति शान्त होती है तो यश और प्रतिष्ठा की तृष्णा एक सिंहनी के समान हृदय-गह्वर में गरजने लगती है। संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो काम-किंकरता से मुक्त होने पर भी धन के पीछे दिन-रात दौड़ते-फिरते हैं, अथवा कामिनी-कंचन की आशा छोड़ देने पर भी शारीरिक मोह में पड़े रहते हैं। ऐसे लोग भी संसार में दुर्लभ नहीं हैं जो जीवन की इच्छा को छोड़कर आदर-प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसकी प्राप्ति के लिए भगीरथ प्रयत्न करते हैं। यश की आकांक्षा बड़े-बड़े विवेकी विद्वानों को भी मोहित कर देती है। नाम-महिमा के प्रकृतिसिद्ध लोभ को रोक लेना सामान्य पुरुष के लिए संभव नहीं है। सब कुछ जीता जा सकता है, पर आत्म-महिमा फैलाने की इच्छा को—संस्कार-जन्य रूप से स्वतःप्रेरित यशोभिलाषा को—जीतना कठिन है। यश की अभिलाषा एक विवेकशील धीर पुरुष के लिए महान् शत्रु है।

जो लोग यह मानते हैं कि कीर्ति-कामना सामाजिकाभिमान अथवा देशाभिमान अथवा धर्माभिमान के समान एक शुद्ध भावना है, वस्तुतः वे मानव-प्रकृति से अनभिज्ञ हैं। जो व्यक्ति देशीय या धार्मिक कार्य में इसलिए संलग्न

फिर भी वे श्रीकृष्ण और श्रीवेदव्यास के प्रेममय उपदेशों को अस्वीकार नहीं कर सके। इसलिए उन्होंने उस समय सन्यास स्थगित कर दिया, और प्रज्वलित वैराग्य-वह्नि को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये विना वे राज-कार्यों को सँभालते रहे।

इस प्रकार कुछ दिन वीत गये। तव उन्होंने सुना कि किन्हीं आन्तरिक कारणों से यदुकुल का नाश हो गया है तथा श्रीकृष्ण परलोक सिधार गये हैं। अव उनका वैराग्य जो पहले से ही प्रज्वलित था पहले की अपेक्षा अधिक धधक उठा। कालरूपी काल-सर्प से ग्रसित इस संसार की अस्थिरता तथा असारता के वारे में वे अत्यन्त विचारमग्न हो गये। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वह महाप्रस्थान के द्वारा लौकिक व्यापारों को समाप्त कर देंगे। फिर वह महाप्रस्थान के लिये तैयार होकर चल पड़े। भीम प्रभृति भाइयों तथा द्रौपदी ने भी उनका अनुगमन किया। हिमालय के हृदय-देश से वे उत्तर की ओर चले गये। नर-नारायणों के तपःस्थान वदरिकाश्रम को पार कर उन्होंने ऊपर की ओर प्रयाण किया।

"लीजिए, द्रौपदी जमीन पर गिर पड़ी"—भीम का यह वचन सुनकर युधिष्ठिर ने पीछे की ओर देखे विना और गति को रोके विना केवल इतना ही कहा—"अर्जुन में उसका पक्षपात ही इसका हेतु है", और वह आगे बढ़ते गये। इसके वाद भीम ने जल्दी ही सहदेव के पतन का समाचार सुनाया। युधिष्ठिर यह उत्तर देते हुए कि "अपने समान और किसी को बुद्धिमान् न समझने का अभिमान ही उसके पतन का कारण है", निश्चिन्त रूप से वे चलते चले गये। इस प्रकार क्रमशः सभी भाइयों के गिर जाने पर युधिष्ठिर असहाय एवं एकाकी होकर इन्हीं हिमावृत, महाविकट, अति कठिन हिमाद्रि-श्रृंगों पर जहाँ केवल मनुष्य की नहीं अपितु प्राणि-मात्र की यात्रा निरुद्ध है—बिना पीछे की ओर देखे आगे ही आगे प्रयाण करते रहे।

देखिए, धर्मात्मज की वैराग्य-संपत्ति ! युधिष्ठिर के धैर्य तथा वीरव्रत की उपमा के योग्य और कोई धैर्यवान् एवं वीरव्रती व्यक्ति न तो पौराणिक चरित्रों में और न ही आधुनिक चरित्रों में मिल सकेगा। पुण्यात्मा युधिष्ठिर, अपने अन्तिम काल में जिस मार्ग पर इतने वैराग्यभाव तथा इतने धैर्य के साथ आगे वढ़ते चले गये, आओ उसी पुराण-प्रसिद्ध महाप्रस्थान मार्ग का हम भी अनुगमन करें।

× × ×

ही महोन्नत पर्वत बनकर मेघमंडल को चीरते हुए दिखायी देते हैं। ईश्वर ही इस शीत मारुत के रूप में प्रचण्डता से चल रहे हैं। स्फटिक-निर्मल निर्झरों के रूप में बहनेवाला भी ईश्वर ही है। यह जो कुछ दिखाई देता है, सब-कुछ ईश्वर ही है। समग्र हिमालय ईश्वर है। हिमालय ही नहीं, समस्त भूमण्डल भी ईश्वर है। सारा ब्रह्माण्ड ही ईश्वर है। ईश्वर को छोड़ और कोई वस्तु नहीं। ईश्वर की सत्ता में सभी वस्तुएँ जीती हैं। ईश्वर की सुन्दरता में सभी वस्तुएँ और भी अधिक सुन्दर बन जाती हैं। इस प्रकार हिमकूटों में, सर-सरिता में, मिट्टी-काँटों में, हवा-धूप में, सुख-दुःख में सर्वत्र परमात्म-महिमा का ही साक्षात्कार करते हुए मैं उस दिव्यभूमि के अकृत्रिम सुषमा-विलास का आस्वादन करता रहा।

किन्तु इस आस्वादन-महोत्सव को अधिक दिनों तक बनाये रखने में मैं असमर्थ था। अतः उदासीन मन के साथ ही मैं वहाँ से बदरीनाथ लौटा था। श्रावण तथा भाद्रपद महीने ही वहाँ की यात्रा करने का उचित समय है। चूँकि मेरी यात्रा आषाढ़ में थी और मार्गदर्शक कोई सहचारी भी साथ नहीं था, इसलिए अधिक आगे बढ़ने में असमर्थ होकर स्वर्गारोहिणी आदि स्थानों का कुछ दूरी पर खड़े होकर ही मैंने दर्शन किया था। धन्य धन्य स्वर्गारोहिणि! महाधन्य, महाधन्य बदरीकूट! आप दोनों जग में अनन्तकाल तक विराजित

प्राप्त होते हैं। इनके नाम हैं—देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग और विष्णुप्रयाग। ये सभी विशिष्ट तीर्थस्थान समझे जाते हैं।

हृषीकेश से बदरी की ओर यात्रा करें तो चालीस मील दूर देवप्रयाग आ जाता है। गंगोत्री से निकलनेवाली भागीरथी गंगा के साथ बदरीनाथ से बहती आनेवाली अलकनन्दा का जहाँ संगम होता है, वही पुण्यस्थान देवप्रयाग है। श्रीरामचन्द्रजी अपने बुढ़ापे में इस संगम-स्थल पर बैठकर तप करते थे, जिसकी स्मृति में यहाँ श्रीराम-मंदिर की स्थापना की गयी है। कहा जाता है कि पुराण-प्रसिद्ध कण्व महर्षि का आश्रम भी यहीं था। ये दोनों तीर्थनदियां शैल-मालाओं के बीच से होकर पाषाणों को भेदती-सी, ढकेलती-सी, ढहाती और गिराती-सी और शोर मचाती हुई प्रबलता के साथ बहती हुई यहाँ आकर मिल जाती हैं। इन तीर्थ-नदियों का यह संगम-स्थल अपने अनल्प दृश्य-वैचित्र्य के कारण यात्रियों के मन को मोह लेता है। यहाँ आकर परमेश्वर-प्रीति और तीर्थ-सेवा का अदृष्ट फल मिल जाता है। यहाँ से भागीरथी के पुण्य-तट से गंगोत्री तथा अलकनंदा के किनारे से बदरिकाश्रम की ओर मार्ग जाते हैं। देवप्रयाग से बीस मील दूर 'श्रीनगर' नामक एक छोटा नगर बसा है।

यहाँ से आगे बीस मील पूर्वोत्तर की ओर केदारनाथ से निकलने वाली मंदाकिनी जहाँ अलकनंदा में आ मिलती है वह रुद्रप्रयाग कहाता है। यहाँ से आगे अठारह मील की दूरी पर पिंडरा नदी और अलकनंदा के संगम पर कर्ण-प्रयाग स्थित है। प्रकृति-देवी के ये दोनों विलास-स्थान विलास-रसिकों के चित्तों को अति प्रफुल्लित करते हैं। हरे-भरे पर्वत-पार्श्वों से अलकनंदा के प्रेम-भरे प्रणव-गान को सुनते-सुनते कुछ दूर और आगे बढ़ें तो नन्दप्रयाग पहुँच जाते हैं। वहाँ से आगे दो-तीन दिनों की यात्रा के पश्चात् विष्णुप्रयाग आ जाते हैं। विष्णुप्रयाग के निकट ही प्रसिद्ध 'ज्योतिर्मठ' स्थित है। यह प्रसिद्ध है कि ज्योतिर्मठ श्रीशंकरपादों के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था। यह भी कहा जाता है कि उनके शिष्यवरों में से एक शिष्य त्रोटकाचार्य ही वहाँ के प्रथम आचार्य के रूप में अभिषिक्त हुए थे। बदरीनाथ की मूर्ति की पूजा करने-वाले पुजारी केरल के नम्पूतिरि जी हैं, जो कि यहाँ छः मास से आये हुए हैं।

यहाँ से सत्रह हजार फुट ऊपर 'नीतिपास' को पार कर एक मार्ग तिब्बत की ओर जाता है। 'नीतिपास' के निकट ही द्रोणगिरि नामक हिमालय की ऊँची चोटी स्थित है। यही वह रामायण-प्रसिद्ध स्थान है जिसे मृत-संजी-वनी आदि दिव्यौषधों का कोष कहा गया है। ज्योतिर्मठ से अठारह मील

दूर उत्तर की ओर बदरीपुरी है। यहाँ के गंभीर शिला-शैल हृदयहारी हैं। पर्वतों को भेदती हुई, गंभीर शब्द के साथ नीचे की ओर गिरती हुई अलकनन्दा का दृश्य भी अति मनोहारी है। यह तो भूतत्व-वेत्ताओं के लिए ज्ञातव्य है कि अलकनन्दा को इन अत्युन्नत, निविड़, तथा दूर तक फैले हुए पाषाण-खण्डों के बीच में से नीचे उतर आने का छिद्र कैसे मिल गया है? हिमालय में इसी प्रकार के अनेक दृश्य दिखायी दे जाते है जहाँ अविदार्य शिलोच्चयों के बीच छोटे-छोटे छिद्रों में से होकर नदियाँ लुक-छिप कर नीचे की ओर उतर आती हैं।

इस तरह हृषीकेश से हिमाद्रि-शिखरों पर विराजमान गंगोत्री, केदार और बदरी धामों की ओर सैर करनेवाले एक यात्री को तीर्थाटन के बहाने अत्यन्त रमणीय तथा पवित्र भू-भागों का दर्शन मिल जाता है। पुराणों में केदारखंड के नाम से प्रकीर्त्तित हिमगिरि के ये प्रदेश अति मनोहारी हैं, निरुपद्रव हैं। इसी खण्ड में सुशोभित गंगा और अलकनन्दा की शान्ति-महिमा संसार में अद्वितीय है। पौराणिकों ने इसी भू-खण्ड की भूरि-भूरि प्रशंसा की है:

गंगाद्वारोत्तरं विप्र! स्वर्गभूमिः स्मृता बुधैः।
अन्यत्र पृथिवी प्रोक्ता गंगाद्वारोत्तरं विना॥

'हरिद्वार के उत्तर के प्रदेशों को विद्वानों ने स्वर्ग-भूमि कहा है। इन देशों को छोड़कर दूसरे प्रदेशों को उन्होंने पृथ्वी की संज्ञा दी है।'

: ३ :

हिमालय के कई पवित्र उच्च शिखरों पर मैं अक्सर जाकर रहा करता था। उन स्थानों में जग का विस्मरण कर परमात्म-विचार में निमग्न होने के सिवा चित्त किसी और विषय में लीन नहीं होता था। किन्तु बदरिकाश्रम में आकर मेरा चित्त केरल भूमि को अधिक स्मरण करता है। यहाँ पहुँचकर मेरी मातृ-भूमि के बारे में कई चिन्ता-तरंगें मेरे दिल में उत्पन्न हो जाती हैं। अपनी मातृ-भूमि की महिमा को याद करते-करते मन प्रफुल्लित हो जाता है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि बदरीपुरी की आज की महिमा हमारी केरल भूमि की महिमा है। हमारे शंकर ने—कर्म सन्यासी होने पर भी कर्मवीर बने रहनेवाले शंकर ने—यहाँ आकर उस समय की बौद्ध-मूर्त्ति के स्थान पर नारायण-मूर्त्ति

नहीं है । आत्मबल का शब्द यद्यपि आज हमारे चारों ओर मुखरित होता रहता है, तथापि लोग इस पर विचार नहीं करते कि वह आत्मबल कैसे पैदा होता है ? आत्मबल आत्मज्ञान के बिना कभी संभव नहीं होता ।

यदि कोई यह समझे कि आत्मज्ञान मेरे जैसे व्यक्ति में होता है जो संन्यास लेकर बदरिकाश्रम या और कहीं एकान्त-निवास करता है—तो यह सोचना ठीक नहीं है । आत्मविचार किसी भी आश्रमी में और किसी भी काम के करनेवालों में हो सकता है । केवल आत्मा को सत्य तथा सभी अनात्म पदार्थों को असत्य समझना ही आत्मज्ञान है । यह आत्मज्ञान कोई गृहस्थी, कोई ब्रह्मचारी, कोई कृषक या कोई न्यायाधिपति —कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है । परिवार का पालन-पोषण करते हुए भी आत्मज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है । राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी व्यवहार आत्मज्ञान के साथ ही करो ! एक आत्मबली का कर्म अज्ञानी के कर्म की अपेक्षा कहीं अधिक तथा विश्वमंगल के लिए अत्यंत उपयोगी होगा । इसलिए तुम अपने-अपने घरों में बैठे हुए भी तथा अपने-अपने कर्मों को करते हुए भी अनात्मा से आत्मा की विवेचना कर एक अध्यात्म सम्पन्न, वीर एवं तृप्त जीवन को पा लो । हमारी केरल-भूमि की पुरातन अध्यात्म-कीर्त्ति का पुनरुद्धार करो । यह दृढ़ निश्चय से कहो कि मैं अच्छेद्य-अदाह्य आत्मवस्तु हूँ, तथा मैं तज्जन्य-हिरण्यगर्भ को भी तृणवत् करने वाले आत्मबल को पाकर लोकहित को ही लक्ष्य करके स्वकर्मों को निष्काम रूप से करता रहूँगा, तथा अपने जीवन को ऋषि-जीवन बनाकर आनन्द प्राप्त करूँगा । इस समय बदरिकाश्रम में बैठे हुए मैं अपने केरलीय भाइयों को संक्षेप में यही परामर्श देता हूँ ।

मुझे यहाँ लिखने का समय या सुविधा नहीं मिलती, फिर भी कोई एक शक्ति, अर्थात् अपनी मातृभूमि के प्रति मेरा अगाध प्रेम, मेरे अन्दर से कुछ-न-कुछ करने की प्रबल प्रेरणा मुझे दे रही है, इसीलिए इतना लिखने में समर्थ हो सका हूँ ।

: ४ :

वसुधारा बदरीनाथ से छः मील ऊपर की ओर है । यों तो रेणुकूट पर्वत के ऊपर से अनवरत बहती हुई जलधाराएँ ही मुख्यतः वसुधारा कहलाती है, किन्तु इस जलधारा का निकटवर्ती प्रदेश भी वसुधारा कहलाता है । पौरा-

कोई इस प्रकार आक्षेप न करे कि पाषाण, मिट्टी और हिम का समूह यह अचेतन पर्वत किस प्रकार चेतन मनुष्यों के समान गायन कर सकता है ? किन्तु इनका गान सशब्द नहीं है। यह तो निश्शब्द है। इनका गंभीर भाव, इनकी अभेद्य, अचंचल स्थिति तथा पशु-पक्षियों को भी प्रमोदित करनेवाली इनकी दिव्य सुषमा-महिमा ही इनका निश्शब्द संगीत है। ये भले ही वाणी के माध्यम से न गायें, किन्तु इनका गान वाणी के माध्यम से किये गये परमात्म-संकीर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक मृदु, मधुर, तथा गम्भीर होता है। इन्द्रियों के माध्यम के बिना ही ये सदा स्वमहिमा से ईश्वर-महिमा की उद्घोषणा करते रहते हैं। लो, नितांत प्रवाहमान यह 'अलकनंदा' नामक पुण्यनदी 'वसुधारा' नामक यह जल-प्रपात क्या कह रहे हैं ? ये उच्च स्वर में उस परमात्मा की विभूति-महिमा का समधुर रूप से गान ही तो कर रहे हैं—

अस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।

जिस परमात्मा की शक्ति से छोटी-बड़ी सब सरिताएँ सदा बहती रहती हैं, उस सर्वशक्त स्वस्रष्टा परमात्मा का वे कृतज्ञता तथा आदर के साथ सतत संकीर्तन कर रही हैं।

उधर देखिए और सुनिए आकाश में विचित्र मैनाओं का समूह सुस्वर से उस जगत-पिता परमात्मा की महिमा को गाते हुए स्वच्छन्द उड़ता जा रहा है। और इधर नाना वर्णों में सर्वत्र विकसित ये कमनीय पुष्प इस दिव्य भूमि में क्या कर रहे हैं ? ये भी उच्च स्वर में उस परमेश्वर की अतिशय महिमा का गुणगान कर रहे हैं। इस प्रकार इस पुण्यभूमि में सभी चराचर पदार्थ सर्वेश्वर के ऐश्वर्य-गान में सदा प्रवृत्त दिखायी देते हैं।

रोज की तरह प्रभात में मैं वसुधारा में स्नान कर उधर हरित तृणों एवं कमनीय कुसुमों से आच्छन्न उस मंजुल मैदान में धूप में जा बैठा। अहो ! चारों ओर से सुनायी पड़ने वाले उस ईश्वरीय संगीत को मैं बड़े अभिनिवेश के साथ सुनने लगा। उस मनोहर संगीत का मैं बड़े प्रेम से आनन्द लेने लगा। सुमधुर संगीत-श्रवण के द्वारा गीत से सम्बन्धित परमात्म-महिमा के माध्यम से परमात्मा के परमानन्दघन-स्वरूप का ध्यान करते-करते मेरा मन तरंगित हो उठा। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चंदन-लेपन, शुभ्र वस्त्रधारण आदि क्रियाओं के बिना ही मेरा शरीर दर्शनीय एवं तेजोमय बन गया। मिष्ठान्नों के बिना ही मेरा पेट भर गया। मुझे संसार भर के सभी भोग्य पदार्थ मिल गये। कोई अभाव न रहा। मैं आनन्द से इतना मदोन्मत्त हो गया कि मेरा

'अहं' मिट गया। वसुधारा, हिमालय तथा जगत् के समस्त पदार्थ अस्त हो गये। मेरे लिए सभी द्वन्द्वभाव लुप्त हो गये। मैं अद्वैतानंद रूप हो गया। अहा! 'हा! आनंद! आनंद! आनंदरूप अद्वैत ही सत्य है। जब मन के विस्फुरण अस्त हो जाते हैं, तब जो वस्तु शेष रहती है, वह आनंदघन तथा सत्य होती है। हे हिमालय! तेरी महिमा का, तेरी आध्यात्मिक महिमा का, मैं कोई अन्त नहीं देखता। धन्य, धन्य तू विजयी रह! हे देवतात्मा हिमालय, तू ऐसे अनेक दिव्य पदार्थों को, जीवन में कभी न भूलने वाले पदार्थों को, मुझे प्रदान कर। तेरे ऐसे ईश्वरीय गीतों को हिमालय-निवासी मैं अनुदिन सुनता ही रहता हूँ, तो भी आज के-से दिन मेरे जीवन में विरले ही आये हैं, जब कि अत्यधिक अनुराग के साथ तेरा मधुर गीत सुन कर आत्मविस्मृत होकर मुग्ध हो जाता हूँ।

: ५ :

इतिहासकार मानते हैं कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में 'ब्रह्म-सूत्र' नाम से प्रसिद्ध बादरायण-सूत्र लिखा गया था। वह ऐसा युग था जबकि हमारा देश तत्त्वचिंतन में बहुत ही सजग तथा प्रबुद्ध था। केवल हमारा देश ही नहीं, पाश्चात्य देश भी उस युग में प्रगाढ़ तत्त्व-चिन्तन में संलग्न थे। लगभग इसी काल में, अर्थात् ई० पू० चौथी-पांचवीं शती में सुकरात, प्लेटो आदि दार्शनिक यूनान में पैदा हुए थे और प्रपंच-रहस्यों पर विचार करके कुछ तत्त्व-पद्धतियों को प्रकट कर रहे थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैसे सुकरात आदि के जन्म-स्थान, जीवन-काल आदि का पाश्चात्य मनीषियों ने निर्णय कर दिया है, वैसे व्यास-आदि के जन्म-स्थान, जीवनकाल आदि के बारे में भारतीय मनीषियों ने प्रमाणपूर्वक कोई निर्णय प्रस्तुत नहीं किये। फिर भी पुराणों और ऐतिहासिकों के वचनों के आधार पर यह समझने में तब तक कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन बदरिकाश्रम में रहनेवाले एक पूज्य व्यक्ति थे, जब तक इसका बाधक कोई प्रमाण नहीं मिलता 'बादरायण' का नाम ही यह उद्घोषणा करता है कि वे बदरी-निवासी थे।

सरस्वती के तट में यह गुफ़ा व्यास गुफ़ा कहाती है। इस गुफ़ा में तो व्यास रहा करते थे। व्यास की महिमा तथा बदरिकाश्रम की महिमा को मैं भिन्न-भिन्न नहीं मानता। अर्थात् व्यास की कोई महिमा थी तो उसी से

बदरीवन महिमाशाली बन गया। एक पौराणिक सुप्रसिद्ध कथा का यहाँ विवरण देने की आवश्यकता नहीं है कि जिसमें इस दिव्य स्थान को नर-नारायणों का तपःस्थान तथा साक्षात् नारायण की निवास-भूमि कहा गया है, और इसी कारण इस दिव्य धाम को लोकोत्तर महिमा मिली है। इस प्रसिद्ध बात का निषेध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि बादरायण ने यहीं रहकर वेदान्त-सूत्र, महाभारत आदि ग्रंथों की रचना की थी। व्यास की महिमा का आदर करते हुए व्यास गुहा में कभी-कभी जाकर बैठना मेरे लिए कितना प्रमोददायक रहा है। पौराणिक लोग कई पुराण-वचनों के प्रमाण देते हुए यह समर्थन करते हैं कि केवल व्यास ही नहीं, बल्कि सनकादि, भृगु, नारद, शुक आदि अनेक पौराणिक ऋषि-पुंगव भी यहीं विहार करते थे।

लीजिए, यह गौड़पाद-शिला है। गौड़पाद अलकनंदा किनारे की इस शिला पर आकर बैठा करते थे। पुरखे लोग यहाँ तक कहते हैं कि उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध 'माण्डूक्यकारिका' इसी शिला पर बैठकर लिखी थी। इतिहासवेत्ता कहते हैं कि गौड़पाद आठवीं शताब्दी ईस्वी के आचार्य थे। उपनिषदों के आशय अद्वैतवाद को अर्थात् मायावाद को, शास्त्रीय रीति से उपपत्तिपूर्वक निर्विवाद रूप में सबसे पहले संसार के सामने रखनेवाले गौड़पाद थे। आज के के कुछ आलोचकों का अभिप्राय है कि वे बुद्ध के अनुयायी थे। क्योंकि एक तो इनका जन्म अश्वघोष, नागार्जुन आदि बौद्ध धर्म के आचार्यों के बाद हुआ; दूसरे उन्होंने बौद्ध धर्म के कई दृष्टांतों तथा सिद्धान्तों को अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है तथा इनकी ग्रंथ-शैली भी बौद्ध-ग्रंथों की शैली के अनुकूल है। उदाहरणार्थ, नागार्जुन के ग्रंथ के शून्यवाद-सिद्धांत और 'लंकावतार' में दिखायी पड़ने वाले विज्ञानवाद तत्त्व दोनों को मिलाने पर माडूक्यकारिका बनी है, तथा 'अलात' (अंगारा) आदि उनके दृष्टांत बौद्ध-ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध हैं। जगत् को भ्रांति-कल्पित तथा मिथ्या सिद्ध करनेवाले शंकर पर भी जब कुछ प्राचीन आचार्यों ने प्रच्छन्न बौद्ध होने का आक्षेप किया है तो इसमें क्या आश्चर्य यदि मायावाद के अत्युच्च सिद्धांत 'अजातवाद' का उपदेश देनेवाले गौड़पाद पर भी कुछ लोग बौद्ध होने की शंका करें। दूसरे धर्मो से अपने अनुकूल कुछ सिद्धांतों को स्वीकार करने मात्र से यह समझना उचित नहीं है कि ग्रन्थकार उस धर्म के अनुयायी हैं। जो भी हो, यह सब हमारी बात के लिए अप्रासंगिक है। हम केवल यही विश्वास करें कि शुक ब्रह्म महर्षि के शिष्य तथा आचार्य-कुल-कूटस्थ गौड़पाद भी इस बदरीकाश्रम में रहा करते थे। इन्हीं गौड़पाद के प्रमुख शिष्य

शंकराचार्य का वदरिकाश्रम के साथ सम्बन्ध था—इस तथ्य को सभी इतिहास-कार स्वीकार करते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता कि शंकर ने यहाँ रहते हुए अपने सूत्र-भाष्य आदि भाष्यों की रचना की थी, तथापि आप्त वाक्यों पर विश्वास कर लेना कहीं अधिक उपयुक्त होता है। यह जान लेने पर कि इसी वदरिकाश्रम में महान् ऋषि-गण रहा करते थे हमारा मन आनन्द से रोमांचित तथा उल्लसित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त प्रकृति-सुषमा की दृष्टि से भी वदरिकाश्रम संसार के दर्शनीय स्थानों में एक है। वर्षाकालीन कई तरह के विचित्र पौधों तथा तरह-तरह के पुष्पों के साथ हरितवर्ण से भरे वदरीवन की प्रकृति-शोभा अहा! हा! दिव्य दिव्य ही कही जा सकती है। हिम-संहति की कांति इस पुण्य-धाम की प्राकृतिक सुन्दरता को और भी अधिक बढ़ा रही है। पिछले ज्येष्ठ मास[1] की पहली तारीख से तीन दिनों तक वदरीधाम में निरन्तर हिमवृष्टि होती रही। इससे सभी दिशाएँ धवल-धवल होकर मानो रजताच्छन्न हो गयी हैं। यह दर्शन अनुपम था। इसी दिव्य-दर्शन का मैं भी हिस्सेदार था। हिम-देवता की ऐसी विलास-महिमा को देखने का भाग्य वदरीनाथ में इससे पहले मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

प्रकृति ही ब्रह्म है। प्रकृति ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रकृति की शोभा ब्रह्म की शोभा ही है। लेकिन शुद्ध एवं अकृत्रिम प्रकृति में ब्रह्म का प्रकाश अधिक प्रकट होता है। शुद्ध हो या अशुद्ध, जो व्यक्ति संपूर्ण प्रकृति को ब्रह्म रूप में तथा प्रकृति-विलास को ब्रह्म-विलास के रूप में जानता है, वही सच्चा दार्शनिक है। वह सदा ब्रह्म के दर्शन करता है। वह सर्वदा आनन्द का अनुभव करता है। फिर उसके लिए योगियों की असंप्रज्ञात समाधि से कोई लाभ नहीं होता। वह स्वयं समाधि-स्वरूप बन चुका होता है। वह तथा उसके सभी कर्म समाधि-स्वरूप ही होते हैं।

हे वदरीभूमि! तू प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न है। इन दोनों शक्तियों का अनवरत प्रसार करते हुए कोटि-कोटि दुःखी जीव-जन्तुओं पर अनुग्रह करती है। तेरी सदा जय हो।

००

---

१. सन् १९३१ में

६. शारदा-क्षेत्र

पर्वतराज हिमालय के पश्चिमी किनारे पर हिमालय के ही अंतर्गत समुद्र की सतह से पाँच हज़ार तीन सौ फुट की ऊँचाई पर लगभग चौरासी मील लम्बा तथा पच्चीस मील चौड़ा एक मनोहर मैदान है, जो विश्व-विख्यात कश्मीर देश, अथवा कश्मीर देश का मध्यांश कहाता है। यह सर्वविदित है कि इस भूभाग की समता रखनेवाले दूसरे भूभाग इस संसार में विरल हैं। यही पुराण-प्रसिद्ध कश्यप महर्षि की तपोभूमि है। कभी यह प्रदेश दुष्प्राप्य था, किन्तु जल की प्रचुरता के कारण यह धीरे-धीरे जन-निबिड़ ग्रामों एवं सस्य-सम्पन्न खेतों से परिपूर्ण एक जनपद बन गया। काश्मीर प्रदेश को पुराने कवियों ने संसार का स्वर्ग कहा है और नवीन कवियों ने भारत का 'स्विटज़र-लैंड'। इतिहासइस तथ्य की घोषणा करता है कि मुग़ल बादशाह इससे अधिक प्यार करते थे।

हिमाच्छन्न-शिखरों की पर्वतमालाओं से आवृत इस विशाल मैदान के बीचों-बीच जेहलम नदी, जिसका पौराणिक नाम 'वितस्ता' था, मन्दगति से अमन्द सुन्दरता के साथ प्रवाहित हो रही है। काश्मीर देश की राजधानी 'श्रीनगर' इसी नदी के किनारे मैदान के बीच विराजमान है। श्रीनगर और उसके प्रांत-भाग लाल कमल आदि अनेक पुष्पों से भरे सरोवरों तथा अति विचित्र वृक्षों, लताओं एवं पौधों से परिपूर्ण हैं। यह स्थान दर्शकों की आँखों को शीतलता देनेवाले अनेक बाग़-बग़ीचों के लिए प्रसिद्ध हैं। यद्यपि श्रीनगर प्राचीनकाल में दुर्गम था, तथापि आज वाहनों के निरन्तर आवागमन के कारण सुगम हो गया है। श्रीनगर रावलपिण्डी से एक सौ छयानवें मील तथा जम्मू (जम्बु) से दो सौ छः मील दूर है। जंबु जांबवान का तपःस्थान था। अब वह

यह लेख सन् १९२७ में की गयी यात्रा के आधार पर लिखा गया था। अतः इसमें वर्णित राजनीतिक परिस्थिति आज की इस परिस्थिति से भिन्न है।

भाषा में कहा—"स्वामीजी खाना खा रहे हैं। वहाँ से उठकर ज़रा दूर बैठ जाओ।" तभी मैं जान सका कि जिसे मैंने ब्राह्मणी समझा था वह एक मुसलमान महिला थी, क्योंकि वहाँ ब्राह्मणों तथा मुसलमानों के पहनावे में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। उसकी बात सुनते ही मैंने कहा—"माताजी ! मेरे लिए उन्हें यहाँ से हटाने की आवश्यकता नहीं। उनके यहाँ बैठने से मुझे खाना खाने में कोई आपत्ति नहीं है।"

और फिर, कश्मीर में मांस-भोजन भी सर्वसाधारण है। तांत्रिक आचार के प्रचार के कारण वहाँ के लोग कहा करते हैं कि भेड़ों को काटना तथा उनका मांस खाना उनका धर्म है। हमारे देश में आज भी ऐसे शुद्ध केरलीय ब्राह्मण होंगे जो यह विश्वास करते हैं कि कश्मीरी ब्राह्मणों के ऐसे आचारों को कानों से सुनना तक पाप है। विचारशील व्यक्तियों के लिए यह आश्चर्यजनक है कि उत्तर-दक्षिण ध्रुवों की तरह आपस में कभी न मिलने वाले कई विलक्षण आचार हमारे देश में इधर-उधर प्रचलित हैं। दूसरी विचित्रता यह है कि ऐसे कई पुरखे आज भी, इस बीसवीं शताब्दी में भी, हमारे देश में हैं जो यह विश्वास रखते हैं कि यों भिन्न-भिन्न देशों में दीखनेवाले भिन्न-भिन्न आचार-विचार परमेश्वर ने ही अपनी प्रजा के कल्याण के लिए नियत किये हैं। जो भी हो, आचार-विचार-विषयक इस रहस्य-सिद्धांत का यहाँ प्रतिपादन किये देता हूँ कि परमेश्वर-प्राप्ति का हनन करनेवाले इन अशुद्ध आचारों एवं विचारों को दूर करना तथा परमेश्वर-प्राप्ति में सहायक होनेवाले पवित्र आचारों तथा विचारों को हृदय में धारण करना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

कश्मीर के ब्राह्मण बुद्धिमान तथा प्रयत्नशील हैं। रूप-सुन्दरता के लिए वे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। यह बात किसी भी यात्री को कश्मीर की ओर सादर दृष्टि से देखनेकी प्रेरणा देती है कि मंडनमिश्र, मम्मट भट्ट, अभिनवगुप्त आदि धुरंधर पंडित कश्मीर के ही ब्राह्मण थे। चूँकि कश्मीर के अधिकतर मुसलमान धर्म-परिवर्तन किये ब्राह्मण हैं, इसलिए इनकी आकृति एवं प्रकृति भी उनके समान ही होती हैं।

चावल के विशाल खेतों, सदा प्रवाहमान छोटे-बड़े कई नालों, तथा मीठे फलों का वितरण करनेवाले मनोहारी वृक्षों से सुशोभित कई बाग़ीचों को पार करते हुए तथा कई गाँवों में से भी होते हुए मुझे पश्चिम की ओर साठ-सत्तर मील यात्रा करनी थी। मार्ग इतना सरल था तथा बिलकुल मैदान में से होकर जा रहा था कि मुझे यह विस्मृत-सा हो गया था कि मैं हिमालय

खण्ड में यात्रा कर रहा हूँ।

ईश्वर का सृष्टि-क्रम वस्तुत: बहुत ही विस्मयकारी है। अत्यन्त सम-विषय, पथरीले और विकटतर हिमगिरि के अन्तर्गत भी जल-संपूर्ण, सस्य-शाक-समृद्ध एवं मनोहर सम-भूमि की सृष्टि करने में भी ईश्वर पूर्णत: समर्थ है। हिमालय के अत्युच्च शिलोच्चयों के ऊपर कई स्थानों पर विशाल-वर्तुल और मनोज्ञ मैदानों एवं सरोवरों को देखकर उनके कर्ता ईश्वर की सृष्टि-महिमा के प्रति अति विस्मय होता है। जब कोई सुन्दर मंदिर हमें दिखायी देता है तो उसके कर्ता की शिल्प-कला को देख हम चकित हो जाते हैं। मनुष्य-कर के संपर्क से कलुषित हुए बिना, केवल ईश्वर-करों से संकलित, हिमालय का हर-एक पदार्थ अपनी विलक्षणता के कारण अपने निर्माता ईश्वर तथा उनके कर-कौशल की याद दिलाता है। यदि कृत्रिम सुन्दरता मनुष्य के बुद्धि-कौशल को प्रकट करती है तो अकृत्रिम-सुन्दरता सर्वेश्वर की अघटित-घटना-पटु शक्ति-विशेष की घोषणा करती है।

यों, निःसर्ग-सुंदर ईश्वरकी महिमा का स्मरण करानेवाली कई रमणीय समभूमियों को पार करने के बाद उन्नत एवं दूरतिक्रम पर्वत-पंक्तियां आ जाती हैं। पर्वत-पंक्ति की तराई में स्थित 'रुद्रवन' नामक इस स्थान से मुझे तीस मील तक दुर्घट-विकट पर्वत-मार्ग से उत्तर की ओर जाना था। यद्यपि मैं जानता था कि जेष्ठ का महीना होने से पर्वत-शिखर का सारा हिम-समूह नहीं पिघला होगा, अत: मार्ग अभी साफ़ नहीं हुआ होगा, किन्तु मेरा चित्त उत्साह से प्रफुल्लित था। अतः कष्टों की चिन्ता किये बिना मैं शैलारोहण करने लगा। मेरे साथ एक ब्रह्मचारी भी थे। दोपहर से पहले हम शिखर-देश पर पहुँच गये। अहा! वहाँ का दर्शन विस्मयकारी था। वह स्थान संपूर्ण रूप से घनी हिम-संहति से व्याप्त दिखायी पड़ा। हम यह निर्णय करने में असमर्थ रहे कि हिम की व्याप्ति कहाँ तक है।

एक ओर तो हम जगदम्बिका के दर्शन करने के लिए उत्कण्ठित थे और इसलिए निर्भय होकर आगे बढ़ना चाहते थे, किन्तु दूसरी ओर हिम-संघातों को देखकर हम भयभीत भी हो रहे थे। धीर होने के साथ-साथ हम भीरु भी थे। साहस में भीरुता इतनी निन्दनीय भी नहीं है। इसलिए मन में उत्पन्न भीरुता से हम लज्जित नहीं थे।

जो भी हो, दोलायित चित्तवृत्ति के साथ किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर हम पर्वतोपरि मैदान पर थोड़ी देर बैठे रहे। हम वस्तुत: इसी प्रतीक्षा में थे कि

देखें, जगन्माता इस संकट से हमारी रक्षा कैसे करेंगी । भक्तों के पीछे सदा भगवान् चलते रहते हैं । उनको विपत्ति-गर्त से बचाने के लिए वे हमेशा जागरूक रहते हैं । लीजिए, दस बारह यात्री हमारे पीछे पर्वतारोहण करके गिरि-शिखर पर हमारे पास पहुँच गये । वे सब हिम-बहुलता के कारण भयभीत थे, किन्तु हिम के पास हम यात्रियों को देखकर उत्साहपूर्ण हो गये, और हमारे पास आ बैठे । वे तीर्थ-यात्री नहीं थे । पहाड़ों के अन्दर मजदूरी के लिए जाने वाले तक्षक थे । वे सभी मुसलमान थे । वे भी हमारे समान इस दिशा के नये यात्री थे । इसलिए हिम का फैलाव कहाँ तक है इसका अनुमान उन्हें भी नहीं लग रहा था । उन्होंने हमें तथा हमने उन्हें साहस बँधाया । सबने मिलकर आगे बढ़ने का निश्चय किया ।

शारदा के करुणातिरेक पर विश्वास करते हुए तथा जगदम्बिका के चरणारविंदों का स्मरण करते हुए मैं उनके साथ उठकर आगे चल पड़ा । उतराई पर हिम अधिक पड़ा रहता है, इसलिए उसे पार करना बहुत कठिन था । बार-बार पैर फिसलकर हिम में जा पड़ता था । हमारे पास हिम में चलने के लिए आवश्यक सामग्री नहीं थी । इस कारण यद्यपि हमें कुछ अधिक कष्ट सहना पड़ा, तो भी परमात्मा के अनुग्रह से हम सभी एक मील की लम्बाई का वह हिम-प्रदेश जैसे-तैसे किन्तु शीघ्र ही पार कर गये ।

इसके बाद दुर्गम पर्वत-प्रांतों तथा घोर वनान्तरों से गुज़रते हुए हम संध्या तक कृष्णगंगा के किनारे के एक विश्राम-स्थल पर पहुँच गये । कृष्णगंगा प्रसिद्ध सिंधु नदी के अंग जेहलम नदी में मिलनेवाली एक उपनदी है । रात्रि को हमने वहीं विश्राम किया । सवेरे गंगा किनारे से सात-आठ मील आगे चलकर हम एक रस्सों के बने हुए पुल पर पहुँच गये । इस पुल पर हम ज्यों ही चढ़े तो यह भयंकर रूप से उछलने-कूदने लगा । इसे किसी प्रकार से पार कर लगभग पाँच बजे पुनीत शारदा-मंदिर में हमने प्रवेश किया ।

शारदा-क्षेत्र समुद्र की सतह से लगभग ग्यारह हजार फुट ऊँचाई पर स्थित अत्यन्त निगूढ़ तथा विचित्र भूमि है । ऊँचे ऊँचे बर्फ़ीले पहाड़ों तथा हिंसक जंतुओं से भरे हुए विपिनों से आवृत इस पुण्यधाम को देखकर एक यात्री के मन में विचित्रता के साथ-साथ भय का भी संचार होता है । वहाँ केवल एक ही घर है जिसमें मन्दिर का ब्राह्मण पुजारी रहता है, और उधर कुछ दूरी पर वनवासी मुसलमानों की झोंपड़ियाँ हैं । बस इतनी यहाँ की बस्ती है ।

यद्यपि आज शारदा-क्षेत्र केवल वन्य-पशुओं तथा खेती-बाड़ी पर निर्वाह करने वाले कुछ अशिक्षित वन्य मुसलमानों की निवास-भूमि रह गया है, तो भी कभी वह पहले अनेक उद्भट पंडितों के निवास की पुण्यपुरी थी। मैं शारदा में रहते हुए प्रायः मनोरञ्जनार्थ बाहर घूमने निकल आया करता था। कहीं-कहीं मिट्टी के नीचे दूर तक दबी अति पुरातन ईंटों को देखकर इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत उक्त अभिप्राय की याद करके चकित हो जाया करता था। मैदानों के समान हिमगिरि में भी गाँवों का वनों में तथा वनों का गाँवों में बदल जाना नितान्त सम्भव तो है ही, साथ ही विस्मयकारी भी है। अस्तु!

यहाँ की यात्रा प्रायः काश्मीर के निवासी ही कुछ विशेष कालों में करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के लोग यहाँ की यात्रा प्रायः नहीं किया करते। इसलिए इस क्षेत्र में बाहर से आनेवाली जनता का प्रभाव भी नहीं के बराबर था। मुझे यह स्थान एक भूमि के रूप में प्रतिभासित हुआ, जहाँ मानव-लोक को साधारण व्यवहार, कोलाहल अथवा विक्षेप कुछ भी नहीं है। इस भूमि में आकर मन प्रशान्त, अन्तर्मुख एवं परमात्म-प्रवण होकर आनन्दित हो उठता है। अतः शारदा क्षेत्र सचमुच एक परम दिव्य भूमि है। मन्दिर के बाहरी मकान में जाकर हम निवास करने लगे। वहाँ उस समय दुःसह्य शीत पड़ रहा था। किन्तु वहाँ लकड़ी सुलभ है, अतः उसी के सहारे हम शीत को सह्य बनाते रहे।

× × ×

निरतिशय शांति ही निरतिशय सुख है। वही परमात्मा का स्वरूप है। वही परम पुरुषार्थ मोक्षपद है। यह सर्वमान्य है कि शांति को छोड़कर चित्त-क्षोभ से सुख नहीं मिलता। लेकिन इस शांतिमय मोक्षपद को कुछ लोग दुःख-ध्वंस कहते हैं; दूसरे कुछ लोग इसे विवेक-ख्यातिजनित-स्वरूपावस्थान मानते हैं; और कुछ अन्य लोग इसे शून्यभाव कहते हैं तथा कुछ और लोग इसे विशेष लोकों का विषय मानते हुए भोग-जनित सुखातिशय कहते हैं। शान्ति का निरतिशय भाव निर्द्वैत में ही संभव है, न कि सद्वैत में। जब तक अपने से भिन्न कोई वस्तु विद्यमान रहती है, अर्थात् अपने से भिन्न जगत् और ईश्वर वर्तमान हैं, तब तक अपने लिये अनतिशय शांति की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। शून्य इसलिए शान्ति का रूप नहीं हो सकता कि वह शून्य है। सत्ता और असत्ता के लिए समानाधिकरण भाव का न होना ही इसका कारण है। ये भ्रान्ति के कारण अतिशय शान्ति में निरतिशयता, परम पुरुषार्थता तथा कृतार्थता की कल्पना करते हैं। निरतिशय शान्ति द्वैत के अत्यंताभावरूप ब्रह्मवस्तु को छोड़

कर और किसी में स्थित नहीं हो सकती। अर्थात् शान्ति की पराकाष्ठा केवल द्वैतस्पर्श से भी हीन परब्रह्म ही है। यों, निरतिशय शान्तिरूप मोक्षपद अद्वैत ब्रह्म है, सिर्फ़ वही सत्य है और शेष सब मायामय एवं प्रातिभासिक है—इस वैदिक पक्ष का, पूर्वपक्षों का खंडन करते हुए, संसार में प्रचार करना ही श्रीशंकराचार्यपादों के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। इस महोन्नत उद्देश्य को सफल करने के लिए ही कई देशों की भाँति उन्होंने काश्मीर देश की भी यात्रा की थी। काश्मीर देश में शारदा क्षेत्र के तार्किकों का भी दमन करके उन्होंने ख्याति अर्जित की थी और शारदापीठ—सर्वज्ञ पीठ पर आरोहण करने की इच्छा से वे वहाँ भी गये।

मुझे वहाँ अनायास 'शंकरदिग्विजय' का यह प्रसंग स्मरण हो आया—

'वादी गजेन्द्रों का विभेदन करनेवाला श्रीशंकर देशिकेन्द्र मृगराज, लो देखो, आ रहा है'—मार्ग में स्थित जनता को यह सुनाते हुए आचार्यपाद शारदा मंदिर के दक्षिण द्वार पर पहुँच गये। किवाड़ खोलकर जब वे अन्दर के पीठ पर आरोहण करने लगे तब वादियों ने आकर शंकर को रोका। विशेष शास्त्रों में निष्णात एवं विजिगीषु शंकर ने उन सबको शास्त्रार्थवाद में अनायास ही, अल्प समय में ही, हराकर अपनी इच्छा पूरी की। अर्थात् जिस सरस्वती पीठ पर केवल सर्वज्ञ व्यक्ति ही अधिरोहण कर सकता था उस पीठ पर उन्होंने आरोहण किया—

संश्रावयन्नध्वनि देशिकेन्द्रः, श्रीदक्षिणद्वारभुवं प्रपेदे।
कवाटमुद्घाट्य निवेष्टुकामं, स संभ्रमं वादिगणोऽन्यरोत्सीत्॥

किन्तु मैंने यहाँ दक्षिण की ओर कोई किवाड़ नहीं देखा। आज के इस छोटे मंदिर के केवल पश्चिम भाग में ही एक किवाड़ है। इसलिए यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि शंकर के प्राचीन मंदिर में परिवर्तन आ गया होगा। मंदिर के अंदर विशाल चक्राकृति में एक वर्तुल मसृण पाषाण-पीठ, उसके सामने श्रीचक्र तथा कुछ और मूर्त्तियाँ आज भी दिखायी देती हैं। पाषाण-पीठ का लेपन घृत-मिश्रित सिंदूर से किया जाता है। इसलिए उसकी तीक्ष्ण लालिमा प्रचंड रूप से प्रकाशित थी और द्रष्टा के नेत्रों को आकृष्ट तथा मन को मोहित करती थी। वहाँ का पुजारी इन पीठादियों की पूजा करता है।

मेरे मित्रगण मुझ पर यह आक्षेप न करें कि अद्वैत ब्रह्म पर विश्वास रखने वाला मैं मिथ्याभूत एवं अचेतन मिट्टी-पत्थर के मंदिर का वर्णन करने में क्यों अपना अमूल्य समय गँवा रहा हूँ। वस्तुतः तथ्य यह है कि उपाधियों के

विना निरुपाधिक ब्रह्म की प्राप्ति असंभव है। पत्थर मिट्टी, या और किसी भौतिक पदार्थ की ईश्वर-बुद्धि के साथ उपासना उपासक के मन को शुद्ध तथा एकाग्र बनाकर उन्नयन कर देती है। स्थूल तथा सूक्ष्म उपासनाओं के बिना हमारा चित्त अद्वैत-बोध का अधिकारी नहीं बनता। उपासना न करने वाले लोग यद्यपि ब्रह्म-विचार में प्रवृत्त रहते हैं, तथापि उन्हें वस्तु में स्थिर प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती। स्थिर प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो उन्हें ब्रह्म-विचार के पहले उपासना में प्रवृत्त रहना होगा। अत: उपासना के आश्रयीभूत पत्थर, मिट्टी या मूर्तियों का प्रेमपूर्वक वर्णन करना प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी ही होता है। यदि भक्त लोग सालग्राम, शिवलिंग आदि की ईश्वर-बुद्धि से पूजा करने का उपदेश देते हैं, तो योगीजन नाभि-चक्र, हृदय-पुण्डरीक मूर्द्धा-स्थित ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, भ्रूमध्य आदि एक-एक शारीरिक स्थान-भाव को पा जाने का उपदेश देते हैं, तथा साथ ही औपनिषद् अन्न (स्थूल देह), प्राण मन, आकाश तथा प्रत्येक भौतिक पदार्थ की ब्रह्म के रूप में उपासना करने का परामर्श देते हैं। इस सबका क्या अर्थ है? उनके इन उपदेशों का तात्पर्य यह है कि स्थूल पदार्थों की भावना से हमारा मन थोड़ा-बहुत एकाग्र होकर ही सूक्ष्म पदार्थों की भावना करने में समर्थ होता है। सभी दार्शनिक इस तथ्य से सहमत हैं। एक पदार्थ की सतत-भावना से वह सत्य नहीं हो सकता। चित्त के उत्कर्ष के लिए किसी भी असत्य पदार्थ की उपासना करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

यद्यपि पदार्थनिष्ठ सत्यता तथा मिथ्या के विवेचन के द्वारा नित्य सत्यवस्तु का निर्णय करने के बाद उपासनाएँ असंभव हैं, तथापि उसके पहले मिथ्या-पदार्थों में सत्यता-बुद्धि के साथ, अर्थात् ईश्वर-बुद्धि के साथ उपासना अविहित या निष्प्रयोजन नहीं होती। यदि ऐसा होता तो स्थूल-बुद्धियों के लिए एकाग्रता के मुख्य साधन—किसी मूर्त्ति, धाम, तीर्थ अथवा रमणीय प्रदेश का इतना परम्परागत प्रचार तथा समादर न होता। इस दृष्टि से यदि मेरा उक्त वर्णन मेरे पाठकों के लिए किञ्चित् भी उपयुक्त सिद्ध हुआ तो मित्रगण मुझपर कोई आक्षेप न करेंगे—यह मुझे पूर्ण विश्वास है। चित्-ज्योति किसी भी गुण तथा क्रिया से असंबद्ध है, वह सत्य है। उसी को स्वस्वरूप जानकर मैं उसी में आमोदित रहता हूँ और यह विश्वास रखता हूँ कि मेरा लिखना-पढ़ना ही नहीं, साँस लेना, खाना-पीना, विहार करना, भ्रमण करना एवं समाधि में रहना—यह सब कुछ अपने भाइयों के कल्याण के लिए ही हैं।

••

: २ :

शास्त्रों के द्वारा ही नहीं, नित्य के अनुभव के माध्यम से सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले लोगों के द्वारा भी यह एक मान्य तथ्य है कि ईश्वर की शक्ति 'अघटित-घटना-पटीयसी' एक विचित्र शक्ति है। यद्यपि कई असंभव बातें संसार में संभव होती दिखायी भी देती हैं, तो भी स्थूल दृष्टि के लोग इस पर विचार नहीं करते कि इसका हेतु क्या है ? मनुष्य-शक्ति किसी सीमा को पार करने में असमर्थ है, किन्तु ईश्वर-शक्ति के आगे कोई विघ्न है ही नहीं; अर्थात् ईश्वरीय-शक्ति को कालदेशादि से छिन्न करने के लिए और कोई शक्ति नहीं है।

शारदा मंदिर के बाहरी मकान के एक एकान्त स्थान में मैंने छः-सात दिन प्रशान्ति के साथ बिताये। अपने अनुचारी ब्रह्मचारी के साथ कुछ समय वेदांत विचार में तथा शेष समय देवी-दर्शन एवं भजन-ध्यान में बीतता रहा। यहाँ का पुजारी ब्राह्मण भोजन आदि के द्वारा हमारी परिचर्या करने में जागरूक था। साधु-महात्माओं की परिचर्या के लिए मंदिर की ओर से कुछ प्रबंध रहता था। इसके अतिरिक्त उनको हमारे आने के बारे में श्रीनगर से एक माननीय महात्मा द्वारा सूचना भी थी। वे स्वयं भी श्रद्धालु और परम भक्त थे। वे तथा उनका परिवार हमारा आदर-सत्कार करता था। इसलिए वहाँ हमें कोई बाहरी असुविधा नहीं होती थी।

किन्तु जब एक सप्ताह ऐसे व्यतीत हो गया तो मैंने वहाँ से नीचे की ओर ही चल पड़ने का निश्चय किया। मुझे ऐसा लगा कि चाहे यह ब्राह्मण-परिवार कितनी ही भक्ति के साथ हमारी परिचर्या करता रहे, तो भी उनके आश्रय में अधिक दिनों तक रहना अच्छा नहीं है। यद्यपि उस रमणीय तथा प्रशांत प्रदेश में कुछ और अधिक दिन ठहर कर भजन करने की मेरी तीव्र अभिलाषा थी, तथापि उस अभिलाषा को पूरा करने की कोई गति मुझे नहीं दीख पड़ी। ब्राह्मण-गृह के लिए हमें निश्चय ही भार नहीं बनना चाहिए।

किन्तु यदि इस समस्या का यह समाधान सोचा जाए कि स्वयं खर्च करके भोजनादि का निष्पादन कर वहाँ रहने में कौन-सी रुकावट है, तो एक भिक्षु का रूप छोड़कर, मैं एक धनी के रूप में हिमालय में कहीं भी और कभी भी जाकर रहना अथवा यात्रा करना नहीं चाहता था। मुझे अपना भिक्षु रूप ही अच्छा लगता था। इसके अतिरिक्त एक समाधान और भी था कि क्यों न

उतने दिन यहाँ निवास होगा ।

इस पर वह बोले, "स्वामीजी, यहाँ रहने में आप को कोई असुविधा नहीं होगी । इसलिए मैं विशेष रूप से प्रार्थना करता हूँ कि आप कुछ और दिन यहाँ रहने की कृपा करें । कल सवेरे मुझे एक और जगह जाना है । जल्द ही आकर आप के दर्शन करूँगा । स्वामी जी ! आप मुझे निराश न करें ।"

यों प्रार्थना करके वे वहाँ से चले गये । रोज़ हम वहाँ से उपर्युक्त कारणों से जाना चाहते थे, पर उस अभिलाषा में विघ्न पड़ जाता था । उपर्युक्त संभाषण के अगले दिन सवेरे पूजक ब्राह्मण ने मंदिर में हमारे पास आकर नमस्कार करने के बाद कहा, "स्वामीजी ! कल यहाँ आप के पास जो सज्जन आये थे, उन्होंने शाम को चावल आदि कई पदार्थ घर में भेज दिये हैं । यह सामग्री इस उद्देश्य से बहुत भेज दी है कि स्वामीजी कई सप्ताह तक यहाँ रहेंगे । हमें यह काम भी सौंपा है कि ठीक तरह खाना आदि खिलाकर आपकी परिचर्या करें । मेरा विश्वास है कि अब तो स्वामीजी के मन का संकोच दूर हो जाएगा ।"

ब्राह्मण का यह निवेदन सुनने पर मुझे संतोष तो हुआ ही, पर इससे बढ़कर देवी की महिमा में आश्चर्य हुआ । यह कितना सत्य है कि जगन्माता देवी मनुष्य के लिए अदृश्य रूप से सत्कार्य चला रही है । अब ही नहीं, इसके पहले भी कई बार यह मेरे अनुभव में आया है कि निर्जन तथा अति दुर्गम अचल-शिखर पर भी अपने पुत्रों की रक्षा करने में, उनकी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में, माता सदा जागरूक ही रही हैं । देवी के चरणारविन्दों में कुछ दिनों तक रहने की प्रबल अभिलाषा होने पर भी खाने की विषमता को दूर करने का कोई उपाय न देखकर हम वहाँ से जाने के लिए विवश हो गये थे । किन्तु हमें वहीं रोक कर रखने वाली अन्नपूर्णा जगदंबा की करुणा तथा महिमा का मैंने मन ही मन आदर किया । ईश्वर-शक्ति की गति निरंकुश है । ईश्वरीय शक्ति को कहीं कोई रुकावट नहीं है । ईश्वरीय शक्ति का कौन उल्लंघन कर सकता है ?

मलयालम पद्य की स्मृति हो आयी है :

रण्टु नालु दिनं कोण्टोरुत्तने,
तण्टिलेट्टी नटत्तुन्नतुं भवान् ।
माळिका मुकळेरिय मन्नन्टे,
तोळिल माराप्पु केट्टुन्नतुं भवान् ॥[1]

शारदा का निवास शांति-प्रचुर तथा आनन्दपूर्ण था । मन की शुद्धि तथा शांति में विघ्न उपस्थित करने वाला वहाँ कोई कारण नहीं था। लेकिन कभी-कभी काश्मीर प्रदेश में आये कुछ यात्री वहाँ आकर शारदा देवी के सामने भेड़ों की बलि देने की रीति को निभाते थे । यद्यपि यह घटना हमारी आँखों के सामने नहीं होती थी, तथापि हमारे मन में थोड़ा विक्षोभ एवं विषाद भर देती थी । काश्मीरी लोग भी बंगालियों के समान शाक्तेय होते हैं । अज-बलि आदि कृत्य शाक्तेय तांत्रिकाचार के अंग हैं और काश्मीर के ज्यादातर मुख्य मंदिरों में प्रचलित हैं । बड़े श्रद्धालु एवं बूढ़े पुजारी ब्राह्मण अक्सर मुझे समझाया करते थे कि भेड़ को काटकर बलि न देने से देवी अतृप्त रहती है । इस के अतिरिक्त वे मुझे इस कराली काली देवी की महिमाओं और पराक्रमों के सम्बन्ध में भी कई कहानियाँ सुनाते थे ।

× × ×

यद्यपि आधुनिक चिन्तकों की यह राय है कि हिन्दुओं के ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा दूसरे देवता केवल पौराणिकों के कल्पित पात्र-विशेष हैं, तथापि वे निग्रहानुग्रह-शक्ति के साथ यथार्थ-मूर्त्ति के रूप में आज भी भक्तों के हृदय में निवास करते हैं । कितने ही भक्त विष्णु, शिव, शक्ति आदि का साक्षात्कार करके आनंदित हुए हैं और आज भी हो रहे हैं । अतः यद्यपि इन चिन्तकों की दृष्टि में देव-देवी सब कल्पित हैं तो भी भजनशील व्यक्तियों के लिए वे अकल्पित हैं और साक्षात् देखने एवं व्यवहार करने योग्य हैं, भजनीय हैं, तथा सनातन सत्य रूप में सदा विद्यमान रहते हैं । युक्तिवादी लोग किसी भी सिद्धान्त को चाहे विभिन्न दृष्टिकोण से प्रकट करें, तो भी आस्तिक भक्त लोग उस से तनिक भी विमुख नहीं होते ।

यह स्थल देवदारु आदि दिव्य वृक्षों तथा अन्य प्रकार के वृक्षों से अपूर्ण

---

1. हे भगवान् ! दो ही चार दिनों में किसी को पालकी पर चलाने वाले भी आप हैं, तथा महल के ऊपर विराजमान महाराजा के कंधे पर चीथड़े डाल देने वाले भी आप हैं ।

था। इसमें विहार करना मेरे लिए एक स्फूर्तिदायक विनोद था। अहा ! किन-किन रूपों में वह परमात्मा प्रकट हुए हैं ! इन विषैले पौधों और अमृतमय पौधों में, फलदार वृक्षों और फलहीन वृक्षों में वही परमात्मा विद्यमान है। परमात्मा का भावना-वैचित्र्य कितना विलक्षण है ! जब इस पर विचार करते हैं कि किन-किन आकृतियों एवं प्रकृतियों का भावन करके परमेश्वर ने इस चराचरमय जगत् का सर्जन किया है तो उसकी कोई सीमा नहीं दिखायी देती। जैसे एक चित्रकार एक चित्र की रचना करने से पहले उसकी मन ही मन कल्पना करता है, वैसे ही उस महा चित्रकार परमेश्वर ने भी हर एक सृष्टि से पहले उसके बारे में भावन किया होगा; और अब भी वे भावन करते होंगे। भावन के बिना सृष्टि संभव नहीं है। ऐसा कोई पदार्थ स्पष्ट अथवा संजात हो नहीं सकता जो ईश्वर के भावन के अन्तर्गत नहीं आता। इतना ही कहना है कि ईश्वर का भावन-विस्तार अनंत एवं अचिन्त्य है। भिन्न-भिन्न आकार में ईश्वर का परिणाम ही सृष्टि है।

चूँकि ईश्वर से भिन्न कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं होती, अर्थात् ईश्वर-सत्ता को छोड़कर और कोई सत्ता नहीं है, इसलिए जगत् के नाम से व्यवहृत वस्तु ईश्वर ही है। लेकिन दूसरे पक्ष में नाम-रूपात्मक जगत् ईश्वर नहीं हो सकता। क्षण-क्षण बदलते हुए विकारी एवं विनाशी दिखायी देनेवाला यह जगत् ईश्वर कैसे हो सकता है ? यदि यह जगत् ईश्वर हो तो ईश्वर भी विकारी एवं विनाशी हो जाता है। ईश्वर तो सत्य वस्तु है, अर्थात् जिस सत्य वस्तु में कभी कोई विकार या विनाश नहीं होता है, वही ईश्वर है। सर्वविदित है कि इस जगत का हर-एक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। जो रूप या दशा आज की है वह कल की नहीं हो सकती; कल की दशा परसों की नहीं हो सकती। लेकिन ऐसे क्षण-परिणामी पदार्थों में कोई स्थिर-स्वरूप वस्तु आंतरिक एवं अनुस्यूत रूप में विद्यमान है जिसमें परिवर्तन नहीं होता। वही तो ईश्वर है। जैसे धागे के बिना फूलों की माला नहीं होती, वैसे ही ईश्वर के बिना जगत् भी नहीं होता।

आत्मा एवं ब्रह्म कहलानेवाला वही है। सभी असत्य वस्तुओं का आधारभूत केवल एक ही सत्य कहलानेवाला भी वही है। सत्य हमेशा एक ही होता है। सत्य दो नहीं हो सकते। दो सत्य वस्तुएँ, दो स्वतंत्र वस्तुएँ तथा दो आधारभूत वस्तुएँ—ऐसा कहना युक्ति के बिलकुल विपरीत है। यदि सत्य वस्तुएँ हों तो वे एक दूसरे से परिच्छिन्न हो जाती हैं। परिच्छिन्न वस्तु तो

कभी स्वतंत्र, सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वनियामक नहीं हो सकती। अपरिच्छिन्न एवं सर्वाधिष्ठित केवल एक ही वस्तु सत्य है। इस सर्वतःसत्य प्राचीन वेदान्त-सिद्धांत का आज की विज्ञान-विद्या भी अनुकरण करती है, जिसका तर्क है कि 'अपरिच्छिन्न एवं अविनाशी एक ही शक्ति से सभी जगतों का आविर्भाव हुआ है।' कोई अनुकरण करे या न करे, सत्य सदा सत्य है। सत्य हमेशा एक ही है। इसकी रंचमात्र भी हानि किसी भी क्षण में नहीं हो सकती। नवीन विज्ञान-विद्या तथा कई प्रकार के दर्शनों के आविर्भाव से चाहे प्राचीन विश्वासों एवं सिद्धान्तों में चाहे कितने ही परिवर्तन संभव हो जाएँ, तो भी यह सिद्धान्त कभी परिवर्तित नहीं हो सकता कि केवल एक ही वस्तु सत्य है। यही सत्य वस्तु सब का आधार एवं मूल कारण है। सबको चेतना देती है तथा सब में अनुस्यूत एवं व्याप्त होकर सर्वदा प्रकाशमान है।

आचार्य-पंक्ति के अग्रणी बुद्ध भगवान् का भी यही सिद्धांत है कि क्षण-क्षण-परिणाम को पाते रहनेवाला यह जगत् सत्य नहीं है, वह केवल प्रातिभासिक है और वह जिस में रहकर प्रतिभासित हो रहा है, वही एक वस्तु सत्य है। भगवान् बुद्ध का मत शून्यवाद नहीं है। उन्होंने कभी इस बुद्धिहीन सिद्धांत का उपदेश नहीं दिया है कि परमतत्त्व शश-विषाण के समान असत् है और असत्य से सत्य जगत् की उत्पत्ति होती है। उनके शिष्यों में कुछ ने उनके आशय को ग़लत समझा तथा उसकी व्याख्या अन्यथा की। उनका आशय था कि वह परम तत्त्व शून्य-सदृश है। वह किसी भी प्रमाण के लिए अविषयक है; किसी भी संज्ञा से निर्दिष्ट होने में असमर्थ है; तथा सत्-असत् कहलाने में भी अविषयक है। यह आशय सभी उपनिषदों के लिए सम्मत है। जो वस्तु व्यवहार का विषय नहीं है, वह दृष्टि में शून्य ही है। फिर भी वन्ध्या-पुत्र के समान परम शून्य नहीं है। उनके उपदेश के अन्तर्गत इस गंभीर आशय को उनके शिष्यों में से कई नहीं जान सके। उनके शिष्य ही नहीं, उस समय की जनता भी उनके इस आशय-रहस्य को नहीं जानती थी। एक ओर बुद्ध भगवान् यों स्पष्ट कहते हैं: "श्रमण गौतम एक अविश्वासी (नास्तिक) हैं। सत्यवस्तु के विनाश, शून्यता, अर्थात् अभाव का ही वे उपदेश देते हैं। इस तरह कई लोग— जो मुझमें नहीं है उस नास्तिकता का तथा जो मेरा सिद्धांत नहीं है, उस शून्य सिद्धांत का मुझ पर आरोपण करते हैं।"

इस प्रकार भगावन् बुद्ध की कई परिभाषाओं से यह निःशंक सिद्ध होता है कि वे शून्यवादी नहीं, ब्रह्मवादी थे। सभी प्राचीन और अर्वाचीन उच्च

दार्शनिक अद्वैत लक्ष्य में आ पहुँचते हैं। उच्च अद्वैत लक्ष्य में आये बिना विचार-शीलों की और कोई गति नहीं है; अर्थात् अनुमान-कुशलों के मन को समाधान एवं शांति नहीं मिलती। परमार्थ-दृष्टि में तो एक ही वस्तु में—जिसमें 'मैं—तू' का कोई भेद नहीं हैं—रमना ही परम पुरुषार्थ है। उस वस्तु में रमनेवाला ही परम धन्य है। देवी-देवता तथा भक्ति-भक्त का सारा व्यवहार असत्य-दृष्टि में है; अर्थात् द्वैत-दृष्टि में है। जब द्वैत-भावना, अर्थात् देह-भावना की जाती है तो नियम्य-नियामक संबन्ध में भी सभी देवी-देवता उपस्थित रहते हैं। द्वैत के बिना देवी एवं देवी-भक्ति संभव नहीं होती। आत्मभावना में, अर्थात् आत्मरूप अद्वैत सत्यवस्तु की भावना में, देव, देव-भक्त और देव-भक्ति कुछ भी शेष नहीं रहता। श्रीरामचन्द्र के प्रति हनुमान का यह निर्वचन कितना सत्य है कि देह-दृष्टि में मैं आप का दास हूँ। जीव रूप में मैं आपका अंश हूँ। परमार्थ-दृष्टि में मैं और आप एक ही है, कोई भेद नहीं होता :

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

विचार करने पर ज्ञात होता है कि चैतन्य वस्तु एक ही है। एक ही अखंड वस्तु में कोई व्यवहार होता भी नहीं हैं।

× × ×

आइए, अब हम प्रकृत विषय पर आएँ। मैं नहीं भूल सकता कि शारदा की वन-विचित्रता तथा एकांत-गंभीरता मेरे मन को कैसे उच्च विचारों की ओर उठा ले जाती थीं। वहाँ हमने पूर्ण शान्ति के साथ डेढ़ महीने तक निवास किया। शारदा की कृपा से भोजन तथा पुजारी-परिवार की प्रेमपूर्वक परि-चर्या की कोई कमी नहीं थी। यद्यपि वहाँ का जीवन निर्विक्षेप, अनन्य-चित्त एवं शांतिदायक था, तथापि हमने कश्मीर के दूसरे एक पुण्यधाम अमरनाथ की यात्रा करने के संकल्प से शारदा को छोड़ने का निश्चय कर लिया। हमारा यह निश्चय सुनकर वहाँ के लोगों ने बड़ा दुःख प्रकट किया। साथ रहने से प्रेम बढ़ता है। वियोग प्रेम को घटाता है। बहुत दिनों तक हमसे परिचित होने के कारण और हमारी प्रकृति का मधुर रूप से आस्वादन करने के कारण उन्हें हमारी वियोगवार्ता से बड़ा दुःख हुआ। साधु-महात्माओं के रूप में उन्हें हमसे कोई लाभ प्राप्त नहीं था, क्योंकि संसार के ताप से तप्त एवं तत्त्व-चिंतक लोग ही साधुओं से भक्तिपूर्वक व्यवहार करके उन से कई अध्यात्म-रहस्यों को ग्रहण कर कृतकृत्य होते हैं, लेकिन तत्त्व-चिन्ता से हीन उन लोगों को

हमसे यह सब कुछ भी अभीष्ट नहीं था। फिर भी, हम उनके स्नेह तथा आदर के पात्र बन गये थे। जो भी हो, हमने आषाढ़ महीने के मध्य में एक दिन स्नान-भोजनादि के उपरान्त शारदा के चरणारविन्दों में भक्ति-पूर्वक साष्टांग प्रणाम किया, और वहाँ से कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की ओर यात्रा प्रारम्भ की। पूजकगृह के मातृजनों ने अश्रुपूर्ण नयनों से हमें विदा दी तथा शेष सभी लोगों ने थोड़ी दूर तक हमारा साथ देकर हमसे विदा ली।

तीन-चार दिनों में हम कठिन पर्वत-प्रदेशों को पार करके कश्मीर के समतल मैदान में प्रविष्ट हुए। जिस मार्ग से हम श्रीनगर से इधर आये थे, उसे छोड़कर एक और रास्ते से हम उधर चले। मनोहारी कश्मीर के मैदान में इधर-उधर के कुछ गाँवों तथा कुछ छोटे तीर्थ-स्थानों में रहकर विश्राम करते हुए धीरे-धीरे हमने यात्रा की। सत्संग तथा ब्रह्म-विद्या में आकांक्षा रखनेवाले एक कश्मीरी ब्रह्मचारी भी उस समय मेरे साथ थे। अतः हमें अच्छे मार्ग से ले जाना, अच्छे स्थानों पर रखना, गाँवों में भिक्षा का प्रबंध करना आदि सभी कार्य वे ठीक तरह निभाते थे। कश्मीरी भाषा अच्छी तरह व्यवहार करने का ज्ञान हम में नहीं था। किन्तु उनके सम्पर्क से हमें इस कठिनाई का भी अनुभव नहीं हुआ। बड़े आनन्द से धीरे-धीरे यात्रा करते हुए कुछ दिनों में हम जेहलम नदी के तट पर पहुँच गये। जेहलम नदी के किनारे-किनारे जल से भरे चावल के विशाल खेतों के साथ-साथ तीन-चार दिन यात्रा करने के बाद हम 'क्षीर-भवानी' पहुँच गये। क्षीर भवानी काश्मीर में एक मुख्य देवीमंदिर है। यहाँ एक कुंड ही मुख्य रूप से दर्शनीय है, जिसमें हमेशा फेन उठता रहता है, और कुछ लाल रंग का जल भरा रहता है। लोग इसे देवी की विभूति-महिमा अथवा देवी का विलास-स्थान समझते आ रहे हैं।

हमारे पूर्व-महर्षियों ने लोकविलक्षण एवं विस्मयकारी वस्तुओं की ईश्वरोपासना के प्रतीकों (आलंबनों) के सम्बन्ध में जो कल्पना की थी उसकी महिमा ज्ञानी ही जानते हैं। आश्चर्य-दर्शन से सामान्य जनता के मन में एकाएक ईश्वर-भावना की उद्भावना होती है। विचित्रतर पदार्थोंको ईश्वर का प्रतीक तथा विचित्रतर भूखण्डों को ईश्वरोपासना का स्थान इसीलिए माना गया है कि इन्हें देखकर निःसन्देह ईश्वर-चिन्तन उत्पन्न होता है, और इसे दृढ़ बनानेमें ये अत्यंत उपयुक्त हैं। प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य-प्रकृति के मर्मों को ठीक तरह से जान-पहचानकर उन्हें ईश्वर-साम्राज्य की ओर उठाने के लिए हरएक धार्मिक संस्था एवं कर्मोपासना की कल्पना की थी, किंतु

इसका रहस्य जाने बिना ही आज के कुछ पंडित उनपर और उनके अनुयायियों पर अज्ञ अंध-विश्वासी होने का आक्षेप करते हैं। अस्तु ! क्षीर-भवानी नामक यह स्थल तथा वह कुण्ड बड़ी विचित्रता लिए हुए जनता के मन को ईश्वर-चिन्तन की ओर उन्नमित करते हुए विराज रहा है।

क्षीर-भवानी से दो-तीन मील स्थल से चलकर फिर श्रीनगर की ओर लगभग दस बारह मील जल से होकर हमने यात्रा की। रास्ते में अनेक बड़े-बड़े लहराते हुए सरोवर आये। उनमें असंख्य नौकाएँ इधर-उधर चलती रहती थीं। यह दृश्य अति हृदयहारी है। लम्बी-लम्बी कृत्रिम सरिताओं में दूसरे कई यात्रियों के साथ मिलकर हमने भी नौका-विहार किया था। यह सब देखकर हमें केरल की खाड़ियों की यात्रा की याद आ रही थी कि यदि केरल में खाड़ियों के किनारों पर नारियल के बाग हैं तो यहाँ सरोवर के किनारों पर चावल के खेत तथा विशिष्ट वृक्षों से अलंकृत रमणीय पर्वत हैं। काश्मीर की झीलें अत्यन्त मनोहारी हैं। इनमें लाल कमल अनल्प सुषमा को बिखेर रहे हैं। हिमगिरि पर भी जल समुद्र-तट के ही समान अपने सुविशाल रूप में उमड़-घुमड़ रहा हो--यह महान् दृश्य देखकर अति विस्मय होता था। कुछ घंटों में यह अमित आनन्दकारी जल-यात्रा समाप्त हुई और हम अपने गंतव्य स्थान श्रीनगर पहुँच गये।

००

७. अमरनाथ

अमरनाथ की यात्रा का वर्णन लिखने से पूर्व मैं एक दार्शनिक चर्चा करना चाहता हूँ। 'नैषधीयचरित' नामक महाकाव्य के कर्त्ता श्री हर्षमिश्र ईस्वी की बारहवीं शताब्दी के एक महान कवि थे। सरस कवि होने के साथ-साथ वे कर्कश तर्क में भी अति प्रवीण थे। यद्यपि काव्य में उन्होंने शृंगाररस का वर्णन किया है तो भी वे विषय-रस-सेवी नहीं थे। ब्रह्म-निष्ठ, ब्रह्मरस-सेवी तथा समाधि-प्रिय थे। वह 'कवि-तार्किक-चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित थे। उनका 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक ग्रंथ वेदांत-ग्रंथों की पंक्ति में सर्वोत्तम स्थान रखता है। विचार-गंभीरता, तर्क-शैली तथा खण्डन-प्रौढता की दृष्टि से इसकी तुलना में और कोई ग्रंथ वेदांत-विभाग में आविर्भूत नहीं हुआ। इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—नैयायिक, मीमांसक आदि के तर्कों का तिलशः खण्डन कर जगत को अनिर्वचनीय तथा केवल अद्वैत ब्रह्म-मात्र को सत्य सिद्ध करना। अद्वैत-बुद्धि को किसी द्वारा भी अबाध्य प्रमाणित करने के लिए उन्होंने भेद-वादियों के 'भेद' रूपी पदार्थ का विकल्पपूर्वक जो खंडन किया है, उसकी रीति का जरा यहाँ वर्णन करेंगे। वे वस्तुतः खंडन-कला में अति कुशल थे।

'एकमेवाद्वितीयम्' आदि अद्वैत-श्रुतियों से उत्पन्न अद्वैत-बोध ठीक नहीं है, क्योंकि घट, पट आदि पदार्थों का भेद प्रत्यक्ष रूप से सबसे ग्रहण किया जाता है। घट-पट आदि का अभेद-ज्ञान श्रुतिजन्य-अद्वैत ज्ञान के लिए, अर्थात् अभेद-ज्ञान के लिए, बाधक है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष-सिद्ध भेद-ज्ञान के सिवा, श्रुति-सिद्ध अद्वैत-ज्ञान प्रबल या यथार्थ नहीं हो सकता।" यह भेद-वादियों का तर्क है। फिर भी उनके 'भेद' नामक पदार्थ के स्वरूप पर जरा विचार करें—

—विचार-दशा में भेद नामक कोई पदार्थ ही प्रत्यक्षादियों के विषय में सिद्ध नहीं होता। स्वरूप, अन्योन्यभाव, वैधर्म्य, पृथक्त्व-इन चार प्रकारो में प्रभाकर आदि दार्शनिकों ने भेद-पदार्थ का निर्वचन किया है। किन्तु ये चारों पक्ष ठीक नहीं हैं।

स्वरूप ही भेद हो तो घट-प्रतियोगिक भेद (घट से भेद) पट का स्वरूप

शारदा से आकर श्रीनगर में दस-बारह दिन से अधिक रहने का अव-काश हमें नहीं था, क्योंकि श्रावण महीने की पूर्णिमा के दिन ही अमरनाथ के मुख्य दर्शन होते हैं। साल में एक ही बार के इस तरह पवित्र दर्शन के लिए हजारों लोग पूर्णिमा के पहले ही पंजाब आदि देशों से श्रीनगर पहुँच जाते हैं, और वहाँ से सब समूह बना कर, उत्सव के रूप में, ऊपर की यात्रा करते हैं। यात्रा के लिए आवश्यक डेरे आदि सामग्रियाँ तैयार कर कश्मीरी सरकार यात्रियों की सहायता करती है।

पूर्णिमा के आठ-दस दिन पहले अनेक यात्रियों के बीच मैं भी ब्रह्मचारी के साथ अमरनाथ के लिए रवाना हुआ। श्रीनगर से इकसठ मील दूर 'पहल-गाम' नामक स्थान तक समतल भूमि है। फिर वहाँ से अमरनाथ तक ऊपर इकतीस मील तक विकट तथा उच्चतर पर्वत-पंक्तियाँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर लगभग बानवे मील की दूरी होती है। पहलगाम तक चौड़ी सड़क है और गाड़ियों का आवागमन है। इसलिये यात्रियों में से अधिकतर लोग वहाँ तक गाड़ियों में ही यात्रा किया करते हैं। किंतु मैंने श्रीनगर से तीस मील दूर स्थित 'अनंतनाग' तक तो मोटर में यात्रा की, तथा शेष सारी यात्रा पैदल ही की। इस रमणीय मार्ग पर धान के खेत हैं, जिनकी गुच्छेदार बालियां हर समय लहराती रहती हैं। इन खेतों के बीचों-बीच ऊँचे-ऊँचे, समान आकार के साया-दार वृक्षों की मनोहारी कतारें हैं। यह सब कुछ अत्यन्त हृदयहारी है।

अनंतनाग कुछ अधिक आबादी का एक छोटा-सा नगर है। यहाँ से सोलह मील दूर 'वेरीनाग' नामक स्थान से सुप्रसिद्ध जेहलम नदी निकलती है। पैदल यात्री अनंतनाग से पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित पहलगाम में दो-तीन दिनों में पहुँच जाते हैं। पहलगाम दुग्ध गंगा के किनारे एक रमणीय तथा निर्जन स्थान है। देवदारु वृक्षों से घने और हरे-भरे पवित्र वन यात्रियों के मन को हठात् आकृष्ट कर लेते हैं। वहाँ हमें ऐसे कई वास-स्थान दिखायी पड़े जहाँ अँग्रेज आदि स्वास्थ्य-वृद्धि तथा सुखानुभव के लिए आकर ठहरते हैं।

हमने दो-तीन दिन पहलगाम में विश्राम किया। विश्वंभर की कृपा से भोजन, वस्त्र आदि सब कुछ हमें यथासमय, किसी कष्ट के बिना मिल जाते थे। भोजन के बाद लोगों की भीड़भाड़ से दूर, मैं एकान्त में जाकर आनन्द भोगता रहा। एक मध्याह्न उस देश के कुछ मुसलमानों ने वनातंर में एकाकी बैठे मुझे देखकर यों कहना शुरू किया—"बाबाजी, आजकल भालू अकसर दिन में भी घूमा करते हैं। आपका यहाँ अकेले बैठना अच्छा नहीं है।"

और मैं सोचने लगा —देह की भावना करने पर तो भालू बड़ा ही भयानक तथा क्रूर जंतु है, लेकिन आत्मा की भावना करने पर वही सुखात्मक तथा अति प्रेमास्पद बन जाता है।

पहलगाम से यात्रा शुरू करने पर छः-सात मील दूरी पर 'चन्दनवाटी' स्थान आता है। यहाँ यात्री विश्राम करते हैं। पहलगाम से ऊपर भू-प्रकृति अत्यन्त भिन्न दिखायी देती है। पहलगाम तक तो अच्छी मैदान-भूमि है। किन्तु वहाँ से ऊपर उन्नत तथा विचित्र पहाड़ शुरू हो जाते हैं। इसी कारण आरोहण-जन्य यात्राक्लेश भी शुरू हो जाता है। दुग्ध-गंगा के किनारे-किनारे मार्ग ऊपर जाता है। यहाँ की भूमि पर्वत-वनाच्छादित तथा अत्यानन्ददायक है और यात्रियों के यात्रा-क्लेश को कम कर देती है।

चन्दनवाटी से आगे का विश्राम-स्थान 'शेषनाग' है। शेषनाग समुद्र की सतह से बारह हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित लगभग एक मील घेरे का एक मनोहर सरोवर है। दुग्ध वर्ण का पवित्र जल इस सरोवर की एक बड़ी विलक्षणता है। उपर्युक्त पुण्य-सरिता दुग्ध-गंगा इसी सरोवर से निकलती है। इस सरोवर के ऊपर लगभग एक मील दूर एक विशाल मैदान है, जहाँ यात्री डेरा डालकर रहते हैं। सरोवर की सौन्दर्य-महिमा का आनन्द भोगने की इच्छा से आते-जाते कुछ अन्य साधुओं के साथ मैं उसके किनारे, जल के बिलकुल पास जाकर बैठता था और उसके हिम-शीतल तीर्थजल में अवगाहन आदि कर्म यथाविधि तथा भक्तिपूर्वक किया करता था। इस प्रदेश को अति दिव्य कहा जा सकता है। यह शिलोच्चय हिम-पटलों से आपूरित है। अतः अति धवल है। वृक्षादि से हीन यह पर्वत बिलकुल नग्न ही चारों ओर समुन्नत रूप में खड़ा है। अहा! वहाँ का विस्मयजनक तथा अलौकिक सुषमा-विलास केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। वह वर्णन का विषय नहीं है।

शेषनाग के मैदान में, जहाँ का जाड़ा असहनीय था, बड़ी कठिनाई से हमने एक रात काटी। सारी रात वर्षा होती रही। वर्षा अधिक समय तक होती रहे तो इन प्रदेशों में हिमपात भी शुरू हो जाता है। मैं भी दूसरे परिव्राजकों के समान यात्राओं में कपड़े अधिक नहीं ले जाया करता। अतः शीत के कष्टों को बड़ी तितिक्षा के साथ सह लेना पड़ा।

अगले दिन वहाँ से चार-पाँच घण्टों की यात्रा करके 'पंच तरंगिणी' के नाम से प्रसिद्ध स्थान पर पहुँच गया। बीच-बीच में पर्वतारोहण के प्राप्त होने से तथा शीताधिक्य के कारण यात्रियों को यहाँ कुछ अधिक कष्ट सहना पड़ता

फिर भी कोई साधु तो गुफ़ा में ही कई-कई दिन तक रहते हुए भजन किया करते हैं। अधिकांश यात्री श्रावण पूर्णिमा के दिन ऊपर चार मील चलकर गुफ़ा में जा अमरनाथ आदि के दर्शन करके तुरन्त ही नीचे की ओर लौट आते हैं।

पंचतरंगिणी से गुफ़ा तक पहुँचने के दो मार्ग हैं। एक पुराना, अधिक चढ़ाई का कठिन है। दूसरा नवीन और थोड़ा सरल है। यह नवीन मार्ग एक पहाड़ की परिक्रमा करते हुए चक्राकार रूप में ऊपर जाता है। प्राचीन मार्ग उसी पहाड़ के एक ऊँचे शिखर पर चढ़कर उसे पार करके नीचे उतरता है। प्राचीन मार्ग खतरनाक है। इसलिए यात्रियों के लिए उस पर जाना मना है। फिर भी, लौटते समय हिम-संहति से आवृत उस अलौकिक दृश्यों का स्पष्ट दर्शन देनेवाले पर्वत-शिखर पर चढ़ने के लिए मैं और मेरे कुछ साधु साथी लालायित हो उठे और हमने उसी पुरातन सरणि का अनुगमन किया।

हमने पंचतरंगिणी से दस बजे भिक्षा लेकर गुफ़ा की ओर प्रस्थान किया। वहाँ सैंकड़ों लोग इधर-उधर आ-जा रहे थे। उस तंग, निविड़ मार्ग से हम बड़ी कठिनाई के साथ धीरे-धीरे चलकर लगभग एक बजे गुफ़ा के निकट पहुँच गये। वह स्थान जहाँ-तहाँ से हिमाच्छन्न था। नीचे की ओर एक छोटी जलधारा बह रही थी! वहाँ की 'अमर गंगा' में स्नान-ध्यान करने के इच्छुक भक्त-जन 'अमरनाथ की जय' की उच्च जयध्वनि से चारों ओर वातावरण को गुंजा रहे थे। हमारा अन्तःकरण अत्यधिक भक्ति एवं आह्लाद से आपूरित था।

अब हम देवों से भी वंदनीय उस पाषाण-बिल के अन्दर प्रविष्ट हो गये। लोग भक्ति से मदोन्मत्त होकर भीड़-भाड़ में सब कुछ विस्मरण कर भगवान् के दर्शन कर रहे थे। यह गुफ़ा लगभग एक सौ-पचास फुट ऊँची तथा उतनी ही लंबी-चौड़ी है, तथा समुद्र की सतह से तेरह हज़ार फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह अठारह हज़ार फुट ऊँचे एक महान् शिलोच्चय के पार्श्व में ही है। गुफा में देव-मूर्त्ति की आकृति के हिम-पिंड इधर-उधर चार-पाँच स्थानों पर दिखायी देते हैं। उन में सबसे बड़ा हिम-पिंड ही अमरनाथ की मूर्त्ति है। जहाँ तक मुझे स्मरण है दूसरे हिम-पिंड पार्वती-गणेश आदि की मूर्त्तियाँ हैं।

आधुनिक चिन्तकों की राय है कि जाड़े के दिनों में पाषाण-छिद्रों से जो पानी टपक पड़ता है उसका हिमाकार ही हैं ये प्रस्तुत मूर्त्तियाँ। वे प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए कहते हैं कि ज्येष्ठ-आषाढ़ महीनों में ये हिम-पिंड आकृति में कुछ अधिक बड़े दीखते हैं और धीरे-धीरे हिम के पिघलने से छोटे होते-होते आश्विन-

कार्तिक मासों में ये निरवशेष लीन हो जाते हैं। लेकिन बड़े-बूढ़े और श्रद्धालु लोग इनके इन पाप-द्वार पाखंड-प्रलापों को नहीं सह सकते। स्थल-पुराण को प्रमाण मानकर उनका यह विश्वास है कि अमरनाथ आदि की मूर्त्तियाँ प्रतिवर्ष नवीन रूपसे पानी के गिरने से बने हिम-पिंड नहीं है। गुफ़ा के अन्दर तो जलस्राव के लिए छिद्र ही नहीं हैं। ये तो काल-निरपेक्ष, निश्चल भाव से स्थित हिम-पिंड हैं। हाँ, कृष्णपक्ष में चन्द्र-बिंब के अनुकूल वे थोड़ा-थोड़ा क्षत होते जाते हैं तथा शुक्लपक्ष में क्रमशः वृद्धि पाते-पाते पूर्णिमा के दिन पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः श्रद्धा पर आश्रित किसी एक धारणा को हिलाने में भला कौन-सा प्रमाण समर्थ हो सकता है? सभी प्रमाण बड़े गर्व के साथ एक श्रद्धालु के पास पहुँच तो जाते है, किन्तु उसके आगे सिर उठाकर खड़ा होने का समर्थ उनमें नहीं होता। अहो, श्रद्धा भगवति! आपकी जय हो! जय हो! यदि आप सर्वत्र सर्वोत्कर्ष तथा प्रतापी रूप में इस जग में वर्तमान न होतीं तो धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन कैसे जीवित रह पाता?

अनेक यात्रियों की भीड़ में हमने भी सब मूर्त्तियों के दर्शन किये। गुफ़ा के अन्दर पाषाण-छिद्र में रहनेवाले तीन-चार पुण्यात्मा कबूतरों को भी हमने आमोदपूर्वक देखा। लोगों का विश्वास है कि गुहा-निवासी ये कपोत ऋषि-पुंगव हैं और पुण्यवानों को छोड़ अन्य लोगों को इन पक्षियों के दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते। जब हम गुफ़ा के अन्दर खड़े थे तो वे कबूतर बाहर से अन्दर उड़ते हुए अपने प्रस्तर-कोटरों में आ बैठे। कृपापूर्वक हमें दर्शन देनेवाले वे कबूतर ऋषीश्वर हों अथवा सामान्य पक्षी, किन्तु मेरे दिल में उन्होंने आह्लाद तथा भक्ति उत्पन्न कर दी। उनके इस एकांतवास के बारे में भी हमने विचार किया और विस्मित हुए।

गुफ़ा के अन्दर दूसरी एक छोटी गुहा में उत्पन्न भस्माकृति की एक सफ़ेद मिट्टी को लोग प्रसाद के रूप में स्वीकार करते हैं, शरीर पर उसका लेपन करते हैं और घर ले आते है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस मिट्टी को प्रसाद रूप में देने तथा उसकी दक्षिणा के रूप में पैसा लेने आदि अधिकार एक मुसलमान के हाथ में है। सारा ब्राह्मणत्व वहाँ उस मुसलमान के आगे घुटने टेकता है। ईश्वर-प्रसाद, चाहे कैसे व्यक्ति के हाथ में हो, वह मूल्यवान् होता है। ब्राह्मण जाति श्रेष्ठ, मुसलमान जाति अश्रेष्ठ है, ऐसी मानव-निर्मित धारणाएँ इस ईश्वरीय सम्बन्ध का उल्लंघन नहीं कर सकतीं कि ईश्वरीय-प्रसाद पवित्र है; वह किसी के हाथों दूषित नहीं हो सकता।

बाहर अमरनाथ की यात्रा को मंगलपूर्वक पूरा करके मैं श्रीनगर के एकान्त उद्यान में एक महीने से अधिक समय तक शान्ति-पूर्वक रहा। फिर वहाँ सेनौ हजार दो सौ फुट की ऊँचाई पर स्थित 'बनिहाल पास' के द्वारा 'जंबु' नगर में जाकर मैंने कुछ दिनों तक विश्राम किया, तथा इसके बाद आश्विन महीने में रेलगाड़ी के द्वारा उन्मेषपूर्वक हृषीकेश पहुँच गया।

●●

८. ज्वालामुखी

ज्वालामुखी पश्चिम हिमालय में एक बड़ा ही मशहूर मंदिर है। यद्यपि इस प्रदेश में नाना प्रकार की आकृतियों एवं प्रकृतियों वाले अनेकानेक देव-देवियों की पूजा जहाँ-तहाँ की जाती है, तथा हमारे प्राचीन ग्रंथों में उनका विशद वर्णन भी किया गया है, तथापि इस बात पर विचार-विमर्श करना व्यर्थ है कि ये सब कब और कैसे हुए, क्योंकि इन सब का उत्तर विज्ञान भी देने में असमर्थ है। देवी के अनेक आकारों में एक आकार ज्वालामुखी भी है। इस देवी के विहार-स्थान इस भू-भाग को भी लोग उपचार से ज्वालामुखी कहते हैं।

ज्वालामुखी समुद्र की सतह से केवल दो हजार फ़ुट की ऊँचाई पर हिमालय के निम्न-प्रदेश में स्थित है। पंजाब प्रांत के प्रसिद्ध नगर 'होशियारपुर' से ऊपर का मार्ग शुरू होता है। यहाँ से हिमगिरि की तराई की छोटी पहाड़ियों से होकर पचास मील दूर उत्तर की ओर चलें तो यह मंदिर आ जाता है। इस मार्ग पर एक तरह की सफ़ेद विलक्षण मिट्टी बिछी है। घनी झाड़ियों से आच्छन्न यह मार्ग हिमालय की छोटी-छोटी कमनीय पहाड़ियों के बीच में से गुज़रता चला जाता है।

रेलगाड़ी से उतरकर यद्यपि कुछ भक्तों की प्रेरणा से मैंने मोटरगाड़ी में हिमालय के अन्दर कुछ दूर तक यात्रा की, किन्तु गाड़ी में बैठा रहना मुझे शरीर के लिए कुछ अस्वास्थ्यजनक लगा। इसलिए मार्ग के बीच ही उतर कर मैं पैरों की सवारी पर ही अकेले चलने लगा। अभिशाप भी अनुग्रह बन जाता है। गाड़ी से उतर कर मुझे पैदल तो चलना पड़ा, किन्तु मैं स्वतंत्र-विहार करने तथा हिमगिरि-सुषमा का पूर्णतया उपभोग करने में भी समर्थ हो गया। गाड़ी में चलता तो इस आनंद का सहस्रांश भी अनुभव नहीं कर सकता था।

इस लौकिक विषय की तरह उधर आध्यात्मिक विषय में भी इस न्याय का संयोग कर सकते हैं। आध्यात्मिक साधनाओं का अनुष्ठान करते समय कभी किसी में कुछ पतन हो सकते हैं; अर्थात् साधक का चित्त तथा

इन्द्रियाँ अपने उच्च एवं शुद्ध पद से गिर कर मलिन पाप-वासनाओं और पाप-कर्मों में फँस सकती हैं। किन्तु इससे हमें निराश नहीं होना चाहिए; प्रत्युत आशा रखनी चाहिए। जो व्यक्ति पतन को उत्कर्ष का हेतु समझता है, वह पतन के समय आशावान बना रहता है, कभी निराश नहीं होता। अपने स्थान से पीछे की ओर हट जाना आगे छलांग मारने की फुर्ती को बढ़ाने में सहायक होता है। इसलिए पीछे की ओर हट जाना कभी दोषकारी नहीं माना जा सकता। इसलिए चित्त का अपने पद से पतित हो जाना उत्कर्ष की शक्ति को बढ़ा देता है। ऐसे पतन पर शोक नहीं करना चाहिए। किन्तु साधारण लोग यह तत्त्व नहीं समझ पाते। लौकिक या आध्यात्मिक परिश्रमों में कोई पतन अथवा हानि हो जाती है तो वे बड़े दुःखी हो जाते हैं। हाहाकार करते हुए भगवान् को कोसते हैं। जो लोग इस सूक्ष्म तत्त्व को जान लेते हैं कि निग्रह के बाद अनुग्रह और दुःख के बाद सुख आता है तो उन्हें कभी किसी स्थिति में हाहाकार करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

मैं गाड़ी से उतरकर तपी हुई सड़क से, खुले वनों के बीच से, बिना किसी दुःख का अनुभव किये आगे-आगे बढ़ता चला गया था। यह सन् १९२९ के मई के महीने की बात है। इस महीने के आतप का प्रताप उस निर्जल प्रदेश में चरम सीमा को पहुँच चुका था। तीस-चालीस मील दूर तक मार्ग में पानी मिलना कठिन था। उधर कुछ दूरी पर 'चिंतापूर्णी' के नाम से एक प्रसिद्ध देवी-मंदिर है। वहाँ मैं दर्शन के लिए चला गया। वहाँ के ब्राह्मणों में कुछ शिक्षित भी थे। उन्होंने मुझे कम-से-कम एक रात वहाँ निवास करने के लिए मजबूर किया और भोज्य-पेयादि से मेरा सत्कार किया। उस गाँव में तो नहीं किन्तु उसके पास मैंने वह रात बिता दी और बहुत कठिन मार्ग-श्रम को को प्रशांत किया।

अगले दिन व्यासा का दर्शन हुआ। व्यासा सिंधु की पोषक सरिताओं में से एक है। विशालता एवं नील-निर्मलता के साथ बहती हुई व्यासा में उतर-कर मैंने सुखपूर्वक स्नान किया। जल की कमी के कारण पिछले तीन-चार दिन खुले रूप से स्नान करना सम्भव नहीं हो सका था। अहो! हिमाद्रि का स्वरूप कितना बहुरूप है। कहीं जल-दरिद्रता तो कहीं जल-प्रचुरता। कहीं अन्न-दरिद्रता तो कहीं अन्न-प्रचुरता। कहीं वन-बहुलता तो कहीं जन-बहुलता।

उस दिन उस नदी के किनारे के एक गाँव में रहकर मैं दूसरे दिन ज्वालामुखी पहुँच गया जो वहाँ से अधिक दूरी पर नहीं था। ज्वालामुखी एक

विशाल-नितंब पर स्थित एक बड़ा गाँव-सा है। वहाँ बहुत-से लोग आबाद है। वहाँ के डाक-मुंशी एक पंजाबी ब्राह्मण का अतिथि बनकर मैंने कुछ दिन उस पुण्यक्षेत्र में बिताये।

यह स्थान वृक्षों से विराजित है। इसके चारों ओर कई पहाड़ हैं। यद्यपि यह स्थान अत्यन्त मनोहारी है, तो भी उस समय की भयानक गर्मी के कारण वहाँ की मनोहारिता फीकी और स्फूर्तिहीन-सी दिखायी पड़ी। हाँ, ज्वालामुखी का मंदिर बड़ा ही सुन्दर तथा अत्याकर्षक है। काल-दोष मंदिर की सुन्दरता को कम करने में समर्थ नहीं हो सकता। सुवर्ण-खचित यह महान् मंदिर अपनी चिरंतन कीर्ति में उज्ज्वलता के साथ विलसित है। मंदिर के अन्दर इधर-उधर अग्नि-ज्वालाएँ उठ रही हैं। यद्यपि मेरे दर्शन के समय सात-आठ ज्वालाएँ ही जल रही थीं तो भी कहा जाता है कि कभी-कभी इससे भी अधिक ज्वालाएँ प्रकट हुआ करती हैं।

वैज्ञानिकों का सिद्धांत है कि इस प्रकार लगातार जलनेवाली अग्नि-शिखाएँ गंधकी चट्टानों से निकलनेवाली ज्वालाएँ हैं, किन्तु देवी के उपासकों को, जो यह विश्वास करते हैं कि देवी ज्वाला के रूपमें स्वयं प्रकट हुई है, यह सिद्धांत पसन्द नहीं है। फिर भी, इस सच्चाई में कोई संदेह नहीं है। यों जलती हुई गंधकी चट्टानें हिमालय के कई स्थानों में दिखायी देती हैं। कहीं-कहीं, जैसे बदरीनाथ, जम्नोत्री आदि स्थानों पर ऐसी चट्टानों के अन्दर से जलधाराएँ झरती हैं और उनके संयोग से आग में उबाला हुआ-सा पानी गरम होकर सदा बहता रहता है। चूँकि इनमें साधारण लोगों के मन को विस्मित करके आकृष्ट करने की शक्ति है, इसलिए ऐसी ज्वालाओं तथा गरम जल को उन्होंने उपासना का विषय बना रखा है। किसी भी मुख्य मंदिर के निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसी कल्पनाओं में प्राचीन आचार्यों का उद्देश्य सामान्य लोगों के मन से लौकिक विषयों को हटाकर उनमें ईश्वर-भक्ति जागृत करना था।

मंदिर के अन्दर का भाग अच्छे चिकने पत्थर जड़कर बड़ा ही सुन्दर बना दिया गया है। इस प्रकार ऊँचाई पर पत्थरों की बनी दीवारों के छिद्रों के बीच में से निकलती ज्वालाएँ जलकर प्रकाश दे रही हैं। मैंने बड़ी भक्ति के साथ ज्वालाओं तथा देवी-मूर्त्तियों के दर्शन किये। यहाँ के पुरोहितों ने मुझे बड़े गर्व के साथ यह बताया कि मुग़ल बादशाहों में प्रमुख अकबर ने तथा

पंजाब-केसरी रणजीतसिंह ने यहाँ आकर देवी के दर्शन किये थे और मनौती मानी थी।

जैसा कि दूसरे कई पुण्य-स्थानों में होता है। यहाँ भी मैंने कई असहाय भिक्षुओं को घूमते-भटकते देखा। इन दरिद्र-नारायणों की उदर-पूजा ऐसे स्थानों में किसी-न-किसी प्रकार से होती रहती है। यह प्रशंसनीय ही है कि यहाँ के धर्म-बुद्धि निवासियों और यात्रियों की उदारता इनके पेट को हमेशा भरती रहती है। अन्न-दान के द्वारा अनाथ की सहायता गृहस्थों का पुनीत कर्तव्य है। दीनों की पूजा के समान इस संसार में और कोई महान् पूजा नहीं है। प्राणियों का शरीर ही नारायण का मुख्य मंदिर है। काशी, रामेश्वर आदि तो विश्वनाथ के गौण स्थान हैं। अतिथियों की आराधना करना ही साक्षात् परमात्मा की पूजा है। यह महान् तत्त्व गृहस्थियों को समझना चाहिए। उनको चाहिए कि वे पुराण-प्रसिद्ध रंतिदेव का चरित्र सदा स्मरण रखें।

•

देखिए, रंतिदेव एक धनी राजा थे। उन्होंने अपना सब-कुछ अतिथियों को दान में दे दिया। जब सारा धन समाप्त हो चुका तो वे गहने-बर्तन दान देने लगे। वे भी समाप्त हो गये। चावल, दाल, घी आदि खाद्य-पदार्थों में भी बाकी कुछ नहीं रहा। जब सब समाप्त हो चुका तो उपवास शुरू हुआ। एक-दो नहीं, तीन-चार भी नहीं, लगातार अड़तालीस दिनों तक बिलकुल खाये-पिये बिना वे भूख से परेशान हो गये। लीजिए, एक ब्राह्मण आ रहे है। इन अनाथ-अतिथि का सत्कार करना भी उनका कर्तव्य है। किसी तरह कुछ खाने की चीजें लाकर जल्द ही बना-पकाकर ब्राह्मण को भक्ति के साथ खिला-पिलाकर शेष खाना खाने को बैठ गये। लीजिए एक दूसरे विप्र आ रहे हैं। अपने खाने में से आधा उन्हें भी खिला दिया। फौरन कुछ शिकारी आ गये और उन्होंने राजा से खाना माँगा। बाकी खाना देकर राजा ने इन्हें भी संतुष्ट करके भेज दिया। भूख और प्यास से परेशान रंतिदेव ने वहाँ दोने में जो जल शेष रह गया था उसे पीना चाहा। कुछ दूर से एक चंडाल का आर्तनाद उनके कानों में आ पड़ा—"हे राजन् ! पीने के लिए ज़रा पानी देने की कृपा कीजिए।" अहा ! हा ! पीने के लिए जो पानी हाथ में लिया हुआ था, उसे भी उन्होंने उस पिपासु चंडाल के लिए दान दे दिया। भूखे और प्यासे दानी रंतिदेव ज़मीन पर गिर कर मरने को हैं। किन्तु ईश्वर-रूप में निष्काम रूप से जग की पूजा करनेवाले कल्याणकारी महात्माओं की कभी हानि नहीं हो सकती—

न हि कल्याण-कृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति। सर्वसाक्षी तथा सर्वेश्वर नारायण उन पर खुश हुए और शुद्ध-चित्तवाले राजा रंतिदेव धीरे-धीरे मुक्तिपद को प्राप्त हो गये। यदि भारतीय इस बात को याद रखें कि हम सब इतने स्वधर्म-निष्ठ तथा दानवीर रंतिदेव जैसे महापुरुषों की संतानें हैं तो भारत से सात्त्विक दान की परम्परा कभी नष्ट नहीं हो सकती। सात्त्विक दान का लक्षण है :

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

दान देना ही दान का फल है। इस भावना को लेकर उत्तम देश, उत्तम काल तथा उत्तम पात्र में अनुपकारियों के लिए दान देना चाहिए। ऐसा दान ही सात्त्विक दान है। जिनसे किसी प्रत्युपकार की आशा नहीं हो सकती, ऐसे व्यक्तियों के लिए दिया दान ही शुद्ध सात्त्विक दान है। प्रत्युपकार-प्राप्ति की इच्छा में किसी अमीर या स्वसंबंधी को बुलाकर मीठी-मीठी चीज़ें पेट भर, खिलाना-पिलाना उत्तम दान के अन्तर्गत नहीं आता। अतः वही दान सार्थक तथा उत्तम होता है जो दरिद्र-नारायणों की जलती हुई जठराग्नि में आहुति है। उसी की आहुति धन्य एवं उत्तम है। ऐसा अग्निहोत्री सदा विजयी रहे, सदा विराजता रहे।

लेकिन कोई यह न समझ ले कि अनाथों की आराधना की महिमा गानेवाला यह प्रकरण भिक्षुकों के प्रोत्साहन का—भिक्षावृत्ति के मंडन का—प्रतीक है। भिक्षुकों की संख्या हमारी पुण्य-भूमि में असहनीय रूप से बढ़ गयी है। ऐसे अनाथों के लिए अब कोई योजना बनाकर उन्हें उचित जीवन की ओर ले जाने का समय आ गया है। हम भिक्षावृत्ति के पक्ष में नहीं हैं। जो उद्यम करके कमा सकते हैं उन्हें भीख देना उचित नहीं है। इस प्रकरण में केवल इतना बताना था कि दीन एवं दुःखी प्राणियों की निष्काम बुद्धि के साथ सेवा करना सब से समुन्नत धर्म है। यद्यपि भिक्षावृत्ति जुगुप्सित है तो भी भिक्षुक जुगुप्सा के पात्र नहीं हैं। जब तक ग़रीबी, बेकारी और भिक्षावृत्ति का अंत नहीं होता तब तक उनकी सहायता न करना अन्याय एवं सनातन-धर्म के विरुद्ध है।

•

प्राचीन काल में ज्वालामुखी पर्वत सन्यासियों का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। इतिहासज्ञों का कहना है कि यहाँ तीन सौ से ज्यादा सन्यासियों के मठ थे, जिनमें बड़ी-बड़ी यति-मंडलियाँ रहा करती थीं। किन्तु आज वे

मठ प्रायः नष्ट हो गये हैं। कहने लायक मठ या स्थिर रूप से रहने वाले यतिवर आज यहाँ हैं ही नहीं। कुछ समय के लिए वहाँ रहकर भजन करने वाले कुछ देवी-भक्त तांत्रिकोपासक जटाधारी कापायधारी ही वहाँ दिखायी पड़े। ऐसा सुना गया कि देवी-स्थान होने के कारण वहाँ माँस और मद्य की क्रीड़ा सुलभ है। ऐसे स्थान हमारे भारतवर्ष में बहुत कम हैं जहाँ तांत्रिक-चरण, यानी शक्ति-पूजा का प्रचार न हुआ हो।

× × ×

मैंने यहाँ एक ऐसे युवक साधु को देखा जिसे योग-मार्ग का ठीक ज्ञान नहीं था और न उसमें इस ओर विशेष प्रवृत्ति थी, किन्तु उसने यह सुन रखा था कि योगमार्ग एक पुण्य-मार्ग है। अतः वह योगाभ्यास के लिए यहाँ निवास करने के उद्देश्य से प्रबुद्ध पुरुषों के संपर्क को छोड़, निरालंब होकर व्यर्थ और शून्य जीवन बिता रहा था। यह ठीक है कि योगविद्या भगवान की प्राप्ति के उपायों में एक श्रेष्ठ उपाय है। तांत्रिकाचार आदि अशुद्ध आचरणों की अपेक्षा यह कितना ही प्रशस्त है। योगविद्या का अभ्यास किये बिना ज्ञान-निर्णय नहीं हो सकता। लेकिन औपनिषद्, आर्ष तथा शुद्ध योगविद्या को सच्चे रूप में आचार्यों से सीखकर उस का अनुष्ठान करना चाहिए। शास्त्रोक्त योग के हेतु, स्वरूप और फल को अच्छी तरह शिक्षितों से जाने बिना स्वयं रेचक, पूरक आदि को करने लग जाना तो खतरनाक है।

कुछ लोगों का विचार है कि रेचक आदि प्राणायाम क्रियाएँ ही योग हैं। दूसरे कुछ लोगों ने नेति, धौति आदि क्रियाओं को योग समझ रखा है। और कुछ लोगों का विश्वास है कि अन्दर कुछ नक्षत्र या सूर्य-चन्द्रों को देख लेना योग है। कुछ लोगों की भ्रान्ति है कि विशिष्ट आसन से शरीर को थोड़ा-सा आकाश में उठा सकें तो वही योग की चरम सीमा है। किन्तु इन में से कोई भी योग नहीं है। ये सब यदि किसी को सिद्ध हों तो भी उस से वह सच्चा योगी नहीं बनता। इन के सिद्ध न होने से कोई अयोगी भी नहीं होता। तब शास्त्रोक्त परम पुरुषार्थ स्वरूपिणी ब्रह्म-विद्या का साधन असली योगविद्या का स्वरूप क्या है ? उसके स्वरूप के बारे में यहाँ कुछ बता देना इस प्रसंग के अनुकूल ही जाना पड़ता है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' यह योग का लक्षण-सूत्र है। प्रतिक्षण चंचल रहनेवाली चित्तवृत्तियों को रोक लेना ही योग-संपत्ति है। यम, नियम,

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—योग के ये आठ अंग हैं। पहले यम, नियम और आसन का अभ्यास करके उन को अपनाकर फिर प्राणायाम में प्रवर्तमान होना चाहिए। प्राणायाम करने का मतलब है विधि-पूर्वक रेचक, पूरक एवं कुंभक का अभ्यास करके प्राणजय करना—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः। (योगसूत्र)

आसन-विजय के बाद फिर प्राणायाम के जिस रूप का अभ्यास करना चाहिए, उस का प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादन है। बाहर की वायु को अन्दर खींच लेना श्वास (पूरक) कहता है तथा अन्दर कोष्ठगत वायु को बाहर छोड़ देना प्रश्वास (रेचक) कहता है। इस श्वास-प्रश्वासों की गति को रोक लेना ही मुख्य प्राणायाम (कुंभक) हैं। मतलब यह है कि यों प्राणायाम तीन प्रकार का है—पूरक, रेचक और कुंभक। इस प्रकार हठयोगियों के समान राजयोगियों ने भी प्राणायाम को योग के एक मुख्य अंग के रूप में स्वीकार किया है—

हकारः कीर्तितस्सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते,
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥

हकार सूर्यनामा प्राण और ठकार चन्द्रनामा अपान है। इन प्राणा-पानों का एक भाव हठयोग कहलाता है। यह हठविद्या के प्रधान आचार्य गोरक्षनाथ का अभिप्राय है। अतः हठयोग केवल प्राणाभ्यास तथा उस के द्वारा प्राप्त आरोग्य, जरा-पलित से रहित नित्य यौवन, ओज की वृद्धि, दीर्घायु आदि शारीरिक उन्नति पर समाप्त होता है। शरीर कितना ही प्रबल बन जाए तो भी शरीर शरीर ही है। पेड़ कितनी ही सदियों तक नीरोग तथा जिन्दा रहे तो भी वह पेड़ ही है। लेकिन राजयोग ने चित्त-वृत्तियों के निरोध-रूप अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के एक उपाय के रूप में प्राणायाम को अपनाया है।

प्राणायाम को बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे सीख लेना चाहिए। शेर जैसे प्राणों को एक बिल्ली के समान अपने अधीन करना बड़ी कठिन बात है। साधक को हमेशा यह याद रखना चाहिए कि प्राणों के वश में हो जाने पर उपकार जितना सुखद होता है, उनके बिगड़ जाने पर अपकार भी उतना ही भयानक होता है। क्रमशः, धीरे-धीरे, लंबे समय के प्राणाभ्यासों के द्वारा व्यष्टि-शरीर के प्राणों को जीतनेवाला समष्टि-प्राण-तत्त्व को भी जीत लेता है। जैसे हमारी सब शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों एवं आचरणों के लिए व्यष्टि-

प्राण कारण है वैसे ही ब्रह्माण्ड की सब क्रियाओं का एकमात्र कारण समष्टि-प्राण है। व्यष्टि-प्राणों की विजय के द्वारा इतने महान् समष्टि-प्राण भी योगियों के अधीन हो जाते है ! व्यष्टि-समष्टि एक ही शक्ति है, दो शक्तियाँ नहीं हैं। योग-दार्शनिकों का यही सिद्धान्त है कि इस प्रकार प्राण-विजय को पूर्णरूप से प्राप्त करनेवाले एक योगी के लिए समष्टि-प्राणशक्ति भी स्वाधीन हो जाती है। इसलिए वह सूर्य-चन्द्रों से युक्त इस महान् ब्रह्माण्ड को भी अपनी उंगली पर नचा सकता है। अस्तु ! यह सिद्धि-विषयक अंश यहाँ विचारणीय नहीं है।

प्राण-विजय के बाद प्रत्याहार का अभ्यास करना चाहिए । इन्द्रियों के अनुधावन से मन को खींचकर अलग कर लेना ही शास्त्र-भाषा में प्रत्याहार कहलाता है। जैसे तालाब का पानी इधर-उधर के छिद्रों से अस्थानों की ओर बहता जाता है, वैसे ही मन इन्द्रियों द्वारा सदा विषयों में चलता रहता है। हमारे पास कोई आवाज आती है। हम चाहें या न चाहें, उस आवाज़ को सुन लेते हैं। हमारे पास कोई आदमी आता है। हम चाहें या चाहें, उस रूप को देख लेते हैं। इस प्रकार शब्द, रूप आदि हर-एक विषय हमारी इच्छा के बिना ही स्वयं इन्द्रियों के द्वारा हमें, अर्थात् हमारे मन को, आकृष्ट किया करता है।

यदि इन्द्रियों के वशीभूत मन की, उन के पीछे इस प्रकार दौड़ते रहने की, दुर्दशा को न रोक लें तो वह अचंचल एवं अंतर्मुख होकर कोई भावना तक नहीं कर सकता । यह प्रसिद्ध है कि इन्द्रिय गोलक, इन्द्रिय और मन के संबंध से ही बाहरी विषय ज्ञान-विषय बन जाते हैं। यदि इन्द्रिय और मन का संयोग नहीं होता तो विषय-ज्ञान भी नहीं होता ! भिन्न-भिन्न होने पर भी, व्यवहार में एक हो जानेवाले इंन्द्रियगोलक, इन्द्रिय और मन को अलग-अलग अपने-अपने स्थानों पर जब तक नियुक्त नहीं कर सकते, तब तक हम इन्द्रियों के दास बन कर काम करते हैं। इतना ही नहीं, किसी वस्तु का अनुध्यान बिलकुल असंभव भी हो जाता है। इसलिए इन्द्रियों के साथ मन के संयोग एवं वियोग को अपनी इच्छा के अनुसार नियंत्रित करने की शक्ति को अभ्यास के द्वारा पाये बिना योगी बननेवाले के लिए और कोई रास्ता नहीं है। चूंकि स्वेच्छा की परवाह किये बिना, शरीर में सदा संयोग-वियोगात्मक सभी व्यापारों के करनेवाले प्राण हैं, इसलिए प्राणाभ्यास के द्वारा प्राण-निरोध-शक्ति के सम्पन्न होने के साथ-ही-साथ धीरे-धीरे इन्द्रियों की प्रत्याहार-शक्ति भी सम्पन्न हो जाती है।

प्रत्याहार के सम्पन्न होने के बाद क्रमपूर्वक धारणा-ध्यान-समाधियों में

प्रवर्तमान होना चाहिए। धारणा, ध्यान एवं समाधि चित्त की केवल भावना-भूमियाँ हैं। पहले स्थूल पदार्थों से चित्त के निबंधन का अभ्यास करना चाहिए। स्थूल-चिंतन के स्वाधीन होने पर फिर सूक्ष्म-चिंतन का अभ्यास करना चाहिए। स्थूल एवं सूक्ष्म ध्यान के आलंबन साधकों के रुचि-भेद के अनुसार कई प्रकार के होते हैं। मूलाधार आदि पद्म और ज्योतियाँ योग-साधकों के लिए सब से प्यारे स्थूल ध्यानालंबन हैं। विष्णु, शिव आदि देवता-स्वरूप भक्तों के प्यारे ध्यानालंबन होते हैं। सागर की लहरों के समान प्रतिक्षण मन में उठनेवाली वृत्तियों को रोककर चित्त के एकाकार-प्रवाह के योग्य किसी भी तरह का आलंबन स्वीकार्य है। हृदय-कमल और भ्रूमध्य के शरीर-देशों पर मनोवृत्ति का निबंधन करना अथवा हृदयाकाश, भ्रूमध्य या शिरोमध्य में एक अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशपुंज की भावना करना अथवा बाहरी विष्णुमूर्त्ति, शिवमूर्ति या देवीमूर्त्ति की भावना करना—इस प्रकार अपनी रुचि के अनुसार आध्यात्मिक या शारीरिक (बाह्य पदार्थों) में चित्तवृत्ति का निबंधन ही धारणा है। यही वृत्ति-निबंधन अधिक समय तक लगा रहे तो वह ध्यान कहलाता है। ध्यान और ध्याता की भेद-प्रतीति से अलग होकर केवल ध्येय वस्तु ही प्रकाशित रहे तो वह समाधि है। ध्यान-काल की अपेक्षा समाधि-काल अधिक है। यों धारणा-ध्यान-समाधियों की सिद्धि स्थूल आलंबनों में हो जाने पर फिर सूक्ष्म आलंबनों में उनका अभ्यास करना चाहिए।

योग-प्रक्रिया के अनुसार पंचतन्मात्राएँ, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रधान तथा वेदान्त-प्रक्रिया के अनुसार आध्यात्मिक और आधिदैविक प्राण, मन आदि तत्त्व धारणादि के सूक्ष्म आलंबन हैं। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म आलंबनों में क्रमशः धारणादि का अभ्यास करके रजस्तमोमलों से रहित चित्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म निराकार, निर्गुण एवं निर्विशेष रूप से वर्तमान आत्मवस्तु के ग्रहण के लिए समर्थ हो जाता है। आत्मवस्तु में किये जानेवाले धारणा-ध्यान आदि के द्वारा धीरे-धीरे यह चित्त दृढ़ तथा दीर्घ आत्मसमाधि में अधिरोहण करता है। जिस समाधि की दशा में चित्त वृत्ति-विहीन होकर, अग्नि में कर्पूर के समान अथवा जल में नमक के समान विलीन होकर, आत्माकार बने और जिस में ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटि की प्रतीति-गंध भी न हो, उसमें आत्मा स्वस्वरूप में एवं स्वमहिमा में प्रकाशमान होती है। इस निरतिशय और सर्वोत्तम चित्तभूमि को योगी असंप्रज्ञात और वेदान्ती निर्विकल्प कहते हैं। यह परम पुरुषार्थ रूप धर्ममेघ समाधि एक साधक को सिद्ध पद की ओर तथा एक

अयोगी को योगी-पद की ओर उठाती है। इस प्रकार तामस्, राजस् और सात्त्विक की त्रिविध चित्त-वृत्तियों का निरोध रूप एवं स्व-स्वरूपावस्थान रूप परम-पद को प्राप्त करनेवाला ही मुख्य योगी है। दूसरा कोई वास्तव में योगी संज्ञा के लायक नहीं होता। वे सब साधन में साध्य की भ्रान्ति करने वाले अशिक्षित बुद्धि हैं। अतः एक योगी साधक का अनन्य कर्तव्य है कि साध्य रूपी परमयोग के हेतु-स्वरूपों को अच्छी तरह जानकर अलक्ष्य में लक्ष्य की भ्रान्ति किये बिना लक्ष्य को ही लक्ष्य बनाकर उसकी ओर अभिनिवेश के साथ आगे बढ़े।

'योगो योगात् प्रवर्तते' यह योग में सुसम्मत एवं सुप्रसिद्ध कथन है। योग में जो कई भूमियाँ हैं, उनमें पूर्वभूमि की विजय के बाद उत्तरभूमि में प्रवर्तमान होना चाहिए। किन्तु ईश्वर के अनुग्रह से किसी के लिए निम्न-भूमियाँ स्वयं ही स्वाधीन हों तो, चूँकि उसके लिए उन भूमियों का अभ्यास ज़रूरी नहीं है, इसलिए वह बाद की भूमियों में प्रवर्तमान होने का अधिकारी है। यदि किसी को इस शरीर में प्राणायाम-प्रत्याहारों के अभ्यास के बिना ही ईश्वर के अनुग्रह से धारणा-शक्ति मन में सिद्ध है तो उसके लिए उन पूर्व-भूमियों की ओर निगाह तक डालने की जरूरत नहीं है। वैसे ही सूक्ष्म विषय में धारणा करने की मानसिक शुद्धि पहले ही किसी को प्राप्त हो तो, फिर उसके लिए स्थूल-विषय के ध्यान का कोई लाभ नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वयं अपने चित्त की सामर्थ्य को पहचानकर उत्तरोत्तर-भूमि में साधकों को चढ़ते जाना चाहिए। यह योग का निष्कर्ष है कि स्वस्वरूप का अन्तिम रूप असंप्रज्ञात ही परम योगपद है, उसको पानेवाला ही परम योगी है, और जैसे अधिकारी-भेद के अनुसार प्राणायाम-प्रत्याहार आदि के क्रम-पूर्वक अभ्यास के द्वारा होता है, वैसे उनका अभ्यास किये बिना भी परम पद पर पहुँच कर आनन्द भोगने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

००

९. रिवाल सरोवर

जिसको वरने से सर्वस्व-वरण की, जिसको जानने से सर्वस्व जानने की, और जिस को पाने से सब-कुछ पा जाने की प्रतीति होती है, वही परम-सत्य मूल वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म को जानने पर फिर किसी और सत्य को जानना नहीं है। ब्रह्म को पाने पर किसी और वस्तु को फिर पाना नहीं है। किंतु ब्रह्म को कोई जानता नहीं है। ब्रह्म को कोई जानने की इच्छा नहीं करता। ब्रह्म-लाभ की इच्छा के योग्य बुद्धि की निर्मलता और सूक्ष्मता किसी की नहीं दिखायी देती। नश्वर विषयों को लोग स्वीकार कर लेते हैं। उनकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए अपना सारा महत्त्वपूर्ण पौरुष लगा देते हैं। उनके बारे में बड़ा अभिमान भी करते हैं कि ये अपने हैं। अहो विचित्र ! हम खुद अपने नहीं होते। फिर ये बाहरी विषय कैसे अपने होते हैं ? विषय से पैदा होने वाले सभी सुख जिस सुख का लेशमात्र हैं, उस ब्रह्म-सुख को अंगीकार करने वाले भाग्यवान् व्यक्ति बहुत ही कम हैं। आज और सर्वदा, तथा यहाँ और सर्वत्र, माया की इस मोहन-सामर्थ्य में कोई भेद नहीं होता।

माया के जीतनेवाले महर्षि-समूहों से युक्त हिमगिरि प्रदेशों में भी ऐसी महिमा के प्रसार को देखते-देखते चकित होकर, ज्वालामुखी से मैं अकेले ही एकान्त में भिन्न-भिन्न गाँवों तथा विभिन्न वनों को पार करके ऊपर की ओर चल पड़ा। कांगड़ा नामक हिमालय का यह भाग नगरों के समान बड़े-बड़े गाँवों, विशाल खेतों एवं सुन्दर चाय के बागीचों से भरा हुआ परिष्कृत स्थल है। दो हजार दो सौ फुट की ऊँचाई पर स्थित उस जिले के मुख्य स्थान कांगड़ा नगर से मार्ग ऊपर की ओर जाता है।

इससे थोड़ी दूर पर 'वैद्यनाथ' नामक एक पुण्यस्थान आ जाता है। वैद्यनाथ तीन हज़ार दो सौ फुट ऊँचा स्थान है। यहाँ एक बहुत प्राचीन और इतिहास-प्रसिद्ध देवमंदिर है। उत्तर की ओर दूर पर दिखायी पड़नेवाले ऊँचे हिमाच्छन्न शिलोच्चय, तथा दक्षिण में,विशालता में फैले हुए खेत उस स्थान को बड़ा ही रमणीय बना देते हैं। वहाँ के स्थिर-निवासी एक महात्मा के आतिथ्य

में मैंने कुछ दिन वहाँ रहकर विश्राम किया। वहाँ से कुछ ऊँचाई पर योगीन्द्रनगर प्राप्त होता है। यहाँ से एक हिन्दू राजा के द्वारा शासित मंडी नामक हिमालय-प्रदेश शुरू होता है। हिमगिरि की तराई में पठानकोट नामक स्थान से योगीन्द्रनगर के लिए एक सौ एक मील की दूरी है। योगीन्द्रनगर तक रेलगाड़ी तथा यहाँ से कुछ और दूर तक मोटरगाड़ी जाती है। योगीन्द्र-नगर से छत्तीस मील ऊपर स्थित एक छोटे नगर मंडी नाम की राजधानी में मैं दो दिन की यात्रा करके पहुँच गया। चूँकि उस मार्ग पर मोटरगाड़ी चलती थी, इसलिए उस पर कठिन चढ़ाई-उतराई अथवा कोई दूसरी दुर्गमता नहीं थी। मंडी के प्रसिद्ध विश्वनाथ-मंदिर में मैं रहने लगा। व्यास नदी के किनारे उस रमणीय स्थान पर भक्तों की सेवा का पात्र बन मैं कुछ दिनों तक आराम करता रहा। यद्यपि वहाँ ब्रह्म-शास्त्र के जिज्ञासु बहुत कम थे, तो भी ज्ञानियों का आदर करने वाले कम नहीं थे। तीर्थाटन के लिए आये कई अन्य साधु भी उन दिनों वहाँ रह रहे थे।

रिवाल सरोवर मंडी नगर से लगभग पन्द्रह मील पश्चिम-दक्षिणी दिशा पर स्थित है। उस पुण्य सरोवर के लक्ष्य में एक दिन सवेरे मैंने वहाँ से प्रस्थान किया। वहाँ पर मिले एक युवक सन्यासी भी सेवक के रूप में मेरे साथ चल दिये। चढ़ाव-उतार के कारण मार्ग दुर्गम था। प्रचण्ड सूर्यताप में खाली पेट पहाड़ पर चढ़ने का काम बड़ा कठिन था। वस्तुतः मनोबल तथा इच्छा-शक्ति के बल पर कितने ही बड़े कष्टों को झेलने के लिए मनुष्य समर्थ बन जाता है। वहाँ के पर्वत-प्रदेश इतने नंगे थे कि छाया में बैठकर ज़रा विश्राम करने के वास्ते कोई पेड़ दिखायी नहीं देता था। एक बजे से कुछ पहले कुछ दूर से ही हमें उस पुण्य-सरोवर के दर्शन हुए और आध घण्टे के अन्दर हम उसके पास पहुँच गये। उसके अलौकिक सौंदर्यामृत को अतृप्त होकर पीने से हमने अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया और यात्रा के सभी कष्टों को भूल गये। यह सरोवर वृत्ताकार था और इसका घेरा एक मील था। यह नली-निर्मल और अति शीतल जल से पूरित था। लाल कमल आदि मनोहर सुमनों से मंडित था। विशेष प्रकार के कृष्णवर्ण वाले पक्षियों के विलक्षण नाद से मुखरित था। इस सब सौंदर्य को देखकर चित्त अत्याह्लादित हुआ। इस तड़ाग में उतर कर हमने विधिपूर्वक स्नान किया।

इसी सर में दो-तीन छोटे-छोटे द्वीप हैं, जो वायु की गति के अनुसार इधर-उधर चलते रहते हैं। यात्री इन द्वीपों का दर्शन महादेव के रूप में करते

हैं। इन पर छः-सात फुट ऊँचे, एक तरह के दृढ़ तृण-समूहों से ढँके हुए, एक-दो छोटे-छोटे पेड़ भी हैं। छोटे द्वीपों के आकार के इन भूमि-खंडों के कारण ही पुराणों में इस सर की यशोगाथा गायी गयी है। यहाँ यात्री जल में भूमि-खंडों के चलने के आश्चर्यमय दर्शन करने के लिए आया करते हैं।

× × ×

स्कन्द-पुराण में इस सरोवर का नाम 'नीलह्रद' है, तथा सर के उस स्थान का नाम 'ह्रदालय' है। नीलह्रद के बारे में 'स्कन्दपुराण' से एक छोटा-सा उदाहरण यहाँ दे देना असंगत न होगा। एक बार लोमश महर्षि हिमाद्रि के दक्षिण भाग में तपस्या कर रहे थे। तब वे इसी सरोवर के पश्चिमी किनारे शिव की तपस्या करते रहे। शिव उनको दर्शन देने के लिए आये और इसी सरोवर में तृण-वृक्षादि से युक्त गिरि-शृंग के रूप में, प्लव के समान उस सरोवर में इधर-उधर चलते रहे। लोमश ने उठकर सर की ओर देखा तो आश्चर्य-चकित हो गये। उन्होंने महादेव की पूजा और स्तुति की और शिव ने कई अभीष्ट वरों को प्रदान कर उन्हें प्रसन्न किया।[1]

× × ×

---

1. ब्रह्माद्रौ च समारुह्य ह्रदमेकं ददर्श ह।
कूजद्भिः सारसैर्हंसैश्चक्रवाकैश्च शोभितम्॥
क्रीडद्भिरप्सरोवृन्दैर्जलक्रीडाभिरन्ततः।
गायद्भिः किन्नरगणैश्चतुर्दिक्षु समावृतम्॥
घनच्छायैस्तरुवरैः परितो मण्डितं शुभं।
स्फटिकस्वच्छसलिलं पद्मोत्पलविराजितम्॥
पद्मगन्धसमायुक्तं मन्दानिलसुवीजितं।
परितः शिखरैश्छन्नं दक्षिणाप्लुतमद्भुतम्॥
....।
घर्माम्बुप्लुतदेहोऽसौ दृष्ट्वा मुदमवाप ह॥

× × ×

महदाश्चर्यकरं लोके जले पर्वतसंभ्रमः।
किमिदं देवचरितं किं वा दानवसंभवम्॥
इत्थं चिन्ताकुलमनास्तत्र शंभुं ददर्श ह।
चकितः सहसोत्थाय दत्त्वार्घ्योपायनादिकम्॥

इस सरोवर के वारे में पुराण-कथा के विपय में यही कहूँगा कि तडाग के जल में भूमि-खंडों का चलता रहना, उनमें कई शस्यों की खेती करना तथा उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर खींच ले जाना काश्मीर देश में साधारण वात है। अस्तु ! इन छोटे द्वीपों के ही कारण यह सरोवर उत्तर के हिन्दूओं की भक्ति तथा आदर का पात्र तथा तीर्थस्थान वन गया है।

वड़े आनंद के साथ तीन-चार दिन तक हम सरोवर के किनारे एक एकान्त भवन में रहे। प्राचीन काल में स्वधर्म से भ्रष्ट होकर कुटुम्वी वने सन्यासियों की वंश-परम्परा हिमालय के कई भागों की तरह यहाँ भी दिखायी पड़ती है। हिमालय में मेरे परिव्रजन करते समय ऐसे कुटुम्वों का आतिथ्य स्वीकार करने का भाग्य या दुर्भाग्य मुझे कभी-कभी मिला था। यति-कुल में पैदा होकर भी पत्नी-वच्चों से घिरे किसी कुटुम्वी को ज्यों-ज्यों देखता हूँ, त्यों-त्यों सन्यास-धर्म की कठिनाई के वारे में मैं गहरी चिन्ता किया करता हूँ। सन्यास-धर्म का विधिपूर्वक पालन करना सामान्य मनुष्य के लिए विलकुल असंभव है। इतिहासकारों का कहना है कि भगवान् वुद्ध और शंकराचार्य के वाद भारतवर्प में सन्यास वहुत प्रचलित हुआ था। इतिहासज्ञों का यह भी कहना है कि अधिकारी और अनधिकारी के भेद के विना सन्यासियों की संख्या वढ़ती चली गयी। इसलिए कइयों को अपने धर्म से पतित होकर कनक-कामिनी की ग़ुलामी करनी पड़ी। शिव ! शिव ! कामिनी और कनक को जीत लेना क्या आसान वात है ? सिर्फ़ गेरुए कपड़े पहनने-मात्र से किसी की सहज मनोवासनाएँ कैसे नष्ट हो सकती हैं ? काम-क्रोध आदि हर एक वासना का संस्कार अपने उद्वोधक पदार्थ के सामने अवश्य उद्वुद्ध हो जाता है। विपयों के निकट आने पर भी उनको न जागने देने, तथा जाग जाने पर भी उनको वढ़ाये विना दमन करने की सामर्थ्य, लम्वे समय के परिश्रम से, कुछ अनुगृहीत व्यक्तियों को ही मिल पाती है। इसीलिए पूर्वजों ने कहा है कि सन्यास-धर्म वड़ा कठिन है और इसीलिए वह श्रेष्ठ तथा पूजनीय है।

कुछ लोगों का तर्क है कि वैराग्य आकाश-कुसुम के समान एक असत्य वस्तु है। विराग-दशा की अवहेलना करते हुए कुछ पूर्वी और पश्चिमी समालोचक यह मानते हैं कि वैराग्य केवल शव्दमात्र है; उसका अनुष्ठान करना किसी भी मानव के लिए संभव नहीं है। चूंकि विपयोन्मुखता मन तथा इन्द्रियों का सहज-धर्म है, इसलिए उसे रोक सकना एक भ्रान्त कल्पना है, और राग की अनुद्वोधावस्था जव-तव सभी में होती है तो उसे वैराग्य वता देना

अविवेक है । मानना पड़ता है कि उनकी यह आलोचना ग़लत नहीं है । वह बुद्धि-संगत ही है । पर इतनी कमी अवश्य है कि वह सीमा के बाहर हो गयी है । उनकी यह धारणा कि इन्द्रिय एवं मन की विषयोन्मुखता को रोकना असाध्य है, युक्ति तथा अनुभव के विरुद्ध है । फिर भी इसमें पक्षान्तर नहीं है कि वह दुस्साध्य है । काम आदि वासनाओं को दृढ़ प्रयत्न के द्वारा धीरे-धीरे जीता जा सकता है । किन्तु तात्कालिक अप्रकटता के कारण यह समझना अविवेक है कि उनको पूर्ण रूप से जीता जा चुका है । वस्तुतः काम आदि वृत्तियों को जीतकर शम, दम आदि की सामर्थ्य पाने के पहले ही सन्यासमार्ग में प्रवेश करना महादुःखों का कारण बन जाता है । यह बहुत ही आवश्यक है कि पुराने संन्यासियों की इस दुर्दशा को वर्तमान सन्यासी और भविष्य के सन्यासी अच्छी तरह समझ लें और उससे अपने लिये कोई सबक सीख लें ।

मैं जब वहाँ रहता था तब कभी-कभी सर के किनारे बुद्ध के मंदिर में जाकर बुद्ध-मूर्त्ति के दर्शन किया करता था । सर के समान वह बुद्ध-मंदिर भी मेरे मन में बड़ी भक्ति, आनंद तथा श्रेष्ठ विचारों को पैदा कर देता था । गृहस्थ-धर्मी एक तिब्बती वहाँ पूजा करते थे । जब मैं वहाँ जाता तो वह पुजारी प्रेमपूर्वक मेरा स्वागत करके मेरी कुशलता पूछते थे । तिब्बत की राजधानी लासा से तीर्थयात्रा के लिए आये एक लामा भी उस समय वहाँ निवास करते थे । उन्होंने मुझसे कहा कि बौद्ध ग्रन्थों में भी एक बड़े पुण्यतीर्थ के रूप में प्रस्तुत सर का वर्णन किया गया है । उनमें यह सर 'सो-पँमा' के नाम से निर्दिष्ट है । तिब्बत आदि से अनेक बौद्ध धर्मावलंबी प्रतिवर्ष यहाँ की यात्रा करके सर के दर्शन, परिक्रमा आदि करते हैं, और बौद्ध लोग सर की परिक्रमा ही मुख्य समझते हैं । इस सर की उत्पत्ति के बारे में हिन्दू पुराणों में कही कहानी से बिलकुल भिन्न एक कथा भी उन्होंने मुझे कह सुनायी । हर-एक तीर्थ के बारे में जो ऐसी एक-एक अर्थवाद कथा है उसका यद्यपि यथाश्रुत अर्थ में कोई मतलब नहीं है, तथापि श्रद्धा पैदा कर देने के कारण उनका निजी महत्त्व है ।

बुद्ध-मूर्ति के सामने अखंड दीप जलता रहता है । उस तीर्थयात्री लामा को सर की परिक्रमा तथा बुद्ध-मूर्ति के सामने दण्ड-प्रणाम को छोड़ और कोई विधि मैंने नहीं देखी । अहा ! बौद्ध लामाओं की तपस्या कितनी कठिन है ! तिब्बत में लामाओं के आश्रम में जब मैं रहता था तब भी उनके अति कठिन तपस्या-क्रम को देखकर मेरा मन चकित हो जाता था । किन्तु हिन्दू-संन्यासी

तो अधिकतर वाणी के आडंबर में खुश होकर व्यर्थ जीवन विताते दिखायी पड़ते हैं। एक दिन शाम को मैंने भी उनके साथ भक्ति-पूर्वक उस सरोवर की परिक्रमा की।

जब मैं पहली बार उस मंदिर में गया था तब बातचीत के बीच वहाँ की गृहिणी ने मेरे भोजन के लिए चावल आदि खाने की चीजें मेरे पास लाकर रख दी थीं। "माता जी ! भोजन के लिए मैं दूसरा प्रबंध कर चुका हूँ," ऐसी कृतज्ञता से भरी मेरी बात सुनकर भी उन्होंने उसे स्वीकार करने की मुझसे बार-बार प्रार्थना की। यद्यपि मैंने उनका उपहार स्वीकार नहीं किया, तो भी धर्म पर उनकी श्रद्धा देख मैं चकित था। एक हिन्दू गृहिणी के समान एक बौद्ध गृहिणी भी अतिथि के सत्कार में बड़ी ही जागरूक है। अतिथि-सत्कार में ही नहीं, दूसरे कई धर्माचरणों में भी वे हमारे ही समान हैं। आज हिन्दू-धर्म के समान बौद्ध धर्म भी यद्यपि बहुत दूषित हो गया है, किन्तु यह खुशी की बात है कि उसके कुछ अच्छे अंश बिलकुल नष्ट नहीं हुए।

इस तरह ह्लदालय के आनंदमय निवास को समाप्त कर हम मंडी राजधानी की ही ओर लौटे। ह्लदालय के निवास को 'आनंदमय' का विशेषण देने से यह शंका न हो कि मंडी का जीवन हमारे लिए आनंद-हीन था। वहाँ भी हमें आनंद ही होता था। आनंद आनंद ही कहा जा सकता है। प्रमाद से मुक्त एक सन्यासी के लिए किसी भी देश, किसी भी काल तथा किसी भी व्यवहार में आनंद के सिवा और कोई भाव भला हो ही क्या सकता है? दुःख में भी वह आनंद का अनुभव करता है, क्योंकि दुःख को भी वह आनंद के रूप में देखता है। आनंद ब्रह्म-स्वरूप है। दुःख, सुख आदि का सारा संसार आनंद में अर्थात् ब्रह्म में अधिष्ठित है। आधारभूत आनंद से वह भिन्न नहीं है। दुःख-सुख, नर-नारी, नगर-सागर सब कुछ आनन्द-स्वरूप ही है।

लेकिन आज के कुछ वैज्ञानिक यदि जगत् से भिन्न किसी अधिष्ठान का आक्षेप करते हैं तो उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। पृथ्वी आदि केवल चार भूतों में घूमने-फिरनेवाले वैज्ञानिकों को भूतातीत, इन्द्रियातीत एवं अव्यक्त पदार्थों के बारे में राय देने का अधिकार ही नहीं है। जो इन्द्रिय या यंत्रों की जांच के विषय नहीं होते ऐसे सूक्ष्म विषयों में उनका हस्तक्षेप करना उपहास बन

जाता है। महात्माओं के अनुभव तथा अनुमान को प्रमाण मानकर विचारसमर्थ स्वयंद्रष्टा दार्शनिक वीर जो चिंतन करते हैं वही सूक्ष्म वस्तुओं के निर्णय में पर्याप्त होता है। यह संसार अधिष्ठान-स्वरूप ही है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध राय देनेवाले इस देश में प्राचीनकाल में भी कम नहीं थे। पंचख्यातिवाद तो पंडितों के बीच प्रसिद्ध ही है। जो भी हो, विचारशील मनुष्य इस के लिए तैयार न होंगे कि इस जगत् के, जो कि किसी नियमित रूप के बिना क्षणिक है, तथा दृष्ट-नष्ट स्वभाव के साथ भासमान है, अधिष्ठान में बुद्धि को पहुँचाये बिना, सत्य वस्तु के रूप में अभिषेक कर उसमें रमते रहें।

●●

१०. मणिकर्णिका और वसिष्ठ

मण्डी राजधानी में और भी कुछ दिन आनन्दपूर्वक रहने के वाद हम वहाँ से ऊपर की ओर मणिकर्णिका के लिए यात्रा करने लगे। वहाँ का मार्ग यद्यपि सुगम है, उसमें बड़े-बड़े वन या कठिन उतार-चढ़ाव भी नहीं हैं, किन्तु प्रचण्ड सूर्य-किरणों के कारण तथा भोजन-सामग्री के अभाव में हमारे लिए वह यात्रा एक कठिन तपस्या ही थी। दिन में भयानक गर्मी पड़ती थी, अतः हम ज्यादातर रात में ही यात्रा करके कई गाँवों को पार करते रहे।

●

पर्वत हो या मैदान, सब जगह सांसारिक व्यवहार चलते रहते हैं। संसार सब कहीं संसार है। कहीं असंसार नहीं दिखायी पड़ता। संसार-चक्र विराम के विना सदा चलता रहता है। ईश्वर अपनी मायाशक्ति के द्वारा हमेशा संसार-चक्र को चलाता रहता है। खाना, पीना, श्रम करना, विश्राम करना, प्यार करना, द्वेष करना, सुखी होना, दुःखी होना आदि संसार-क्रम सदा, सर्वत्र चलता रहता है। कोई हो या कोई न हो, कोई जन्म ले या कोई मर जाए, कोई बढ़े या कोई घटे—इस प्रकार के द्वन्द्वों की चिन्ता किये बिना संसार अपने स्वभाव के अनुसार आगे वढ़ता जाता है। अहो ! ईश्वर का लीला-रहस्य हमारी समझ से परे है।

कितने राजा-महाराजा मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं? कितने पण्डित पंचतत्त्व में मिल जाते हैं ? कितने देश-भक्त देश से विदा लेते हैं ? कितने बच्चे अनाथ हो जाते हैं ? किन्तु इनसे संसार की गति नहीं रुकती। यह प्रकृति का नियम है कि एक के नष्ट हो जाने पर उसके स्थान पर दूसरा आ जाता है। जब यही वास्तविकता है तो यह चिन्ता क्यों की जाए कि मेरे मर जाने के वाद मेरे पुत्रों की रक्षा कौन करेगा ? अथवा यह अभिमान क्यों किया जाए कि मेरे दान न देने पर ये ग़रीब कैसे गुज़र करेंगे ? मेरे काम न करने पर देश की उन्नति के लिए और कौन काम करेगा ? आदि, इस इस प्रकार का अभिमान करना

अविवेक-पूर्ण है ? काम करना ज़रूरी है। किन्तु अभिमान करना व्यर्थ है। ऐसा दुरभिमान करने वाले उस मूर्ख बुढ़िया के समान हैं जिसका अभिमान था कि यदि मेरा मुर्गा बाँग न दे तो पौ नहीं फटेगी। सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि और उसका पालन करने वाले करुणा-निधि परमेश्वर के विद्यमान रहने पर कोई, चाहे वह कितना ही पराक्रमी पुरुष क्यों न हो, यह अभिमान नहीं कर सकता कि 'मेरे न रहने पर जग चलेगा कैसे ?' ईश्वर-शक्ति के सामने मनुष्य-शक्ति भला क्या चीज़ है ? जगत्-पिता परमेश्वर स्वयं सब कुछ करते हैं। ईश्वर की शक्ति से यह जगत् चल रहा है। यों, सब कहीं, सब व्यवहारों में और सब पदार्थों में ईश्वर की बहुमुखी महिमा स्फुट रूप से प्रकाशमान है।

०

मंडी से छत्तीस मील दूर 'भून्तर' नामक बड़े गाँव में हम दो दिन की यात्रा से पहुँच गये। वहाँ नदी के किनारे एक साधु के आश्रम में कुछ भक्त जनों की सेवा में हमने दो-तीन दिन विश्राम किया। फिर वहाँ से व्यास गंगा को छोड़ पार्वती गंगा के तट से ऊपर की ओर यात्रा शुरू की। मणिकर्णिका नामक पुण्यक्षेत्र यहाँ से केवल बीस मील पर स्थित है। यद्यपि वहाँ के पहाड़ छः-सात हज़ार फुट ऊँचे हैं तथापि उनकी निम्नतर तराइयों के मार्ग ग्रीष्म के ताप से जल रहे थे। किन्तु कुछ दूर, ऊपर की ओर चलते जाने पर, शीतल भूमि शुरू हुई। पर्वत नितंब के छोटे-छोटे खेतों में अफ़ीम के पौधे फलों के साथ मदोन्मत्त भाव से लहरा रहे थे। उस मार्ग में भी हमने अनेक गाँवों को पार किया। आख़िर दूसरे दिन शाम को हम मणिकर्णिका [illegible]।

अहा ! श्रद्धा महान वैभव तथा महान विचित्रता से भरी है ! वह पानी को तीर्थ बना देती है। पत्थर को परमेश्वर बना देती है। दुनियाँ की सभी धार्मिक संस्थाएँ श्रद्धा पर प्रतिष्ठित हैं। वह संसार को ऐसे आगे बढ़ाती है जैसे एक सेनापति सेना को। यदि श्रद्धा न हो तो संसार में कोई धार्मिक कार्य हो ही नहीं सकता। सहज सांसारिक व्यापारों को करते हुए भी अधर्म-गर्त में गिरे बिना संसार को धर्म-मार्ग पर चलानेवाली श्रद्धा ही है। दुनिया के दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न तथा अनेकानेक धार्मिक सिद्धांत श्रद्धा के ही आश्रय पर पल रहे हैं। जिसमें श्रद्धा नहीं है, वह किसी भी दर्शन को सत्य मानकर उसका अनुष्ठान नहीं कर सकता। श्रद्धा के आश्रय को बिलकुल छोड़कर केवल सर्व-सम्मत युक्तिवादों के द्वारा कोई वस्तु-निर्णय करना असंभव है। दुनिया में आज तक जितने दर्शन हुए हैं उनमें कोई भी केवल अनुमान के आधार पर न तो वस्तु-निर्णय कर सका है, और न भविष्य में ऐसा होनेकी संभावना है। प्रत्यक्ष-प्रमाण के लिए जो विषय अगोचर है, उनका निर्णय अनुमान-प्रमाण के द्वारा दार्शनिक करते हैं। ऐसे भी कई सूक्ष्म, निगूढ़ एवं सत्य तत्त्व हैं जिन तक अनुमान की पहुँच भी नहीं हो सकती। उनका निर्णय कैसे किया जा सकता है ? उनका निर्णय केवल महात्माओं तथा शास्त्रों पर श्रद्धा के द्वारा ही किया जाता है। जिस व्यक्ति में श्रद्धा नहीं है, वह उनका निर्णय नहीं कर सकता। यदि वस्तु-तत्त्व अनिश्चित हो तो उसकी साधना में कैसे लग सकते हैं ? उन्नति एवं महिमा का एकमात्र कारण श्रद्धा है। कठिन तपस्याओं को भी सरल बना देनेवाली श्रद्धा है। इसके वैभव एवं विचित्रता का वर्णन कैसे करूँ ?

●

मणिकर्णिका से लौटकर हम दो दिनों में भून्तर पहुँच गये और अगले दिन सात मील की दूरी पर कुल्लु राजधानी में प्रविष्ट हुए। कुल्लु भी मंडी के समान एक छोटा नगर है। मंडी से पश्चिमोत्तरी दिशा में स्थित कुल्लु नामक हिमालय के एक छोटे-से भू-भाग की राजधानी है कुल्लु। यह मणिकर्णिका नामक उपर्युक्त तीर्थ भी कुल्लु के अन्तर्गत है। यह स्थान व्यास के तट पर समुद्र की सतह से केवल तीन-चार हज़ार फुट की ऊँचाई पर है। इसका जलवायु समशीतोष्ण है। इसकी आबादी बहुत अधिक नहीं है। मैं वहाँ कुछ दिनों तक एक एकांत स्थान में बड़े उल्लास के साथ निवास करता रहा। यद्यपि कुछ विशेष व्यक्तियों ने मुझ से प्रार्थना की थी कि मैं कुछ महीनों तक वहाँ के 'सनातनधर्म मंदिर' में रहूँ, और सब प्रबन्ध वे कर देंगे, तो भी कई कारणों से मेरा मन वहाँ न

लगा। अतः कुल्लु में कुछ दिन विश्राम करने के बाद मैं दूसरे साधु के साथ एक दिन सवेरे वसिष्ठ के लक्ष्य में यात्रा करने निकल पड़ा।

वसिष्ठ कुल्लु से चौबीस मील उत्तर की ओर हिम से ढकी पर्वत-मालाओं की तराई पर स्थित एक विशेष तीर्थ है। यह महर्षि का मुख्य तपः-स्थान था। मणिकर्णिका के समान यहाँ भी उष्ण जल से भरा एक कुंड लहरा रहा है। कुंड के पास एक मन्दिर है जिसमें वसिष्ठ भगवान की मूर्ति प्रतिष्ठित है। हम व्यास-गंगा के किनारे-किनारे मनोहारी पर्वत-प्रांतों को देखते धीरे-धीरे चलते हुए तीसरे दिन वसिष्ठ धाम पर पहुँच गये। इस एकान्त एवं विशाल मार्ग ने मन को बड़ा आनन्द तथा उत्साह देते हुए यात्रा के कष्ट को कम कर दिया था। वसिष्ठ से दो मील नीचे तक मोटर गाड़ी चलती है, इसलिए उसमें जानेवाले के लिए यह प्रदेश दूर या दुर्गम नहीं लगता।

बड़ी भक्ति और आनंद के साथ स्नान, दर्शन, भजन आदि करते हुए हम चार दिन वसिष्ठ में रहे। क्षुधा-शान्ति के लिए खाद्य-पदार्थ पास के ग्राम से मिलते रहे। यद्यपि इस प्रदेश के पहाड़ी लोग बहुत ग़रीब हैं, और बड़ी कठि-नाई के साथ जीवन बिता रहे हैं तो भी वे ईश्वर, साधु और स्वधर्म में परम्परागत श्रद्धा एवं भक्ति रखते हैं। इसी कारण उन्होंने हमारा सत्कार आदरपूर्वक किया।

× × ×

जिस ईश्वर ने उदारशील धर्म-बुद्धि कुटुंबियों के लिए नित्य-दरिद्रता एवं नित्य-दुःख बदा है, उसकी सृष्टि-महिमा का रहस्य समझ में नहीं आता। संसार के सभी दार्शनिकों के लिए यह एक कठिन समस्या है कि यदि ईश्वर सर्वशक्त, स्वतंत्र एवं दयालु है तो उसने इतने दुःखभरे संसार की सृष्टि क्यों की है। इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से देने की कोशिश की गयी है। दर्शन-ग्रंथों में अनेक कर्कश तर्कों द्वारा इस विषय की आलोचना की गयी है। ईश्वरवादी दार्शनिक कितनी ही युक्तियों की वर्षा करें तो भी कुछ लोग इस अन्याय को देखकर ईश्वर-सत्ता का भी निषेध करने लगते हैं कि सर्वशक्त भगवान ने इतने दुःख-भरे संसार की सृष्टि की है। यदि यह मान लें कि ईश्वर सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है और उसने इस दुःखपूर्ण प्रपंच की सृष्टि की है तो उस पर निर्दयता, विषम दृष्टि, राग, द्वेष आदि अनेक दोषों की कल्पना करनी पड़ेगी, और ऐसे अनेक दोषों से दूषित ईश्वर को मान लेना मूर्खता है। शारीरिक भाष्य में 'ईश्वरस्तु पर्जन्यवत् द्रष्टव्यः' से लेकर श्री शंकर ने कितनी ही युक्ति

तथा मधुरिमा के साथ इस गहन विषय पर अपनी राय प्रकट की है। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—इस जगत में ईश्वर की तुलना बादल से की जा सकती है। चावल, जौ आदि अनाज की सृष्टि में बादल सामान्य कारण-मात्र है। विभिन्न अनाज भिन्न-भिन्न रूप में अंकुरित होकर फूलें-फलें, इसके लिए उन बीजों में वर्तमान भिन्न-भिन्न शक्ति-विशेष ही मुख्य कारण है। वैसे ही, ईश्वर भी देव, मनुष्य आदि की रचना में सामान्य कारण-मात्र है। उनकी आकार-विषमता, व्यवहार-विषमता तथा सुख-दुःख आदि की भोग-विषमता में उन-उन जीवों के पूर्वकृत कर्म ही मुख्य कारण हैं।

इस प्रसिद्ध बात पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं दिखायी देता कि ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ यहाँ तप करते थे। प्राचीन ऋषि एकांत जीवन और आत्म-चिंतन का आनन्द भोगने के इच्छुक थे। आत्मा को भूलकर वे अनात्म विषयों में ज़रा भी रस लेना नहीं चाहते थे। आत्मलाभ के बिना यह सारा ब्रह्माण्ड ही मिल जाए तो भी वे उसमें कोई लाभ नहीं मानते थे। आज के समान वे आत्मलाभ को केवल शब्दों में नहीं मानते थे; दीर्घकाल तक योग-समाधि में विहार किये बिना उनका मन तृप्त नहीं होता था। उन ऋषियों को यह धारणा स्वीकार्य नहीं थी कि देह-नाश के बाद ही निरातंक एवं निरर्गल आत्मानंद होता है, न कि जीवन की दशा में। समाधि के द्वारा वे सशरीर ही शुद्ध आत्मानंद भोगते रहे। "हे आर्यपुत्र ! मेरी भगिनी तो सन्तानवती बन चुकी है। मैं सन्तानवती क्यों नहीं होती ?" पत्नी के इस भाव-गर्भित उपालंभ को सुन नपुंसक पति जवाब देते हैं, "प्रिये ! जब तक मैं ज़िन्दा रहूँगा, तब तक तू सन्तानवती नहीं होगी। मेरे मरने के बाद अवश्य ही तू बनेगी।" पति के जीवनकाल में ही यदि संतान न हो तो यह आशा कैसे की जा सकती है कि उसके मरने के बाद होगी ? उसके पति का यह शोचनीय उत्तर स्पष्टतः पुत्रोत्पादन में असमर्थता प्रकट करता है। हमारे पूर्वजों ने ऐसे ज्ञानी जनों की तुलना इस नपुंसक पति की है जो जीवन-दशा में निरातंक आत्म-समाधि एवं आत्मसुख को भोगे बिना विदेह में उसको भोगने के इच्छुक हैं।

इसीलिए समाधि-प्रिय प्राचीन ऋषीश्वर यदि समाधि के लिए बड़े ही अनुकूल वातावरण हिमगिरि के ऊपरी देशों के आश्रय में आये तो यह ठीक ही है। यद्यपि दूसरे भी कुछ ऐसे स्थान हिमालय में इधर-उधर हैं जो भगवान वसिष्ठ के निवास-स्थान कहलाते हैं, तथापि हिमावृत पर्वत-पंक्तियों का निकटवर्ती, तप्तजलमय, विदूरता में स्थित एवं नितांत सुन्दर प्रस्तुत स्थान उन सब में उत्तम होकर शोभायमान है। अस्तु !

●●

११. | त्रिलोकीनाथ

: १ :

पश्चिम हिमालय में परिव्रजन करने के उद्देश्य से मैं हृषीकेश से चला था, तो 'त्रिलोकीनाथ' नामक पुण्यधाम भी मेरी कल्पना में था। मुझे वहाँ के मार्ग का पूरा पता नहीं था। इसलिए यह यात्रा निश्चित नहीं थी। जब कुल्लु से मार्ग का पूरा पता मिल गया तो मैंने तुरन्त वहाँ की यात्रा का निश्चय कर लिया। जब यह भी मालूम हुआ कि हिम-संहति एवं शीत की अधिकता से मार्ग बड़ा दुर्गम है तो वहाँ के प्रस्थान का उत्साह और भी अधिक बढ़ता गया। वसिष्ठ के ग्रामीणों ने मेरी यात्रा को अनुरोधपूर्वक रोका था। उन्होंने मुझे सलाह दी कि मार्ग में 'लट्टाङ्' नामक एक घाट को पार करना है। इस ज्येष्ठ महीने में वहाँ बहुत दूर तक बरफ़ पड़ी होती है, तथा इस समय वहाँ की सर्दी भी सहन नहीं होती, इसलिए दो महीने के बाद ही जाना अच्छा है। पर मैंने उनकी सलाह की परवाह नहीं की। मार्ग कितना ही कठिन क्यों न हो तो भी—चूंकि अधिक समय वहाँ रहने की मेरी इच्छा नहीं थी, इसलिए—मैंने यही निश्चय किया कि अविलंब यहाँ से यात्रा शुरू करनी चाहिए।

त्रिलोकी की यात्रा करने की इच्छा रखने वाले सात-आठ साधु वसिष्ठ में रहते थे। वहाँ से यह स्थान पैंसठ मील की दूरी पर है। मार्ग की दुर्गमता को जानते हुए भी जब इन साधुओं ने मेरा दृढ़ संकल्प देखा तो उन्होंने बड़ी खुशी के साथ मेरे साथ चलने के लिए अपना विचार प्रकट किया। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहूँ। मैं तो अकेले ही प्रस्थान करने के लिए तैयार था, किन्तु जब इन सात-आठ साधुओं को भी अपने साथ चलने को तैयार देखा तो मैं अति प्रसन्न हुआ।

एक दिन भोजन के बाद दो बजे भगवान वसिष्ठ को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर हमने वसिष्ठ से सानंद यात्रा शुरू की। जून के महीने की कठिन धूप थी। एक दो गांवों से भिक्षा में मट्ठा लेकर पी लिया। व्यास के किनारे से पाँच-

छः मील उत्तर की ओर जाने पर धीरे-धीरे चढ़ाई शुरू हुई। दो मील ऊपर चढ़कर बरफ़ से ढँकी लट्टाङ् पर्वतमाला की तराई पर शाम को पहुँच गये। लाल नामक उस स्थान में एक धर्मशाला के एक अनावृत बाहरी भाग में हमने रात बितायी। वहाँ की असहनीय सर्दी से हम सभी रात भर ठिठुरते रहे।

प्रभात हुआ। तेरह हज़ार पाँच सौ फुट ऊँचे लट्टाङ् दर्रे को आज पार करना है। हिम से भरे भयानक-विकट मार्ग में आज बहुत दूर तक चलना है। मेरे साथी साधु मार्ग-विषमता की चिन्ता से भय-विकल थे और अपने आसनों पर ही बैठे हुए थे। उन्हें मैंने साहसी वचनों से प्रोत्साहन दिया और यह सलाह देकर आगे चल पड़ा कि ज़रा भी आलस्य किये बिना वे जल्दी मेरे पीछे चलते आएँ। बड़ी कठिन विकट चढ़ाई पर चढ़ते जाना था।

त्रिलोकीनाथ का भक्ति के साथ स्मरण कर हम ऊपर चढ़ने लगे। दस ही क्षण के अन्दर सब लोग घोड़े के समान हाँफने लगे। फिर भी हम एक मील से ज्यादा ऊपर चढ़ गये। एक विशाल चट्टान पर बैठकर कर विश्राम किया। लो, यहाँ से एक जलधारा के रूप में व्यास गंगा निकलती है। कुछ लोगों का कहना है कि यह प्रदेश वेदव्यास का आश्रम-स्थान था, और यहाँ से निकलने के कारण इस नदी का नाम व्यास-गंगा पड़ा। यद्यपि व्यास महर्षि का मुख्य स्थान बदरिकाश्रम था, तथापि वे यहाँ भी तपश्चर्या में रहा करते थे। दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि यह वही नदी है जो 'विपाशा' के नाम से पुराणों में वर्णित है। इस नदी का नाम विपाशा क्यों पड़ा पुराणों में इसका वर्णन आख्यायिका के रूप में मिलता है। यह भी कहा जाता है कि कि विपाशा का अपभ्रष्ट रूप ही व्यास है।

अधिक समय बैठकर विश्राम करने का समय नहीं था। हमें दस-ग्यारह बजे से पहले-पहले घाट को पार करना था। ग्यारह बजे के बाद प्रचण्ड हवा चलनी शुरू हो जाती है। तब घाट को पार करना ज्यादा मुश्किल हो जाएगा। हम सब उठे और तेज़ी से चल पड़े। ऊपर चढ़ते जाने पर वृक्ष-लताओं से बिलकुल शून्य नंगे मैदान आते गये जो कि हमारे मन को अधिक आनंद देते रहे। हममें से एक साधु को चढ़ाई शुरू करने पर सिर-दर्द होने लगा था और ऊँचे पर्वत-शिखरों को देखकर डर से उसका मन काँपने लगा था। इसलिए वह दो मील की ऊँचाई से नीचे ही लौट पड़े। शेष हम सब इधर-उधर बैठकर थोड़ा-थोड़ा विश्राम करते और साहस एवं ईश्वर-चिन्तन के साथ फिर भी चढ़ते चले गये। लगभग चार मील ऊपर चढ़ जाने पर हम सब थककर चूर-चूर हो

गये। इसीलिए थोड़ा-थोड़ा पाथेय खाकर हमने वहाँ अधिक समय तक विश्राम किया।

अब यहाँ से आगे हिम-पटलों से आवृत धवल पर्वत-शिखर को पार करना है। सामने विशाल सफ़ेद चोटी को देखते ही साधुओं का सारा साहस समाप्त हो गया। मार्ग का अच्छा परिचय हुए विना उस घाट को पार करने की कोशिश करना सचमुच वड़ा ही खतरनाक था। हिम में प्रवेश करके यदि रास्ता भूल जाएं और इधर-तधर भटकना पड़े तो मौत ही इसका नतीजा है। इसलिए मार्ग की चिंता से मेरा मन भी थोड़ा-सा घबरा गया। किन्तु—

विपदस्सन्तु नःशश्वद् यासु संकीर्त्यते हरिः।

यह महान वाक्य कितना ही सच है कि संपत्ति प्रायः सर्वेश्वर को भुला देने-वाली एक मादक वस्तु है तथा केवल विपत्ति में ही ईश्वर दृढ़-स्मरण एवं संकीर्तन का विषय वन जाता है। जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करते तथा एक वार भी ईश्वर का स्मरण नहीं करते ऐसे नास्तिक भी विपत्ति आ पड़ने पर "हे परमेश्वर ! परमात्मन ! हे दीनवन्धो ! वचाओ, वचाओ" आदि की पुकार करके प्रार्थना करने लगते हैं। कोई एक संस्कार ही उन्हें ऐसा करने की प्रेरणा देता है। यह भी ईश्वर की ही महिमा है, अथवा उसी की ही करुणा है। यद्यपि सवके हृदय-सरोवर के अन्दर यह ज्ञान-रत्न विद्यमान है कि ईश्वर है और उसकी महिमा अपार है, तथापि नाना प्रकार के विषयरस की लहरियों से आवृत होने के कारण वह प्रकट नहीं होता, किन्तु अवसर आ पड़ने पर, अर्थात् विषयरस के शुष्क हो जाने पर, "हे परमात्मन् ! कृपासिंधो ! वचाओ वचाओ !" आदि के शब्दों में वह स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

यह एक तथ्य है जो कि सर्वत्र दिखायी पड़ता है। इस यात्रा में मेरे सहगामी मित्र भी इस विषम अवसर पर अपने को वचाने के लिए हृदयपूर्वक और भक्ति के साथ उँचे स्वर में "त्रिलोकीनाथ की जय" पुकारने लगे। साधु होने पर भी उनमें ज्यादातर ऐसे थे जो हृदयपूर्वक भगवान की शरण में नहीं आये थे। फिर भी उनके मन को उस समय ईश्वर में लगा हुआ देखकर मैंने इसे भी ईश्वर की ही कृपा समझी। ईश्वर की कृपा हो तो भक्ति पर विश्वास न रखने वाले लोग भी क्षण भर में अति भक्त वन जाते हैं।

लीजिए, हमारे पीछे घोड़ों, गधों और भेड़ों पर सामान लादे यात्रियों का एक दल ऊपर चढ़ता आ रहा है। उनको देखते ही हमारा मन आनंद से

भर गया। मुझे ऐसा लगा मानो ये हमारी सहायता के लिए ईश्वर के भेजे हुए मार्ग-रक्षक हैं। जो भी हो, जब वे हमारे पास पहुँच गये तब हमने बड़े आनंद तथा प्रेम के साथ उनका स्वागत किया और उनका पीछा करते हुए साहस के साथ घाट को पार करने लगे। वे लोग विदेशों में व्यापार करने-वाले तिब्बत के कुटुंबी थे। उनके साथ स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। लद्दाख यारकन्द, तिब्बत आदि दूर देशों की ओर इसी घाट को पार करते हुए मार्ग जाता है। ज्येष्ठ महीने से कार्त्तिक महीने तक ब्रिटिश देश से इन देशों की ओर तथा वहाँ से यहाँ की ओर कई व्यापारी इसी घाट को पार करते हुए हर साल आते जाते हैं। इन व्यापारियों के कदमों का पीछा करते हुए हम बरफ़ के ऊपर धीरे-धीरे चलने लगे।

प्रातः के नौ बज चुके हैं। सूर्य का प्रकाश पड़ने पर हिम-समूह चमचम चमकने लगा। सूर्य-किरणों की गर्मी से बरफ़ थोड़ा-थोड़ा पिघलने लगा। इसी कारण पैर हिम पर फिसलने लगे। यद्यपि मैं चाहता था कि धूप से हिम के पिघलने से पहले-पहले इस हिम-संहति को पार कर लेना चाहिए, किन्तु दैवेच्छा से थोड़ी देर हो गयी। वस्तुतः केवल एक विषय का ज्ञान होने से उसका अनुष्ठान होना संभव नहीं होता। अनुष्ठान बाहरी तथा आंतरिक दोनों साम-ग्रियों पर निर्भर रहता है। ज्ञान के होने पर भी अपनी इच्छा के अनुकूल सदा उस का अनुष्ठान संभव नहीं होता। अब हिम के पिघल जाने से उसे पार करना बड़ा कठिन तथा खतरनाक हो गया था। रास्ता केवल एक-दो फुट चौड़ा था और वह भी कड़ी ढाल वाले पहाड़ की बग़ल में से होकर जा रहा था। इसी रास्ते पर हमें जाना था। फिसलने का डर हर समय बना हुआ था। फिसलकर यदि नीचे गिरे तो मृत्यु निश्चित थी। पहाड़ की बग़ल बरफ़ से ढँकी हुई थी। ऐसे मार्ग से फिसल जाने वाले बिना किसी आधार के पहाड़ की गहरी तह की ओर ढुलकते जाते हैं और हिम के ढेरों में मिल कर अगोचर हो जाते हैं। इस स्थिति में न तो वे स्वयं अपने को बचा सकते हैं, और न देखनेवाले दूसरे लोग उन को बचा सकते हैं। हमारे ऊपर-नीचे और आगे-पीछे सब कहीं विशालता में फैला हुआ हिम-समूह था। उसी के बीच में से चलते जाना हमारे लिए दुर्गम तथा भयावह था, क्योंकि हम ऐसी विकट यात्रा से परिचित नहीं थे।

यद्यपि मेरे लिए हिम बड़े आनंद का कारण था, तो भी मार्ग-विषमता के कारण बड़ा कष्ट झेलना पड़ा। फिसल कर गिरें तो ढुलक जाए बिना नहीं

रह सकते। ऐसे तंग भयानक रास्ते से लगभग डेढ़ मील ऊपर चढ़ते जाने पर पहाड़ की ऊँची सीमा का एक विशाल मैदान मिल गया। वहाँ दो से आठ फुट तक सर्वत्र घना हिम-समूह फैला हुआ था। अब हम उसी पर बच्चों के समान दौड़ते हुए और निश्चित कदम बढ़ाते हुए स्वच्छंद रूप से चलने लगे। कभी-कभी हम चीनी के कणों के समान मृदुल तथा विशाल हिम-राशि पर फिसलकर ढुलक भी पड़ते थे, किन्तु फिर उठकर आगे की ओर कदम बढ़ाने लगते थे। ग्यारह बजे से पहले-पहले हम उस विशाल मैदान के मध्य-भाग पर पहुँच गये। वहाँ हम सब ने पहाड़ की चोटी पर स्थित हिम से ढके पर्वतीय देवता को प्रणाम किया और उसकी परिक्रमा की। चूँकि वहाँ विश्राम करने की जगह नहीं है, इसलिए व्यापारी तो आगे चलने लगे, किन्तु मुझे वहाँ देवता के पास एक पत्थर के ऊपर हिम के पिघल जाने के कारण थोड़ी-सी साफ़ जगह मिल गयी और मैंने वहाँ बैठ कर बहुत देर तक आराम किया।

अहा! उस पर्वत-पंक्ति की धवल-धवल, चमचम चमकने वाली दिव्य-सुषमा का मैं कैसे वर्णन करूँ? हिम ही हिम! जहाँ देखिए, जहाँ तक नज़र जाती है, हिम-राशि को छोड़ और कोई वस्तु आँखों के सामने नहीं आती। मुझे ऐसा लगा कि मैं मिट्टी की भूमि पर नहीं, रजत-भूमि पर बैठा विश्राम कर रहा हूँ। मध्याह्न की प्रचण्ड सूर्य-किरणों के प्रतिबिंब से हिम-राशि भी सूर्य-मंडल के समान समुज्ज्वल हो गयी थी। इतनी समुज्ज्वल कि आँखें चौंधियाँ जाती थीं और इसलिए बड़ी देर तक हिम-पटल पर आँखें दौड़ाना असंभव हो गया था। मैं लगभग पन्द्रह मिनट तक वहाँ बैठा-बैठा अलौकिक कान्ति का उपभोग करता रहा। नीचे उज्ज्वलता और धवलिमा के साथ प्रकाशमान हिम की शोभा, उधर ऊपर गहरी नीलिमा और निर्मलता के साथ प्रकाशमान आकाश की कान्ति—दोनों का सौम्य संघर्ष उस दोपहर के समय उस पहाड़ की चोटी को एक दुर्लभ और विलक्षण चमत्कार-भूमि बना रहा था।

हिम-पर्वतों के शिखर मेघ-मालाओं से आवृत रहने के कारण प्रायः अदृश्य रहा करते हैं। कुछ विरले ही अवसरों पर इस प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं कि इन्द्रनील के बने निर्मल ऊपरी वितान के नीचे रजत-पर्वतों का सम-विषय फ़र्श बिछा पड़ा है। फिर, प्रकृति के ऐसे अलौकिक विलास को उचित रूप से भोगने की इच्छा एवं सामर्थ्य रखनेवाले यात्री भी ऐसे दुर्गम मार्गों पर बहुत कम ही चला करते हैं। सच तो यह है कि प्रकृतिदेवी के ऐसे नृत्य-मंच पर एक सहृदय की स्थिति में तथा वेदांतियों की निर्विकल्प समाधि

में बहुत बड़ा अंतर नहीं होता। यदि एक ओर निर्विकल्प समाधि में ऐसा जगत् जो कि नाम रूप और क्रिया से युक्त राग-द्वेष, शोक-मोह और सुख-दुःख से पूर्ण शत्रु-मित्र, पुत्र-कलत्र आदि कल्पनाओं से मण्डित तथा पंडित-पामर, स्वामी-सेवक, स्त्री-पुरुष आदि विषमताओं से विषम प्रकट नहीं होता तो वैसा जगत् प्रकृतिदेवी की विलास-भूमि में भी दिखायी नहीं देता। इसीलिए विद्वानों ने प्रकृति-दर्शन का उल्लेख समाधि-भूमि के रूप में किया है।

वहाँ की दिव्य-सुषमा-पुंज में मैं सब कुछ भूल कर, यहाँ तक कि अपने-आपको भूलकर, बहुत देर तक उस पत्थर पर बैठा रहा, और तभी मुझे ध्यान आया कि मेरे साथी यात्री बहुत आगे बढ़ गये हैं। मैं तुरन्त उठकर चलने लगा। यहाँ से पहाड़ का उतार शुरू होता है। उतार का रस्ता भी चढ़ाव के रास्ते के ही समान विकट एवं भयानक था। मैं लकड़ी टेकते हुए धीरे-धीरे उतरने लगा। हम में से किसी को यह मालूम नहीं था कि बरफ़ आगे कितनी दूर तक होगी। व्यापारियों के मन में भी इस बात की शंका थी कि न जाने ऐसी स्थिति कहाँ तक रहेगी। ईश्वर की कृपा से उतार में एक मील से अधिक दूर हिम नहीं था। धीरे-धीरे उस विकट हिम-भाग को पार कर हम विशाल मिट्टी की पहाड़ी के पार्श्व से स्वच्छंद तेजी के साथ नीचे उतरने लगे।

लट्टाङ् पर्वत-पंक्ति के इस ओर जिस प्रकार व्यास गंगा बहती है, उसी प्रकार इसके उस पार 'भागा' नामक एक नदी कुछ दूर से निकलकर नीचे बहती है। यह नदी तथा दूसरे एक पर्वत से निकलनेवाली 'चन्द्रा' नामक एक नदी, दोनों मिलकर 'चन्द्रभागा' (चनाब) नाम से आगे चल कर सिंधु की एक पोषक नदी बन जाती है। पहाड़ी ढाल से नीचे उतरकर इस भागा के किनारे से कुछ दूर जाने पर एक छोटी-सी धर्मशाला मिल गयी। इस प्रकार तीन मील से अधिक सम-विषम हिम-प्रदेश को तथा आठ मील तक के भू-प्रदेश को पार करके संयमनीपुरी के कपाट के समान भयानक 'लट्टाङ्' दर्रे को लांघकर हम बिलकुल थके-मांदे, चूर-चूर होकर लगभग तीन बजे उस धर्मशाला में पहुँच गये और उस दिन वहाँ विश्राम किया।

घाट के उस पार भू-प्रकृति बड़ी ही विलक्षण दीख पड़ी। वृक्षादि से हीन, बिलकुल नग्न और हिम से आवृत शिखरों से युक्त ऊँचे पहाड़ों से भरा वह प्रदेश बड़े विस्मय को पैदा करता था। गांव इधर-उधर दिखायी पड़ते थे। वहाँ बौद्ध धर्मावलम्बी, एक तरह की संकर-जाति के लोग, निवास करते हैं। उनका बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म से इतना मिला हुआ है कि उनके हिन्दू होने

की भ्रांति हो जाती थी। यहाँ भी गाँवों से कुछ दूर पर लामाओं के आश्रम दिखायी पड़ते हैं। किन्तु यहाँ के लामा तिब्बत के लामाओं के समान तपस्वी और सदाचारी नहीं हैं। ये अधिकतर गृहस्थ-धर्मी बनकर स्त्री-सहवास के रस में डूबे हुए लौकिक जीवन बितानेवाले हैं। मैं यहाँ के कुछ लामाओं के आश्रमों में गया था और उनके आचरणों को समझ लिया था।

'खोक्सर' नामक उस स्थान से हमने अगले दिन सवेरे यात्रा शुरू की। मार्ग पश्चिमोत्तर दिशा में जा रहा था। सर्दी इतनी अधिक थी कि हाथ-पैरों की उँगलियाँ लकड़ी के समान ठिठुर जाती थीं। इसलिए सवेरे स्वच्छंदतापूर्वक चलना कठिन हो गया था। उधर कड़ाके की सर्दी की भीषणता तथा लकड़ी की कमी के कारण रात में नींद भी बहुत कम आयी थी। किन्तु हम कुछ दूर तक कठिनाई से चलते रहे। आठ-नौ बजे सूर्य भगवान् और उसकी तप्त किरणें हम पर पड़ने लगीं। थोड़ा हाथ-पैर खुल गये और हम चेतना के साथ चलने लगे। दस बजे के पहले हम नौ मील दूर के सीसु नामक स्थान पर पहुँच गये।

यहाँ हमने थोड़ी देर आराम किया। वहाँ भिक्षादि के लिए कोई सुविधा न थी, इसीलिए हम फिर आगे बढ़े। एक ग्राम के निकट जल के पास खाना पकाकर खाया और शाम को सीसु से सात मील दूर 'गोन्दुला' नामक एक सुन्दर स्थान पर जा पहुँचे। यहाँ एक राजमहल स्थित है।।

अगले दिन वहाँ से दस मील दूर 'लोट्‌टु' नामक एक गाँव के पास एक धर्मशाला में रात बितायी। इस प्रदेश के बौद्ध-धर्मी ग्रामीण प्रेमपूर्वक भिक्षा देकर साधुओं का आदर करने में बड़े उत्सुक थे। मेरे साथ के साधु तो भिक्षा लेने में बड़े प्रवीण थे। अतः भोजन के विषय में मुझे कोई कष्ट नहीं होता था। पका हुआ अन्न स्वीकार करना साधुओं को पसन्द नहीं था। इसलिए हम प्रतिदिन अपक्व खाद्य-सामग्री लाकर और उसे पकाकर खाया करते थे। साधु-मंडली के नेता के रूप में वे मेरे भोजन आदि कार्यों में बड़ा ध्यान रखते थे। चूँकि दूध और मट्ठा उस मार्ग में बहुत मिलता था, इसलिए चलने के कारण हमारे शरीर को रंच मात्र भी थकावट की अनुभूति नहीं होती थी।

लोट्‌टु से हम अगले दिन सवेरे उठकर चल दिये। लोट्‌टु से पाँच मील पीछे 'तंदी' नामक स्थान पर भागा नदी चन्द्रा से मिलकर 'चन्द्रभागा' बन गयी है। अब हम उस दिव्य सरिता के सुन्दर किनारे से आगे चल रहे हैं। 'त्रिलोकीनाथ' नाम का प्रसिद्ध धाम भी इसी चन्द्रभागा के तट पर बसा है। लोट्‌टु से सात मील की दूरी पर 'जाहुमा' नामक एक गाँव स्थित है। मार्ग पश्चिमोत्तरी

दिशा पर धीरे-धीरे निम्न प्रदेशों की ओर जा रहा था। इसलिए शीत की कठिनता कम होती गयी। इतना ही नहीं, जाटुमा से आगे वृक्ष-लतादि तथा घने वनों के शुरू होने से भूमि की प्रकृति ही बदल गयी। जाटुमा तक भूमि की प्रकृति बड़ी ही अलौकिक एवं असाधारण थी। बिलकुल नंगी, हिम शिखरों से सुशोभित तथा कृष्णारुण वर्ण में आकर्षक समुन्नत पर्वत-पंक्तियाँ हृदय को बड़ा आनन्द देती थीं। यहाँ से आगे पहाड़ी शोभा एक अन्य रूप में प्रकट होती है। जाटुमा से सात मील दूर 'ओटु' नामक गाँव में रात बितायी।

●

अगले दिन हम वहाँ से सिर्फ सात मील की दूरी पर बड़े आनंद के साथ 'त्रिलोकीनाथ की जय' की जय-ध्वनि करते हुए ग्यारह बजे से पहले-पहले 'त्रिलोकीनाथ' में प्रविष्ट हो गये। तभी मेरे मन में विचार उठने लगा—

अर्कानलादि वेळिवोक्के अहिक्कुमोरू।
करणन्नु करणु मनमाकुन्न करणतिनु ।।
करणायिरुन्न पोरुळ तानेन्नुरक्कुमळ।
वानंदमेन्तु हरि नारायणाय नमः ।।

—हरिनामकीर्तनम्

प्रकृति की सारी शोभा को दिखानेवाले सूर्य, चन्द्र आदि हैं। सूर्य, चन्द्र आदि को प्रकाशित करनेवाली, अर्थात् ग्रहण करनेवाली आँख है। आँखों की भी आँख मन है, अर्थात् आँख को प्रकाशित करनेवाला मन है। मनोवृत्ति के बिना आँखों का व्यापार किसी भी वस्तु को प्रकट करने में समर्थ नहीं होता। ऐसे मन को भी प्रकाश देनेवाला चैतन्य है। चैतन्य के बिना जड़ मन चक्षुओं को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सभी शोभाओं की आधारभूत महाशोभा है—चैतन्य। निरतिशय प्रकाश वही चैतन्य हूँ मैं, अर्थात् मेरा रूप, इस निर्णय पर अनुभूत ज्ञान-समाधि ही सर्वश्रेष्ठ पद है। उस पद की अपेक्षा प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप और सब व्यवहार निकृष्ट हैं। फिर भी, प्रारब्ध का अनुरोध करनेवाले संस्कार के द्वारा हर व्यवहार में विमुख विवेकी भी ईश्वर से आकृष्ट होता है। किन्तु ऐसी उच्च समाधि से, जिसमें शारीरिक इन्द्रियों का भान तक न हो, ईश्वर की प्रेरणा से उठकर देहेन्द्रियों के व्यापार करते समय भी, उस व्यापार में भी, विवेकशील पुरुष आत्म-समाधि का अनुभव करता है। तब भी वह आत्म-समाधि से विचलित नहीं होता।

यही स्थिति पर्वत लाँघने जैसे कठोर व्यापारों में भी होती है। यात्रा

में आनेवाले नाना प्रकार के कष्टों को मैं आत्मरूप में, आनंद रूप में, ही भोगता रहता हूँ।

: २ :

इन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक देवों में, ऋग्वेद में उनके स्तुति-गीतों में, उनके तर्पण की सोम-रस आदि वस्तुओं में तथा उनकी पूजा के फल—स्वर्ग आदि लोकों में यद्यपि हमारे पूर्वज आर्य महर्षि अधिक काल तक रमते रहे, तथापि अन्तत: उनकी तत्त्वोन्मुख विचार-कुशल बुद्धि ऐसे विनश्वर रमणीय वस्तुओं से उठकर गुण-क्रिया आदि से हीन, देश-काल आदि से अच्छेद्य, अद्वितीय एवं आनंदघन तक वस्तु में पहुँच गयी। उन्होंने चिंतन के द्वारा ही नहीं, अपने अनुभवों के द्वारा भी यह जान लिया कि दो वस्तुएँ कभी सत्य नहीं हो सकतीं। सत्य हमेशा एक ही होता है। उन शुद्धात्माओं की बुद्धि में वेद-स्वरूप ईश्वर ने अद्वितीय सत्य वस्तु को प्रकाशित किया। इस प्रकार सत्य वस्तु के दृढ़ अनुभव से जन्म लेनेवाले उन के उद्गार हैं—"सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'एकमेवाद्वितीयम्,' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' आदि अनेक प्रौढ़ वाक्य।

इस प्रकार आर्य महर्षि-पुंगवों से दुनिया के सामने गाया गया वह परम-तत्त्व उसके बाद के सभी तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए विश्रांति का स्थान बन गया। उस परमतत्त्व का साक्षात्कार करके मुमुक्षु लोग निरतिशय विश्रांति एवं कृत-कृत्यता पाते रहे। ऐसा विश्वास करने में भूल नहीं होगी कि हमारे इतिहास-प्रसिद्ध भगवान बुद्ध भी वेद से प्रतिपादित और विचारशील पुरुषों के विश्रांति-स्थान उस ब्रह्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देख कर उसमें रमनेवाले महात्माओं में से एक थे। क्षत्रियकुल में जन्मे तथा वेद-वेदांतों में पारंगत भगवान बुद्ध ने ब्रह्म-वस्तु को लक्ष्य करके कभी शून्यार्थ में किसी शब्द का प्रयोग किया हो तो भी वह अभाव का सूचक नहीं हो सकता। आज के कई विद्वान समालोचकों की यह राय है कि बुद्ध भगवान ऐसे औपनिषद् ब्रह्म में निष्ठा रखनेवाले महापुरुष थे, जिसका निर्देश सत् में, असत् में या सदसद् दोनों से भिन्न रूप में किया जा सकता है, अथवा जिसका निर्देश ऐसे किसी भी शब्द के द्वारा नहीं किया जा सकता।

ऐसे ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मवादी, ब्रह्ममूर्ति तथा लोक-कल्याणकारी बुद्धदेव की मूर्ति को ही त्रिलोकीनाथ मंदिर में पूजा करते देखा गया। मैंने साधुओं से

सुना था कि त्रिलोकीनाथ बदरीनाथ के समान विष्णुधाम है तथा त्रिलोकीनाथ कहलानेवाले भगवान विष्णु हैं और इसलिए मंदिर में बुद्ध-मूर्ति को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। जिन बुद्ध भगवान को हिन्दू लोग विष्णु के अवतार समझते आ रहे हैं, उनको विष्णु मानकर यदि वे प्रणाम करें तो उसमें कोई दोष या असंगति भी नहीं है।

मंदिर के पुजारी एक गृहस्थ बौद्ध-भिक्षु थे, उस समय वे बाहर गये हुए थे। इसलिए उनकी पत्नी ने हमें प्रेमपूर्वक देव-दर्शन आदि कराये। हमने विधिपूर्वक त्रिलोकीनाथ के दर्शन किये। वहाँ की मनोहारी बुद्ध-मूर्ति का आकार, उसकी पूजा-सामग्रियाँ और पूजा-पद्धतियाँ आदि सब वैसे ही थे जैसे तिब्बत के कई मंदिरों में देखे जाते हैं। तिब्बत में कैलाश के मार्ग पर अधिकतर काँसे की मूर्तियाँ ही दिखायी पड़ती हैं। किन्तु यहाँ बुद्ध की मूर्ति संगमरमर की बनी थी। लामा और उनकी पत्नी चमड़े तथा ऊन का बना, घुटने तक लंबा एक प्रकार का जूता पहने हुए ही देव-पूजा, दीपाराधना और परिक्रमा आदि सब करते हैं। यद्यपि ऐसे आचार हमारे लिए उपादेय नहीं होंगे, तथापि हिमालय के ऊपर बौद्ध देशों में ये सर्व-सामान्य हैं। त्रिलोकीनाथ नामक धाम चंपा नामक हिमालय प्रदेश के अन्तर्गत है। चंपा देश तो ब्रिटिश राजा के अधीन एक देशी राजा के शासन में है।

पुजारी लामा के घर के ऊपरी मंजिल में दूसरे साधुओं से अलग मैं एकांत में रहता था। साधु लोग वहाँ जितने ही दिन चाहें रह सकते हैं, पर गृहस्थ लोगों को एक-दो दिन से ज्यादा रहने नहीं देते। चीन, तिब्बत आदि बौद्ध देशों से आनेवाले लामाओं तथा विरले ही कुछ हिन्दू साधुओं को छोड़ कर उस दुर्गम धाम में कोई नहीं आता था। जब हम वहाँ पहुँचे थे तो तब भी कुछ बौद्ध लामा मंदिर के एक ओर रहते थे। सवेरे-शाम घर के एक ओर डमरू एवं घंटा बजाते बौद्ध लामाओं का भजन-पाठ तथा दूसरी तरफ शंखनाद के साथ हिन्दू साधुओं का महादेव की महिमा का स्तुति-पाठ मेरे मन में भक्ति, विस्मय और कृतार्थता का भाव पैदा कर देते थे।

मंदिर के पास थोड़े-से घरों का एक छोटा गाँव है। वहाँ ठाकुर साहिब की उपाधि के साथ वहाँ के लोगों से आदर-पूर्वक राजा कहलानेवाले एक अमीर भी रहते थे। कहा जाता है कि उस मंदिर के अतिरिक्त आसपास के भू-भागों पर भी कई बातों में उनका अधिकार चलता था। उन दिनों वे वातरोग के कारण शय्यावलम्बी थे। फिर भी उन्होंने मुझ से मिलने की

तथापि जाटुमा से जानेवालों के लिए 'कुप्ति पास' नामक एक भयानक घाट को पार करना पड़ता है। उस समय उस घाट में पाँच-छः मील तक हिम फैली पड़ी थी, और कोई पथ-प्रदर्शक भी नहीं मिल सका था। इसलिए हमने उस रास्ते से जाने का विचार छोड़ दिया।

अब हम छोटे रास्ते को छोड़कर चन्द्रा नदी के किनारे-किनारे पाँच मील ज्यादा चलकर 'केलंगा' नामक एक बड़े गाँव में केवल मनोविदोनार्थ चले गये थे। वहाँ ब्रिटिश सरकार के कुछ अधिकारी रहते थे और उनके आतिथ्य में ही हमने एक दिन वहाँ बिताया। वहाँ भयानक वर्षा एवं हिमपात शुरू हो गया। ईश्वर की कृपा से हम उन अधिकारियों के सत्कार के पात्र बन चुके थे, इसलिए हम बहुत अधिक ठंड से बच गये।

वह गाँव 'लावल' नामक प्रदेश का मुख्य स्थान था। वहाँ से तिब्बत, तुर्किस्तान आदि राज्यों की ओर मार्ग जाते हैं। वहाँ हमें गिरि-शिखरों पर लामाओं के सुन्दर आश्रम दीख पड़े। हिम-वर्षा से धवल-धवल, आनंददायक तथा अति शीतल पहाड़ों के बीच से लगभग पन्द्रह हजार फुट ऊँचे केलंगा से हमने सर्दी से ठिठुरते हुए ही अगले दिन यात्रा शुरू की। रास्ते में फिर वर्षा हुई। ठंड असहनीय हो गयी। भूमि पर पैर रखना मुश्किल हो गया।

यह शास्त्रीय सिद्धांत सत्य ही है कि कितने ही बड़े दिव्य अद्वैतज्ञानी हों तो भी भावाद्वैत के सिवा क्रियाद्वैत संभव नहीं है। शीत-उष्ण, सुख-दुख, जल-अग्नि आदि सभी एक ही हैं, ब्रह्मरूप ही हैं, तथा स्वस्वरूप ही हैं—ऐसी भावना को छोड़ बड़े अद्वैत-निष्ठ व्यक्ति भी उन्हें एक करके व्यवहार में नहीं ला सकते। सबको ब्रह्म के रूप में देखनेवाले ज्ञानी भी जैसे मृदुल आतप में ज़मीन पर लेट सकते हैं वैसे कठिन हिमवर्षा में नहीं लेट सकते। अमृत-तुल्य दूध के समान विष को नहीं पी सकते और जल के समान आग में डुबकी नहीं लगा सकते। व्यवहार वस्तुतः शरीर पर आधारित है। शरीर ज्ञानी और अज्ञानी का समान होता है। इस कारण व्यवहार में विज्ञ तथा अज्ञ के बीच अधिक अंतर नहीं है। यद्यपि ज्ञान के द्वारा ज्ञानी के मन में धैर्य, तितिक्षा, शम, दम आदि का उत्कर्ष होता है, तथापि हिम, आग, हवा, वर्षा आदि पदार्थों के सहज धर्म को नष्ट नहीं किया जा सकता। अतः हम साधारण लोगों को शीत आदि के आक्रमण से जो कष्ट हुआ था, उस पर आश्चर्य की कोई बात नहीं।

उन दिनों प्रतिदिन वर्षा होती रहती थी। इसलिए जाते समय हमें जितनी शीत-बाधा हुई थी, अब उससे भी कहीं अधिक शीत-बाधा झेलते हुए

हमें बड़ी मुश्किल से लौटना पड़ा। लट्टांग दर्रे में यद्यपि वर्षा के साथ ताजी बरफ़ पड़ती रहती थी, तो भी पुरानी बरफ़ के पिघल कर कम होते रहने से परिणाम में पहले से ज्यादा बरफ़ नहीं थी। फिर भी, शीत पहले से अधिक थी। अतः अधिक कष्ट झेलते हुए ईश्वर की कृपा से उसे भी किसी प्रकार पार करके किसी विपत्ति के बिना हम वसिष्ठ पहुँच गये।

वसिष्ठ के ग्रामीणों ने हमारे प्रयत्न की सफलता पर अभिनंदन करते हुए भक्ति के साथ हमारा स्वागत किया। वहाँ ठहरे बिना अगले ही दिन मैं कुल्लु की ओर रवाना हो गया। दूसरे एक मार्ग से, अर्थात् व्यास-गंगा के बायें किनारे से, मनोहारी पहाड़ी प्रदेशों और कुछ गाँवों को पार करके दूसरे ही दिन मैं कुल्लु पहुँच गया। मेरे मन में कुल्लु में भी अधिक दिन रहने की इच्छा नहीं थी। मैंने निश्चय किया कि चातुर्मास के आरंभ के दिन आषाढ़ पूर्णिमा के पहले ही उत्तरकाशी पहुँच जाऊँ, और साथ ही नीचे उतरे बिना ऊपर के पहाड़ी मार्ग से ही उस ओर यात्रा करूँ।

इस निर्णय के फलस्वरूप ज्येष्ठ-पूर्णिमा के दिन, अर्थात् जून महीने की बाईसवीं तारीख को, सवेरे-सवेरे काशी विश्वनाथ का स्मरण करते हुए मैंने कुल्लु से प्रयाण प्रारम्भ किया। जून महीने के आरंभ में ही वसिष्ठ से त्रिलोकी-नाथ चला था। चूँकि अधिक दिन रहने की सुविधा नहीं थी और उसकी ज़रूरत भी नहीं जान पड़ी, इसलिए मैंने उस ऊपरी प्रदेश की यात्रा थोड़े ही दिन में समाप्त कर साधु-जनों से भरे एवं आध्यात्मिक तेज से देदीप्यमान उस देवगंगा के किनारे के लक्ष्य में यात्रा प्रारम्भ की।

इस प्रकार हृषीकेश से रवाना होने की अप्रैल की अठारहवीं तारीख से जून की बाईसवीं तारीख तक दो महीने और चार दिन महाभागा व्यासगंगा तथा त्रिलोकीनाथ में सानंद विहार करने के बाद दूसरे सब साधुओं को छोड़-कर मैं अकेले ही सौम्यकाशी की ओर चलने लगा।

शंकर ने गाया है—कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः। यह अनुभव सिद्ध है कि परिग्रह जितना ही कम होता है, उतना ही स्वातंत्र्य और सुख बढ़ता है। दूसरे साधुओं से आवृत रहने पर वे आदर के साथ मेरी परिचर्या करते थे, फिर भी इससे बढ़कर मुझे अपना एकाकीपन आनंद देता था। स्वयं निर्द्वन्द्व, भिक्षान्न-जीवी, अविचारित लाभ से संतुष्ट एवं निरातंक होकर सुख-पूर्वक मैं धीरे-धीरे चलता रहा।

कुल्लु से शिमला एक सौ बाईस मील दूर है। मुझे पहले कुल्लु से लगभग पैंसठ-सत्तर मील दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित 'रामपुर' नामक एक छोटे नगर में जाना था। यह नगर 'विशायर' नामक हिमालय-प्रदेश की राजधानी है। इसे उस देश के अधिपति एक राजा ने बनाया था। शिमला से करीब अस्सी मील पश्चिमोत्तर दिशा में सतलज नदी के किनारे विराजमान यह एक छोटा-सा सुन्दर नगर या एक बड़ा-सा गाँव है। कुल्लु से दो-तीन दिन का रास्ता चलने पर मुझे वहाँ भयानक वनों से घिरे एक पहाड़ को पार करना था, जिस की दूरी कम से कम दस मील है। सवेरे की ठंड में धीरे-धीरे मैं अकेले ही वनांतर में घूमने लगा। नाना प्रकार के ऊँचे वृक्षों से निविड़ घनी-घनी वल्ली, गुल्म आदि से आवृत झिल्ली के झंकारों से झंकारित और घोर अंधकार से भरे उस भयानक विपिन ने मेरे मन में भय नहीं, अपितु महान् आश्चर्य और आनंद पैदा कर दिया था। सुनियंत्रित मन एक बड़ी सेना से भी कहीं बढ़कर सभी दशाओं में मनुष्य की मदद करता है। वह पुरुष को कायरता तथा खतरों से बचाता है। ईश्वर के विचित्र तथा सुन्दर प्रकृति के दर्शन से उन्नत एवं सुरक्षित मेरा मन रंचमात्र भी चंचल नहीं हुआ था। पर्वत-शिखर की शीतल एवं रमणीय भूमि पर मैं देर तक बैठा रहा और समाधि-सुख का अनुभव करता रहा। वहाँ भालू आदि दुष्ट पशुओं का होना स्वाभाविक था, तो भी मुझे कोई दिखाई नहीं पड़ा।

दो बजे एक गाँव में पहुँच गया। उस गाँव के मुखिया ने, अपनी पत्नी को जल्दी खाना पकाने की आज्ञा दी। वे सब खा चुके थे, और लगभग एक घंटे के अन्दर खाना पकाकर मुझे खिलाया गया। इस प्रकार ग्रामीणों का आतिथ्य स्वीकार करते हुए तथा यात्रियों के आवागमन के न होने के कारण उस शून्य गंभीर वनांतरों में धीरे-धीरे सानंद चलते हुए तीसरे दिन मैं रोडु पहुँच गया। वहाँ एक वैष्णव महात्मा राजगुरु द्वारा निर्मित एक बड़े आश्रम में मैंने दो-एक दिन विश्राम किया। अब यहाँ से मुझे यमुना के तट की ओर जाना था। यमुना से थोड़ी दूरी पर भागीरथी स्थित है।

रोडु से निकलकर एक छोटी नदी के किनारे से चार मील जाने पर वहाँ एक एकांत और सुन्दर स्थान पर खुली कुटिया में रहनेवाले एक महात्मा दिखायी पड़े। मुझे देखते ही उन्होंने चिरकाल से परिचित आत्ममित्र के समान बड़े प्रेमभाव से मेरा स्वागत कर अपने पास एक व्याघ्र-चर्म पर बिठाया।

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

(भक्तिरसायन)

भगवान के गुणगणों के श्रवण के द्वारा द्रवावस्था को प्राप्त मन की सर्वेश्वर के साथ अभिन्नता को विद्वान लोग भक्ति कहते हैं। वैष्णव धर्म में ऐसी ही भक्ति पर विचार किया गया है और उसका अनुष्ठान किया गया है। नारद, शाण्डिल्य, रामानुज, मध्व, चैतन्य आदि ने भक्ति-तत्त्व पर खूब विचार किया था और उस का अनुष्ठान भी किया था। परंतु क्रमशः उसमें कई मलिनताएँ आ गयीं। आज उस धर्म में केवल छुआछूत का विचार, भक्ष्य और अभक्ष्य का विचार तथा अन्य धर्मों के प्रति विद्वेष ही शेष दिखायी पड़ते हैं।

इन महात्मा से मिलकर मुझे ऐसा लगा कि विशाल बुद्धि एवं भक्ति-भाव में संलग्न कुछ सज्जन आज भी वैष्णव धर्म में विद्यमान हैं। भक्ति तथा सेवा-बुद्धि में परस्पर-संबंध है; जहाँ भक्ति है वहाँ सेवा-बुद्धि भी अवश्य होती है। जो भक्ति के साथ ईश्वर की पूजा करते हैं, वे ईश्वर के रूप में सब की पूजा करते हैं। यह सेवा-बुद्धि भी इन महात्मा की एक विशेषता दिखायी पड़ी। उनके मजबूर करने के कारण मैं उनके साथ चार दिन उसी कुटिया में रहा। वे अपने हाथों खाना बनाकर प्रतिदिन प्रेमपूर्वक मुझे खिलाते थे। आसपास के ग्रामीणों के लिए वे आदर के पात्र थे। इसलिये खाने की चीजों

के लिए वहाँ कोई कमी नहीं थी। वे योग-क्रियाओं के अच्छे जानकार थे। शास्त्र-विषयों के पंडित न होने पर भी वे सामान्य रूप से कुछ विज्ञ थे। अंग्रेजी के भी कुछ शब्द जानते थे। बड़े ही नम्र-प्रकृति के थे। मैंने उनसे पूछा, "योग-क्रियाओं का कहाँ तक अध्ययन किया है? योग-क्रियाएँ क्या भक्ति को बढ़ाएंगी?" तो उन्होंने बस इतना ही उत्तर दिया कि "आप जैसे परमहंसों से कुछ भी कहने में मैं शक्त नहीं हूँ।" महात्माओं का कथन है कि अपने गुणों का गर्व सभी गर्वों से बढ़कर महान पाप है। उन गुणवान महात्मा में इतना अधिक विनय देखकर उनके प्रति मेरे मन में बड़ा आदर पैदा हुआ। सचमुच ऐसे सुपात्र महात्मा मुझे बहुत कम दिखायी दिये हैं।

वहाँ बीच-बीच में आनेवाले ग्रामीणों ने तथा इन महात्मा जी ने कुछ और दिन वहाँ रहने की प्रार्थना की। किन्तु मैं वहाँ से जाने को तैयार हो गया, और अगले दिन चल दिया। आठ मील दूर 'हाटकोटा' नामक एक प्रसिद्ध देवी-स्थान में रात को मैंने विश्राम किया। फिर वहाँ से बहुत ही एकान्त तथा जनशून्य विशाल वनांतरों से चौबीस मील यात्रा करके मैं 'अनोली' नामक गाँव में पहुँच गया। वहां भी नदी-तट पर रमणीय देव-मंदिर विराजमान है। वहाँ एक दिन रहकर विश्राम किया।

अनोली से आगे मुझे रीछ आदि दुष्ट जंतुओं से भरे, विशाल घोर वन से आच्छादित, पन्द्रह मील से अधिक लम्बे एक जन-शून्य पहाड़ को पार करना था। मैंने सुना रखा था कि उस वन में अकेले प्रवेश करना खतरे से खाली नहीं है, किन्तु और कोई मार्ग नहीं था। इसलिए मैंने अकेले ही सवेरे यात्रा शुरू की। उस अत्यन्त निगूढ़ प्रदेश से प्रतिदिन यात्रा कौन करता है? इसलिए सहायता के लिए किसी की प्रतीक्षा किये बिना मैं एकाकी होकर चलने लगा। कुछ दूर चलने पर रास्ता भूल गया तथा दो तीन मील एक मार्ग से आगे बढ़ा। किन्तु मार्ग के चिह्न मैं जानता था, इसलिए मुझे शंका हुई और खुद लौटकर मैं दूसरे रास्ते से चलने लगा। विचार-शक्ति एवं ईश्वर-कृपा को छोड़ उस वनांतर में विपत्ति से बचाने वाला मेरा और कौन था? इस प्रकार उस महागंभीर तथा घने अँधेरे से भरे वन में मनोहारी दृश्य-विलासों को देखते-देखते अपने को भूल कर अकेले ही काफ़ी दूर तक चलता गया कि वहीं मुझे तक्षकवृत्ति करनेवाले कुछ यात्री मिल गये। फिर कुछ दूर उनके साथ मैं चलता रहा और दो बजे के लगभग पर्वत के उस पार तराई पर जा पहुँचा। उस समय तक मैंने खाना नहीं खाया था। चूंकि खाने के समय तक अगले गाँव

में पहुँच जाने का विचार था , इसलिए खाने की कोई चीज़ साथ नहीं ली थी । अतः भूख से व्याकुल मैं जल्दी ही आगे बढ़ने के लिए उत्सुक था । इधर तक्षकवृत्ति के वे लोग खाना पकाने लगे । इसलिए मैं भी एक पेड़ के मूल पर बैठकर विश्राम करने लगा । तुरन्त ही उनमें से एक ने मेरे पास आकर यों प्रार्थना की, "बाबाजी, मैं नीच जाति का हूं । मेरी रोटी आप नहीं खा सकते । लीजिए, मैंने आटा, आग, लकड़ी आदि तैयार करके रखे हैं । जल्द ही दो-तीन रोटी बनाकर खा लीजिए । अधिक देर करने का समय नहीं है ।"

नीच जाति के, अशिक्षित तथा मलिन शरीर के उस मनुष्य का यह देव-दुर्लभ मनोभाव देखकर मैं बहुत खुश हुआ । संसार स्वार्थ में चल रहा है । परमार्थ-व्यापार संसार में है ही नहीं, है भी तो वह बड़ा ही दुर्लभ है । दुनिया की यही रीति है कि 'सभी चीज़ें मेरे लिए हों, दूसरों के लिए कुछ न हो ।' यदि किसी से प्रश्न करें कि 'यह सारा संसार नष्ट हो जाए और सारा संसार जीता रहे—इनमें से किस पक्ष को स्वीकार करता है ?' तो अगले ही क्षण उसका यही स्पष्ट उत्तर मिलेगा कि 'सारा संसार नष्ट हो जाए । संसार से मुझे क्या लेना ? किन्तु मुझे तो अवश्य जीवित रहना चाहिए ।' संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो उत्साह के साथ कह सकें कि यह सारा संसार मेरे नाश के कारण सुखपूर्वक जीता रहेगा तो मेरा अहोभाग्य ! लो लो, मैं अपना शरीर त्यागने के लिए तैयार हूँ । किन्तु देव-तुल्य मानव संसार में कितने हैं ?

मैं उस व्यक्ति के निःस्वार्थ प्रेम से विह्वल हो गया । मैंने उससे कच्ची सामग्री ली और दो-तीन रोटियाँ बना कर अपनी भूख मिटायी तथा पास ही बहता, देवराज के लिए भी दुर्लभ, विमल-मधुर जल पीकर प्यास बुझायी । उसके बाद वहाँ से चलकर थोड़ी ही दूर एक गांव में पहुँच गया । इस प्रदेश का नाम 'रामसरायी' है । इधर-उधर कुछ गांव हैं । यहाँ चारों ओर दूर-दूर तक चावल के विशाल खेत हैं । यहाँ से पूरब का हिमालय-प्रदेश 'टेहरी गढ़वाल' कहाता है ।

अगले दिन सवेरे से फिर चलने लगा । यहाँ छः मील की दूरी पर यमुना के दर्शन होते हैं । कुछ दूर चलकर विश्राम करने के वास्ते मार्ग के किनारे एक घर के सामने बैठ गया । एक व्यक्ति ने घर से बाहर आकर, मेरी ओर देखा । 'जय नारायण' के शब्द से प्रणाम किया । उन्होंने मुझसे कहा कि बाबा जी ! यहाँ खाना खाएं तो अभी बनवाये देता हूँ । यद्यपि खाना खाने की मेरी इच्छा नहीं थी, तथापि दस बज चुके थे, आगे का

गाँव कुछ दूरी पर था और वहाँ पहुँचने में थकावट महसूस होती थी, इसलिए मैंने जवाब दिया कि "भोजन करूंगा।" दूर के एक खाली मकान में एक पाचक ने विशेष पवित्रता के साथ खाना पकाया। नहा-धोकर पाकशाला के पास बैठकर मैंने खाना खाया। खाते समय प्रांसगिक रूप से पाचक ने मुझे बताया कि वह गृहस्थ एक पहाड़ी हिन्दू-स्त्री से शादी कर वहाँ रहने वाले एक मुसलमान हैं। वह स्वयं एक क्षत्रिय है और उनका नौकर है। भिन्न-धर्मी होने पर भी हिन्दू-साधुओं में उनकी भक्ति देख मुझे आश्चर्य हुआ। ऐसा कोई नियम नहीं है कि भक्ति, दया, उदारता आदि गुण एक जाति अथवा व्यक्ति में हो सकते हैं और दूसरी जाति या व्यक्ति में नहीं हो सकते।

खाने के बाद मैं आगे बढ़ा। लीजिए, महाभागा कालिन्दी जी बह रही हैं। चिर-विरहिता माता की ओर एक बालक के समान मैं बड़े अभिनिवेश के साथ यमुना के पास दौड़ता गया। जुलाई महीने की धूप पड़ रही है। महाभागा, पुण्यचरिता एवं वासुदेव-प्रिया जननी यमुना के चरणारविन्दों में मैंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उसकी गहराई लगभग एक ही फुट थी, चौड़ाई भी कम थी। इस प्रकार कृशगात्रा होकर इन्द्रनील के समान चट्टानों के बीच से धीरे-धीरे बहने वाली यमुना बालिका को देख मेरा मन आनन्द से नाचने लगा। इतना ही नहीं, उसके बारे में कई समुन्नत विचार भी मेरे मन में उठने लगे। वृन्दावन, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, प्रयाग आदि प्रदेशों के कालिंदी के तट सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। किन्तु यहां तो उसके दोनों तटों पर बैठने तक की कहीं जगह नहीं है। यहां से यह पाषण-समूहों को भेदती, मिट्टी के पहाड़ों को कुरेदती भयानक रूप में हिमालय से मैदानों की ओर जा रही है। कलिंदजा को देख मेरा मन एक अलौकिक उच्च भूमि की ओर उठा। मैंने श्रद्धा के आवेश में आकर इसका जल पेट भर पी लिया। इसके बाद एक वृक्ष की छाया में पत्थर पर जा बैठा। कुछ दूर पर गायें चराने वाले पहाड़ी लड़के यमुना के जल में विहार कर रहे थे। यमुना की सुन्दरता में प्रेम-निष्ठ होकर अन्य व्यापारों को भूल मैं देर तक वहाँ बैठा रहा। अहा! तपस्वी साधु भी सृष्टि-सुन्दरता में मोहित हो जाते हैं।

तीन बजे यमुना के किनारे से मैं फिर आगे चलने लगा। छः सात मील दूर 'बदु कोट्टा' नामक गाँव में जा पहुँचा। सरकारी अधिकारियों के एक निवास-स्थान में एक रात विश्राम करके अगले दिन तीन मील ऊपर यमुना-के किनारे के 'गंगाड़ी' नामक स्थान पर पहुँच गया। यह तथा इसके आगे के

स्थान मेरे लिए परिचित हैं। जम्नोत्री की यात्रा करनेवाले को यहाँ आकर वहीं से ऊपर की ओर जाना पड़ता है। यमुना की जन्मभूमि जम्नोत्री यहाँ से तीस मील ऊपर की ओर है। जम्नोत्री के हिमपर्वतों के मनोहारी दर्शन बदु-कोट्टा से लेकर शुरु हो जाते हैं। गंगाड़ी जमदग्नि का आश्रम-स्थान है। यहाँ तीर्थजल में स्नान करके अपने परिचित ब्राह्मण का पकाया भोजन करके उस दिन मैं वहीं यमुना के किनारे रहा।

दूसरे दिन सुवह को स्नान के बाद वहाँ से केवल अठारह मील की दूरी पर स्थित उत्तर-काशी की ओर रवाना हो गया। मार्ग में भागीरथी-तट पर एक परिचित महात्मा की कुटिया में दो-एक दिन रहा। उसके बाद सौम्य-निधि के निवास-स्थान सौम्य काशी में, सौम्य-कलाधर श्री विश्वनाथ की सन्निधि में असीम आनंद के साथ पहुँच गया। चातुर्मास-व्रत के आरंभ के दिन पूर्णिमा, अर्थात् आपाढ़-पूर्णिमा से तीन-चार दिन पहले मैं उत्तार-काशी में प्रविष्ट हुआ था।

इस प्रकार कुल्लु से लगभग एक सौ पचानवे मील दूर उत्तारकाशी में पहुँचने में मुझे पच्चीस दिन लगे। पश्चिम हिमालय का पर्यटन इस प्रकार पूरा करके मैंने बड़ी कृतार्थता के साथ ऋषियों से सेवित उत्तरकाशी में विधिपूर्वक चातुर्मास्य शुरू किया। इतना भी यहाँ लिखे देता हूं कि प्रस्तुत चातुर्मास्य के समय ही मैंने वहाँ श्री सौम्य-काशीश-स्तोत्र की रचना की थी और उसे काशीश को समर्पित किया था—

गिरिराजसुतापुण्यपरिपाकोऽस्तु मे गतिः।
सुरवृन्दवृते यस्य मन्दिरे सुन्दरे स्थितिः॥

१२. पशुपतिनाथ

: १ :

स्वामीजी और मेरे बीच जो चर्चा हुई उसे प्रस्तुत करने से पूर्व मैं पहले कुछ वेदान्त-विषयक चर्चा करना चाहता हूँ—

उत्तिष्ठ ! जाग्रत !
प्राप्य चिरान्निबोधत !"

'अनादिकाल से अज्ञान-निद्रा में डूबे हुए हे मानव ! उठो ! मायानिद्रा से जागो ! प्रकृष्ट गुरुओं को प्राप्त कर आत्म-तत्त्वों को अपरोक्ष रूप से जान लो !'

अज्ञान निद्रा सभी अनर्थों का बीज है, अति भयानक है, इससे जाग उठो ! श्रुति प्यारी जननी के समान अति सहानुभूति के साथ अज्ञान को बिलकुल दूर कर देने का उपदेश देती है। श्रुति यह भी उपदेश देती है कि अविद्या को दूर करने की एकमात्र वस्तु आत्मविद्या है। सांसारिक अज्ञान को नष्टकर मुक्ति पद में प्रविष्ट होने के लिए वस्तुतः ज्ञान के सिवा और कोई उपाय नहीं है। मोक्ष के महल में घुसने के लिए ज्ञान-द्वार को छोड़कर और कोई द्वार नहीं होता। भक्ति, योग आदि आध्यात्मिक मार्ग एक मनुष्य को ज्ञान द्वार की ओर ले जाते हैं, न कि मोक्ष के महल में। ज्ञान-सूर्य के उदय से ही अज्ञान का अंधकार हटता है, भक्ति आदि नक्षत्रों के उदय से नहीं।

•

श्वेताश्वतर श्रुति भी इस प्रकार उपदेश देती है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

यदि मनुष्य आसमान को चमड़े की तरह लपेट सकता है तो ईश्वर के जाने बिना, अर्थात् परमात्मज्ञान के बिना संसार-दुख को भी वह पार कर सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश को लपेट सकना असम्भव है उसी प्रकार ज्ञान-प्लव के बिना संसार-सागर को पार करना असम्भव है।

तब यह ज्ञान क्या है? अपने रूप का दृढ़ निर्णय ही तो ज्ञान है। किञ्चित् शंका या विपर्यय से हीन निर्णय ही दृढ़-निर्णय है। प्राणनिरोध, मनोनिरोध, निष्काम कर्मकुशलता, देवों में प्रेम-प्रवाह, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपश्चर्या, तीर्थाटन—ये सब ज्ञान नहीं हैं; ये सब अज्ञान हैं। अहं की भावना से युक्त सब अज्ञान हैं। जिस में अहं की भावना अस्त होती है वह ज्ञान है।

पर ज्ञान कैसे पैदा होता है? 'मैं धनी हूँ, मैं सुखी हूँ,' 'मैं गरीब हूँ, मैं दुःखी हूँ,' इस प्रकार की भावनाओं से भरे सांसारिक जीवन के साथ भला हम किस प्रकार "मैं ब्रह्म हूँ, 'मैं अशरीरी हूँ, मैं जरा-मरण से हीन आनन्द-स्वरूप हूँ,' इस दृढ़-निष्ठा से भरे आत्मीय जीवन को बिता सकते हैं? ब्रह्मनिष्ठ सज्जनों की सहायता से जो तत्त्व-विचार किये जाते हैं, वही ज्ञानोदय का मुख्य साधन हैं। सभी पूर्वाचार्यों का यही एक मत है कि सब कर्मों का त्यागरूप सन्यास ही तत्त्व-विचार का अंग है। फिर भी, इसमें पक्षान्तर नहीं है कि वैराग्य, शम, दम, मुमुक्षुत्व आदि गुण तथा निर्विक्षेप देश-काल—तत्त्व-विचार के अनिवार्य साधन हैं। इनके सिवा मन प्रसन्न एवं एकाग्र होकर तत्त्व के अनुसंधान के लिए समर्थ नहीं होता। इस प्रकार यदि साधन-संपत्तियों के साथ श्रद्धापूर्वक तत्त्व-विचार के लिए तैयार होकर काम करेंगे तो इसमें संदेह नहीं कि ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो जाएगी। जब तक विचार-जन्य एवं अज्ञान-नाशक इस ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति नहीं होती, तब तक एक मनुष्य स्थितप्रज्ञ अथवा कृतकृत्य कहलाने लायक नहीं होता।

इस दुःखात्मक संसार की अर्थात् सांसारिक आशाओं की निवृत्ति तथा उसके द्वारा प्राप्त नित्य निरतिशय ब्रह्मसुख अर्थात् आत्मशान्ति का अनुभव ज्ञाननिष्ठ का फल है। एक ज्ञानी मृत्यु के बाद नहीं, इसी शरीर में ही, ब्रह्म का अनवरत आस्वादन करके आमोदित होता है। यद्यपि ब्रह्मानन्द की कोई

हो जाता है। तथा उस सात्त्विक मन में ब्रह्मानंद झलक उठता है। विषय-भोग के द्वारा विषयानंद कहलानेवाला भी ब्रह्मानंद ही है।

व्यास आदि का सिद्धांत है कि ब्रह्मानंद को छोड़कर और कोई आनंद किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। जैसे घट, मठ आदि उपाधियों के भेद से एक ही आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि भिन्न-भिन्न व्यवहार किये जाते हैं, वैसे ही शब्द, स्पर्श आदि विषयों के भेद के कारण एक ही आनन्द के भिन्न-भिन्न व्यवहार किये जाते हैं। परिणामतः अपरिच्छिन्न, अनतिशय एवं अविनाशी ब्रह्मानन्द को विषय—परिच्छिन्न, सातिशय और विनाशी—बना दिया जाता है। अखंड ब्रह्मानंद को निरातंक रूप से भोगकर नित्य तृप्त रहने वाले महात्मा जन क्षणिक विषय-सुखों की इच्छा कैसे करते हैं? ब्रह्मसुख विषय-संबंध से शून्य है। अतः स्वस्वरूप के अवस्थान को छोड़कर वह और किसी विषय की अपेक्षा नहीं करता। इसलिए विषय-सुख के समान विषयार्जन आदि कष्टों से वह जरा भी कलुषित नहीं होता। यदि किसी का यह तर्क है कि विषयभोग के बिना सुख की उत्पत्ति नहीं होती तो हमें केवल इतना ही कहना है कि वे उन उलूकों के समान हैं जो रात के सिवा दिन में जरा भी प्रकाश के न होने का तर्क करते हैं।

ऐसी नित्य-शान्ति की साधक ज्ञान-निष्ठा तो वैराग्यपूर्ण ज्ञान-विचार से ही सिद्ध होती है, न कि केवल ध्यान-समाधियों से। कुछ लोगों की यह धारणा ग़लत है कि ध्यान-समाधियाँ ही ज्ञान-रूप हैं। इनका भ्रम है कि ध्यान ही परम-पुरुषार्थ है। जो लोग यह कहते हैं वे भूल करते हैं कि प्रति-दिन एक-आध घंटा ध्यान कर लेने मात्र से सभी आध्यात्मिक कर्मों के करने से छुट्टी मिल जाती है, या सभी आध्यात्मिक कर्मों की इति हो जाती है, और फिर सांसारिक कार्यों में कुछ भी किया जाए तो कोई हर्ज नहीं है। इन लोगों का यह विश्वास भी भ्रममूलक है कि 'बस दो-एक मिनट तक मौन स्थिति से निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो जाती है, और फिर जन्म में और कुछ भी करने को और प्राप्त करने को शेष नहीं रहता। निर्विकल्प-समाधि करनेवाले की जीवन-मुक्ति की महिमा पर प्रकाश तो तभी पड़ता है जब यह जाँचा जाता है कि उसमें अचंचल आत्मनिष्ठा है या नहीं? यहाँ संक्षेप में इतना ही कहे देता हूँ कि ऐसे अभागे लोग ज्ञान, ध्यान आदि के हेतु, स्वरूप एवं फलों को सत्संगति के द्वारा समझने में नितान्त असमर्थ हैं।

ध्यान-समाधियाँ निस्सन्देह ज्ञान-परिपाक के लिए सहकारी कारण मानी जा सकती हैं, किन्तु ये ज्ञानरूप या साक्षात् ज्ञान का कारण नहीं हैं। वेदांत-प्रसिद्ध ब्रह्माभ्यास के बिना, केवल हठ-समाधि अथवा जड़-समाधि के द्वारा आत्मदर्शन रूप ज्ञाननिष्ठा और उसके फलस्वरूप नित्य संतृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

०

इस सम्पूर्ण शास्त्रचर्चा को विभिन्न तर्कों द्वारा सिद्ध न करके अब मैं उस संवाद को प्रस्तुत करता हूँ जो मेरे और स्वामीजी के बीच हुआ जो हिमालय के एक सुन्दर वनखण्ड में रहा करते थे। उनका जीवन क्रियात्मक था। अत: उनके वचन शास्त्रीय सिद्धान्तों को अधिक सम्पुष्ट करते हैं—

मैं—स्वामीजी ! आपने कभी दीर्घकाल तक समाधि करने में समर्थ किसी योगी को देखा है या ऐसा सुना है ?

स्वामीजी—आजकल हठयोगी और राजयोगी बहुत कम हैं। लेकिन कुछ समय पहले उत्तर देश में ऐसे कई थे। उनमें से एक को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वे एक साधु थे। प्राण-स्पंदन या मन-स्पंदन के बिना योगावस्था में वे आसानी से पाँच-छ: घंटे एक साथ बैठे रह सकते थे।

मैं—अहो धन्य ! बेशक वे बड़े ही सुकृती हैं।

स्वामीजी—उनका पूरा चरित्र जान लेने से पहले प्रशंसा नहीं करनी चाहिए कि वे धन्य हैं। सचमुच वे बड़े अधन्य थे।

मैं—वह कैसे ?

स्वामीजी—दीर्घकाल के अभ्यास के द्वारा तात्कालिक रूप से प्राण-निरोध और चित्त-निरोध तो वे कर सकते थे, किंतु मानसिक शांति या संतृप्ति तथा उससे जन्य आत्मविचार या आत्मज्ञान उनमें नहीं था।

मैं—क्या इतने एक महान् योगी में आत्म-विचार की रुचि और योग्यता नहीं थी ?

स्वामीजी—उनमें आत्मविचार की रुचि कैसे हो सकती है ? उनमें जरा भी वैराग्य या मुमुक्षुत्व नहीं दिखायी देता था। धन आदि में उन्हें बड़ी आसक्ति थी। कभी-कभी अमीरों के पास जाकर वह पाषाण-मूर्त्ति के समान निश्चेष्ट बैठे रहने की अपनी विद्या दिखाते थे और उनसे प्रतिफल के रूप में पैसा तथा अपने सकुशल होने का प्रशंसा-पत्र लिया करते थे। उस समय के सभी विरक्त विद्वान उनकी चेष्टाएँ देखकर खेद प्रकट किया करते थे।

× × ×

सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि एक सन्यासी का प्रमुख धर्म है कि आध्यात्मिक निष्ठा का निरन्तर अभ्यास करे, इसी से मोक्ष-प्राप्ति होती है। महात्माओं तथा शास्त्रों से इस सत्यता को जानकार मैं हृषीकेश के जंगलों में रहा करता था। घर-बार छोड़कर सन्यासी बने अभी मुझे दो साल हुए थे। एक दिन हृषीकेश में अपने पूर्व-परिचित श्री स्वामी शान्त्यानन्द सरस्वती से मेरी अचानक भेंट हुई। वह द्वारका के शारदा-मठ के शंकराचार्य थे, और उन दिनों सन्यासियों के एक आश्रम के उत्सव में भाग लेने के लिये वहाँ पधारे हुए थे। दक्षिण भारतीय होने के कारण उनका मेरे प्रति स्नेह था। इसलिए जब उन्होंने मुझे गेरुआ कपड़ा पहने, भिक्षान्न-भक्षी रूप में निर्वाह करते तथा एकाकी एकान्तवासी तपस्वी के रूप में जीवन बिताते देखा तो वे बहुत दुःखी हुए और उनकी आँखें डबडबा आयीं। लोक की दृष्टि में कठिन एवं दुःखपूर्ण यति-जीवन में अपने एक प्यारे शरीर को तपते देखकर किस का मन धैर्य छोड़कन सहानुभूति किये बिना रह सकता है? प्रेम-भावना के अतिरेक के कारण अनजाने में ही उनका चित्त विषण्ण हो उठा।

किन्तु वे शीघ्र ही सम्भल गये और तुष्ट मन से मेरा कुशल-समाचार पूछने लगे। फिर उन्होंने सन्यास-ग्रहण के बारे में मुक्तकंठ से मेरी प्रशंसा की और मुझे बधाइयाँ दीं। इस प्रकार दो-तीन दिन नित्य वार्तालाप एवं सत्संग होता रहा। एक दिन प्रसंगवश मैंने उन्हें बताया कि मैं शिवरात्रि-महोत्सव के दर्शन के लिए नैपाल की राजधानी काठमांडु में स्थित पशुपतिनाथ नामक पुण्यधाम की ओर यात्रा करना चाहता हूँ। तभी स्वामीजी ने मुझे बताया कि अब तक मैंने भी पशुपतिनाथ के दर्शन नहीं किये हैं। मैं भी सपरिवार पशु-पतिनाथ की यात्रा करना चाहता हूँ और उसके लिए सभी प्रबंध कर साथ-साथ चलेंगे।

१९२५ के फरवरी महीने के आरम्भ में मित्रों और वृद्ध संन्यासियों की अनुज्ञा एवं आशीर्वाद लेकर पशुपतिनाथ नामक विख्यात देवस्थान के लक्ष्य में एक शुभ दिन हृषीकेश से उत्साहपूर्वक मैंने पैदल यात्रा आरम्भ की। हरिद्वार में आकर मैं उन शंकराचार्यजी से आ मिला और उनके साथ रेल की यात्रा शुरु की। किन्तु उस समय पुण्यसलिला गंगा को छोड़ते समय मेरा जी भर आया। कुछ लोग निराकार [भगवान्] की उपासना करते हैं और कुछ लोग साकार की, किन्तु हम संसारतप्त सन्यासी तो उस नीराकार—जलमयी [गंगानदी] की उपासना करते हैं—

निराकार मुपासन्ते साकारमपि चापरे।
वयं संसारसंतप्ता नीराकारमुपास्महे ॥

हरिद्वार में शीतल जल-स्वरूप में विराजनेवाली साक्षात् परमेश्वरी गंगा महारानी का सेवन करते हुए वेदांत-विचार, भजन एवं ध्यान में रमते हुए मेरे दिन अति आनन्द में बीतते थे। इस पवित्र तीर्थ को, गंगा-तट को छोड़ने को मेरा जी नहीं मानता था। किन्तु अन्तत: जीत पर्वत-पर्यटन-लालसा की हुई, और मैं स्वामीजी के साथ चल दिया। किन्तु हमने अभी थोड़ी दूर ही यात्रा की थी कि मुझे उनसे विमुक्त होना पड़ा। यह ठीक है कि संयोग वियोगान्त ही होता है, किन्तु जो वियोग अचानक हो जाए वह बहुत निराशाजनक होता है।

बात यह है कि व्यवहार-बहुलता एक सन्यासी को भी गृहस्थी के समान परतंत्र बना देती है। व्यवहारमय जीवन में स्वातंत्र्य की गंध भी कैसे मिल सकती है? लोग यह सोचकर कि धन, स्थान मान, वैभव आदि में स्वातंत्र्य एवं सुख है, वे इन्हीं की प्राप्ति में अपना बहुमूल्य जीवन बलिदान कर देते हैं। पुष्पमाला के भ्रम में विषधर महाफणी को भी अपने हाथों से उठाकर खुशी से गले में धारण कर लेते हैं। मैंने बहुत पहले स्वामी शान्त्यानंद सरस्वती को एक साधारण भिक्षुक के रूप में देखा था। फिर स्वेच्छा से या अनिच्छा से वे श्री शंकराचार्य पीठ की ओर उठाये गये। स्थान, मान, सम्पत्ति आदि ने स्वामीजी को अपना दास बना लिया। दास के लिए स्वतंत्रता कहाँ? उन्हें किसी अन्य कार्यवश बीच में ही किसी अन्य स्थान पर आने का निमन्त्रण मिला और उन्हें नैपाल-यात्रा स्थगित करनी पड़ी। जिस रेलवे-स्टेशन से हम जुदा हुए वहीं उन्होंने मुझे प्रेमपूर्वक बताया था कि नैपाल की यात्रा केवल भिक्षावृत्ति से करना मुश्किल है। अत: मार्ग-व्यय के लिए मुझसे निस्संकोच कुछ पैसे लेकर अपने पास रख लें। किन्तु कुछ भी पैसे आदि ग्रहण किये बिना निश्चिन्त रूप से मैं रेलगाड़ी में यात्रा करता रहा।

रास्ते में मैंने लखनऊ और गोरखपुर इन दोनों नगरों में उतर कर दो-तीन दिन विश्राम किया। फिर यात्रा कर ब्रिटिश देश की उत्तरी सीमा में स्थित 'रक्सौल' नामक अन्तिम रेलवे-स्टेशन पर जा उतरा। वहाँ से दो मील दूरी पर नैपाल देश की दक्षिणी सीमा पर स्थित 'वीरगंच' नामक छोटे नगर पर पहुँच गया। काठमांडु की पहाड़ी यात्रा यहीं से शुरू होती है।

यद्यपि वीरगंच से काठमांडु की ओर सिर्फ़ साठ मील की ही दूरी है, तथापि मार्ग की कठिनता से आवश्यक तैयारियाँ और प्रबंध करके ही लोग

यात्रा आरंभ करते हैं। ईश्वर से प्रेरित होकर एक भक्त ब्राह्मण ने रास्ते में खाने के लिए कुछ पकवान बनाकर मुझे प्रेम और श्रद्धा के साथ ला दिये, जिन्हें मैंने सहर्ष स्वीकार किया। केवल इसी प्रबंध के साथ मैं अकेले, किन्तु कई हजार लोगों के बीच, काठमांडु की ओर चल पड़ा। नैपाल देश में जानेवाले अन्य देशवासियों को बीरगंच के एक राज-कर्मचारी से सम्मति-पत्र लेना होता था। यह पत्र भी उस भक्त ने मुझे ला दिया था।

पशुपतिनाथ का शिवरात्रि-महोत्सव अति प्रसिद्ध है। उसमें भाग लेने के लिए अनगिनत साधु एवं गृहस्थ नर-नारी बड़ी कुतूहलता के साथ उस ओर पैदल यात्रा करते हैं। उनके साथ मैं भी विशाल और सुन्दर रास्ते पर उत्तर की ओर चल पड़ा। हमें पहले हाथी, भालू, गैंडा, बाघ आदि वन्य पशुओं से भरे भयानक वन को पार करना था। दक्षिणोत्तर में पन्द्रह मील से भी अधिक चौड़ाई में विशाल रूप में फैला हुआ यह 'तराई' वन हिमालय का पहला विभाग है। यह वन अपनी निविड़ता, रमणीयता एवं भयानकता की दृष्टि से सर्वत्र विख्यात है। मार्ग में, जहाँ हजारों लोग चल रहे हों वहाँ हिंस्र जंतुओं का क्या डर ? ज़रा भी डर के बिना उस अलौकिक वन-शोभा का अतृप्ति के साथ उपभोग करते हुए मैं धीरे-धीरे आगे की ओर चलता गया।

तराई वन को पार करने पर यह निविड़ वन समाप्त हो जाता है और छोटी-छोटी पहाड़ियाँ शुरू हो जाती हैं। रातभर विश्राम और दिनभर पैदल चल करके यात्री यह कठिन मार्ग पार करते जाते हैं। प्रमाणिपूर, भीम-भेदी नामक स्थानों को पार करने के बाद--बीरगंच से बयालीस मील की दूरी पर—ढाई हज़ार और दो हज़ार फुट ऊँचे 'सीसागढ़ी' तथा 'चन्द्रगिरि' नामक दो पहाड़ आ जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि बादलों से हीन निर्मल प्रभात-वेला में इन पहाड़ों की चोटियों से लगभग दो सौ मील की दूरी पर वर्तमान हिमालय का सर्वोच्च शिखर 'गौरीशंकर' तथा दूसरे कई ऊँचे शिखर दिखायी देते हैं। बड़ी कठिनाई से चन्द्रगिरि को पार कर फिर विशाल और मनोहारी मार्ग पर छः मील आगे बढ़ें तो वहाँ नैपाल की राजधानी काठमांडु आ जाती है।

कहा जाता है नैपाल 'नयपाल' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। नय महर्षि से पाले जाने के कारण पुरातनकाल में यह देश 'नयपाल' कहलाता था। नैपाल की यह पर्वतभूमि पूरब-पश्चिम में चार सौ पचास मील और दक्षिण-उत्तर में डेढ़ सौ मील तक फैली हुई है। इसके बीच बीस मील लंबी तथा पन्द्रह मील

चौड़ी एक विशाल समतल भूमि पर काठमांडु नामक राजधानी विराजमान है। कहा जाता है कि यह मैदान पुराने ज़माने में 'नागवास' नाम का एक विशाल तड़ाग था। काठमांडु को काष्ठमंडप का अपभ्रष्ट माना जाता है। यह नगर समुद्र की सतह से साढ़े चार हज़ार फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह दो मील लंबा और इतना ही चौड़ा है। यद्यपि यह नगर पहाड़ पर बसा हुआ है, किन्तु मैदानी नगरों के ही समान यह समस्त सभ्यता-विलासों के साथ शोभायमान और चमत्कारोत्पादक है।

फरवरी की २० तारीख़ को मैं सकुशल काठमांडु नगर में प्रविष्ट हुआ और नगर के एक ओर 'वागमती' नामक तीर्थनदी के किनारे 'ताप्पात्तली' नामक सुन्दर स्थान में स्थित एक सन्यासी-मठ में रहने लगा। दूसरे दिन शिवरात्रि का महोत्सव था। प्रभात के स्नानादि-कर्म करने के बाद, नगर से तीन मील पूरब की ओर उक्त पुण्य नदी के पवित्र तट पर विराजमान पशुपतिनाथ मंदिर की ओर मैं सामोद चल पड़ा।

अहा! अपूर्व एवं अद्भुत दर्शन है! हज़ारों नर-नारियों के, विभिन्न वेषधारी साधु-महात्माओं के, एकत्रित होने का पुनीत एवं रमणीय अवसर! श्रद्धा और भक्ति के साथ जयध्वनि करते हुए उल्लास के साथ नृत्य करने का दिव्य अवसर! धनी-निर्धन, पंडित-पामर, साधु-गृहस्थ, स्त्री-पुरुष आदि छोटे-बड़े भावों के मिट जाने पर, एकमात्र ईश्वरीय भाव के विलास का अलौकिक अवसर! अनेकानेक साधु-महात्माओं के दर्शन से मेरा मन आनन्द से प्रफुल्लित हो गया।

बौद्ध-धर्म का एक ग्रंथ कहता है कि जैसे एक मोर एक हंस की गति नहीं पा सकता, वैसे एक व्यवहारी गृहस्थ भी वनांतर में ध्यान-निष्ठा में विराजमान एक भिक्षु का महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता। हिन्दू-धर्म के ग्रंथों का कहना है कि एक द्वितीयाश्रमी, चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, एक साधारण भी चतुर्थाश्रमी की समानता नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि गृहस्थ-जीवन का मूलधन है—इहलोक की चिन्ता, धोखा एवं हिंसा। इसलिए वह अपवित्र है। किन्तु इसके विपरीत एक साधु परलोक की चिन्ता, एवं अहिंसा को ही मूलधन मानकर जीवन व्यतीत करता है। अतः उसका जीवन पवित्र है। साधुओं के बारे में आज के लोगों की राय कुछ भी हो, किन्तु पूर्वजों से वे इसी प्रकार प्रकीर्तित हैं।

इन साधुओं को इस तरह समूह बनाकर हिमगिरि के बीच देखकर मैं

अत्यंत कृतार्थ हुआ। भीड़-भाड़ में किसी प्रकार मैं भी मंदिर के अन्दर घुसा। वहां मैंने पंचमुख होकर विराजमान पशुपतिनाथ के दर्शन किये। भक्ति से मन मदोन्मत्त हुआ, नेत्र अश्रुपूर्ण हुए और शरीर पुलकित हुआ। लोगों की उस भीड़ में वहां अधिक देर तक दर्शन कर सकना सम्भव न था। अतः मैं मन्दिर से बाहर आने लगा, किन्तु मेरे नेत्र बार-बार मुड़ मुड़ कर भगवान के दर्शन करते जाते थे। मैं बाहर आया और मन्दिर की परिक्रमा करने लगा।

यह मन्दिर नैपाल के राजाओं की धन-संपत्ति से बनाया गया है। पशुपतिनाथ उनका कुल-देवता है, इसके पादारविंदों में उनकी भक्ति अटूट है। इस मन्दिर के निर्माण में मिट्टी और लकड़ी के साथ-साथ सोना और चाँदी का भी उन्मुक्त रूप से इस्तेमाल किया गया है। इस मन्दिर की तुलना चिदंबर के नटराज-मन्दिर तथा अमृतसर के सुवर्ण-मन्दिर से की जा सकती है। मन्दिर की परिक्रमा से निवृत्त होकर मैं पास के कई देवों के दर्शन करता रहा। इस प्रकार मैंने देव-दर्शन, साधु-दर्शन तथा इधर-उधर होने वाले संकीर्तनों के श्रवण आदि पुण्य-क्रियाओं में कई दिन बिता दिये, और इस प्रकार दिव्य-ईश्वरीय भावों के द्वारा भाव-समाधि में मग्न रहा। इसी प्रकार अन्य सभी लोगों में भी मुझे गहरा ईश्वरीय भाव स्पष्ट दिखायी पड़ा।

× × ×

अहह ! हम अपने पूर्वजों को कितना धन्यवाद दें। इन देवमूर्तियों की स्थापना द्वारा उन्होंने संसार का बड़ा उपकार किया है। यह अनुभव सिद्ध ही है कि साधारण जनता का मन भक्ति भाव की ओर खींच लेने में ऐसी देव-मूर्तियां एवं देवोत्सव सफल साधन हैं। वे बुद्धिहीन हैं जो मिट्टी-पत्थर में ईश्वर की उपासना का निषेध करते हैं। जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करनेवाले अन्तर्यामी परमात्मा से लेकर एक पेड़, एक पौदा या एक पत्थर तक में भगवान की उपासना की जा सकती है, और भक्त की भावना के अनुसार भगवान उसका फल देते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्वसाक्षी है। ईश्वर-हीन कोई वस्तु इस संसार में नहीं है। तो फिर, सभी वस्तुओं में ईश्वर की उपासना करने में क्या आपत्ति हो सकती है। शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, काली, लक्ष्मी—सब में एक ही ईश्वर-तत्त्व है। संसार के नाना प्रकार के पदार्थों में एक ही ईश्वर-तत्त्व है। बहुत ईश्वरों की कल्पना करना भूल है। विष्णु सहस्रनाम से प्रकीर्तित होते हैं, फिर भी विष्णु एक है, सहस्र नहीं हैं। नाम-रूप के भेद से ईश्वर का भेद नहीं हो सकता। भक्त लोग भजन की सुविधा के लिए शिवत्व,

विष्णुत्व आदि उपाधियाँ ग्रहण करके उनमें 'एकामेवाऽद्वितीयम्' रूपी उस परम-तत्त्व का भजन करते हैं। हिन्दू-धर्मियों के समान इतर धर्मी भी कुछ उपाधियों की कल्पना करके उनके द्वारा उसी परमात्मा की उपासना करते हैं। यदि हिन्दू लोग कैलाश एवं वैकुंठ तथा वहाँ चन्द्रशेखर एवं चतुर्भुज की कल्पना कर भजन करते हैं तो इतर धर्मी भी अपनी संस्कृति और विश्वास के अनुसार कई लोकों तथा रूपों की कल्पना करें, तो इसमें क्या एतराज़ हो सकता है किसी भी नाम-रूप में, पत्थर-मिट्टी या पेड़-पौधे में, इच्छानुसार उस परमात्मा की भक्तिपूर्वक उपासना की जा सकती है। यदि भगवान अंतर्यामी एवं सर्व-शक्तिमान है तो यह सिद्ध है कि भजन के अनुसार वह सब को फल भी प्रदान करेगा।

: २ :

तिब्बत के एक लामा ने आवेश तथा गर्व के साथ मुझसे एक बार कहा था, "हमारे आश्रम में कोई स्त्री आ जाए तो हम तलवार से उसका गला काट डालेंगे।" यद्यपि यह उनकी गर्वोक्ति अतिशयोक्ति ही थी, इसमें कोई सत्यता नहीं थी, तथापि इससे यह तो अनुमान होता है कि वह चित्त का मंथन करने वाले विषयों से बिलकुल असंबद्ध रहने के अभिलाषी थे। आजकल के लोग प्रमदाओं से कई प्रकार का संबंध बनाये रखने पर भी अपने-आप को अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले मानते हैं। किन्तु पुरातनकाल में इन दम्भी लोगों की तुलना में इतने सिद्ध और जितेन्द्रिय नहीं थे। पुराने ऋषि अहो! बेचारे! कायर! निर्बल मन के! इन्द्रियों के दास! अंध-विश्वासी! ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने के लिए विषयों से दूर एकांत स्थानों की शरण लेते थे। बौद्ध लामा आज भी वैसे ही एकांत स्थानों को पसन्द करते हैं। उनको यह विश्वास नहीं होता कि विषय-संबंध के साथ भी शुद्ध तपश्चर्या का अनुष्ठान हो सकता है। काठमांडु में ऐसे अनेक बौद्ध लामा रहते है।

काठमांडु नगर से बाहर पश्चिम की ओर 'स्वयंभूनाथ' है। एक दिन शाम को काठमांडु के कुछ भक्त जनों के साथ मैं दर्शनार्थ वहाँ गया था। एक छोटी पहाड़ी पर बने उस शांत एवं एकांत आश्रम ने मेरा मन बहुत ही आकृष्ट किया। वहाँ कई सुन्दर मन्दिर भी थे। इन मन्दिरों में पंच-पांडव आदि की

मनोहर मूर्त्तियों भी हैं, जिनकी पूजा की जाती है। मुख्य मंदिर में अखंड दीप जलता रहता है। मंदिर के अध्यक्ष मुख्य लामा आदि से मिलकर हमने बात-चीत की। यह मन्दिर आखिरी बुद्ध —गौतम बुद्ध— के पहले से ही बनाया गया बताया जाता है। तिब्बत आदि देशों से कई यात्री प्रतिवर्ष बड़ी श्रद्धा के साथ यहाँ की यात्रा करते हैं। वहाँ के कुछ लोगों ने मुझे बताया कि उसी साल जिस साल मैं वहाँ गया था चीन देश से एक महातपस्वी लामा ने इस पवित्र धाम की ओर कठिन 'प्रणतियात्रा' करके लोगों को चकित कर दिया था। साधारण लोग जिन ऊँचे हिमपर्वतों को पैरों चल कर भी पार करने में असमर्थ हैं, ऐसे स्थानों दण्ड-प्रणाम करते-करते कई महीनों अथवा कई वर्षों में पार करने की यह भयानक तपस्या किसके मन को आश्चर्य, भय और भक्ति से चकित नहीं कर देगी ?

स्वयंभूनाथ नामक उस उन्नत स्थान से राजनगरी उधर सामने दीखती है। इस स्थान के आसपास चावल के विशाल खेत हैं। दूर-दूर तक कुछ गाँव हैं। एक ओर उधर एक विशाल, निम्नोन्नत वृत्ताकार मैदान है, तथा उत्तर-दिशा में दूर पर शोभित धवल हिमशिखर-मालाएँ हैं। इन सबके दिव्य दर्शन ने मेरे मन को कितनी ही उच्च आनंदभूमि की ओर उठा दिया। मैं वहाँ देर तक बैठा-बैठा उस दिव्य सुषमा-सुधा का पान करता रहा। नगर के पास के विशाल खेतों के बीचों बीच चलते जाने पर हमें केरल-भूमि की याद आती रही।

ईस्वी पूर्व ४५० में स्वयं बुद्ध भगवान ने यहां की यात्रा करके ब्राह्मण आदि वर्ण वालों को अपने धर्म में मिलाकर बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार किया था। फिर ई० पू० २४९ में बौद्ध-धर्म के प्रचारक सम्राट् अशोक ने भी यहाँ की यात्रा कर कई विहार आदि का निर्माण करके उस धर्म को अधिक पुष्ट किया। नैपाल में इन सबके कई खंडहर जहाँ-तहाँ स्पष्ट दिखायी देते हैं और इस प्रकार इतिहास को पुनरावृत्त कर देते हैं।

काठमांडु नगर के पास 'पत्तानम' और 'भात्तुगाम' नामक दो छोटे नगरों के देवालयों के दर्शन के लिए मैंने एक दिन वहाँ की यात्रा की। बौद्धों के ढंग पर बने कई देवमंदिर एवं बुद्ध-मूर्त्तियाँ वहां दीख पड़ीं। बौद्ध प्रणाली में उस समय की शिल्प-कला की कुशलता भी अजीब दिखायी देती है। आज भी इन नगरों में हिन्दू बने बौद्ध एवं सच्चे बौद्ध धर्मी अधिक संख्या में रहते हैं।

कहा जाता है कि यहाँ कई संन्यासियों के मठ भी हैं। किन्तु इन मठों में आजकल सच्ची सन्यास-वृत्ति के संन्यासी नहीं, 'गोसाईं' कहलानेवाले एक प्रकार के गृहस्थाश्रमी साधु ही रहते हैं। संन्यासियों का वेष धारण कर संन्यासी धर्म का अचंचलता के साथ पालन करना साधारण जनता के लिए आसान नहीं है। इसके लिए यह वर्ग स्पष्ट उदाहरण है। अहो ! महामाया का मोहन-सामर्थ्य प्रबल है। वह ऐसे लोगों को भी जो विवेक पर चलना चाहते हैं कुत्सित मोहमार्ग की ओर खींच कर पतित कर देता है। सचमुच महामाया की शक्ति दुर्दमनीय है।

काठमांडु नगर के बीच एक सरोवर है। वह सदा लाल कमलों से परिपूर्ण रहता है। छोटा होने पर अति सुन्दर तथा मनोहारी है। इसीलिए मैं प्रायः शाम को उस ओर चला जाता था और उस सरोदेवी की उपासना कर आनंद लिया करता था। सर के बीच एक छोटा देवालय भी है। इसी सरोवर के किनारे एक विशाल मैदान में सैकड़ों गुरखा सिपाही कंधे पर बन्दूक रखे तथा कतार में खड़े लड़ाई का अभ्यास करते रहते थे। वीर रस पैदा करने वाला वह दृश्य भी कभी-कभी मुझे अपनी ओर आकृष्ट करता था। सचमुच वह स्थान प्राकृतिक एवं बनावटी दोनों प्रकार की सुन्दरताओं का संगम था।

शिवरात्रि-महोत्सव के बाद एक ही सप्ताह में उस देश के नियमानुसार सभी गृहस्थ एवं साधुयात्री अपने-अपने स्थान की ओर लौट गये। किंतु मैं वहाँ के कई अमीरों तथा साधु-महात्माओं की प्रेरणा से उस स्थान को न छोड़कर वहीं निर्विघ्न रूप से निवास करता रहा। सब प्रकार की सेवा-सुश्रूषा वहाँ के भक्त लोग बड़ी श्रद्धा से करते रहे। मानों राजाज्ञा से हो रही हो। दोपहर के पहले का समय स्नान भजन आदि दैनिक कार्यों में तथा बाद का समय सज्जनों के साथ ईश्वर-संबंधी वार्तालाप में बीत जाता था।

नैपाली लोग बड़े आस्तिक और साधु-ब्राह्मणों के भक्त होते हैं। मेरे आगमन का वृत्तांत कानों-कान नगर में फैल गया और कई साधु-प्रिय लोग दर्शन, सत्संगति तथा शास्त्रार्थ-विचार के लिए प्रतिदिन आ जमा होते थे। इन सज्जनों में शास्त्रज्ञ ब्राह्मण और राणा कहलाने वाले ऊँचे कर्मचारी राजपरिवार के क्षत्रिय भी थे। इन सत्संगियों में ज्यादातर लोग वैराग्य एवं शुद्ध ब्रह्मविद्या में रुचि रखनेवाले थे, और कुछ राजपूत वीर-सिद्धि और योग-विद्या में तत्पर थे। कितनी ही बड़ी सिद्धि हो, वह संसार के अन्तर्गत ही आती है। बड़े-बड़े सिद्ध तथा संसारी व्यक्ति—ये दोनों तापत्रय से पीड़ित होते हैं ! ऐसा कौन सिद्ध

इस संसार में है जिसने हिरण्यगर्भ से ज्यादा सिद्धियाँ प्राप्त की हों ? किन्तु सिद्धकुल के सम्राट् हिरण्यगर्भ भी संसार-ताप से तप्त हैं। सच तो यह है कि सांसारिक विषयों में दृढ़ विराग एवं सूक्ष्म-विचार की सामर्थ्य रखनेवालों को छोड़कर और कोई व्यक्ति निरपेक्ष ब्रह्म-विद्या को परोक्ष रूप में तथा बौद्धिक रूप में नहीं समझ सकता।

× × ×

सत्संग में अद्भुत मोहक शक्ति है। इसलिए प्रतिदिन नियम-पूर्वक नियत समय पर कई ज्ञान-पिपासु लोग बड़ी श्रद्धा के साथ आया करते थे। वसिष्ठ आदि प्राचीन महर्षि तथा नानकदेव आदि अर्वाचीन मुनियों ने इसीलिए सत्संग की असीम प्रशंसा की है कि वह अमृत के समान हितकारी एवं सुखदायी है। सत्संग दुष्ट को शिष्ट बनाता है। सत्संग पापी को पुण्यवान बनाता है। सत्संग बद्ध को मुक्त करता है। सत्संग दुःखी को सुखी बनाता है। सत्संग परम फल है—इन्द्रिय और मन का चपलता-विकल समाहित भाव, अर्थात् सर्वात्मभाव। इसलिए सत्संग की महिमा अपार है। सत्संग के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा गया है —

वैदिक धर्म दो प्रकार का है—प्रवृत्ति-लक्षण और निवृत्ति-लक्षण अर्थात् कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग। इनमें से कर्ममार्ग के अधिकारी लौकिक विषयों में आसक्त रागी होते हैं तथा ज्ञानमार्ग के अधिकारी विषयों में आशा न रखने वाले और एषणा-त्रयों का संन्यास करनेवाले विरक्त लोग होते हैं। कर्ममार्ग को ग्रहण करने वालों को ऐहिक एवं पारात्रिक उन्नति की प्राप्ति होती है तथा ज्ञानमार्ग को ग्रहण करने वालों को परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होती है। संसार में प्रायः सभी लोग मोहित होकर कर्ममार्ग की शरण में आकर संसार-चक्र में पुनः-पुनः भ्रमण करते रहते हैं। विवेक एवं वैराग्य पाकर, प्रवृत्तिमार्ग को छोड़ शुद्ध श्रेयोमार्ग पर चलनेवाले संसार में बहुत ही कम हैं।

आत्मतत्त्व बड़ा ही गहरा है तथा समझने में मुश्किल है। उसके सुनने एवं उपदेश देने योग्य व्यक्ति विरले ही दिखायी देते हैं। योग्य आचार्यों के बिना इसे कोई सम्यक् रूप से समझ नहीं सकता। ऐसे कुत्सित पंडितों से जिनका भेद-भ्रम अस्त नहीं हुआ है, आत्मतत्त्व को सुन लें तो वह ऐसे है जैसे अंधे द्वारा अंधे को रास्ता दिखाया जाना। इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः आत्म-जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे तत्त्वनिष्ठ महात्माओं से ही आत्म-तत्त्व को ग्रहण करें। किन्तु ऐसा कोई न समझे कि 'आचार्य की क्या जरूरत

है ? मैं अपनी बुद्धि से अनुमान कर आत्मतत्त्व का निर्णय कर लूंगा।' आत्म-तत्त्व का अवधारण आत्मनिष्ठ सद्गुरु एवं आत्मतत्त्व को बतानेवाले शास्त्रों की सहायता के बिना केवल अपनी ही बुद्धि के द्वारा किसी को नहीं हुआ है। बाज़ार से उपनिषद् आदि ग्रंथ खरीद कर पढ़ने से भी आत्मबोध नहीं हो सकता। भौतिक पदार्थों की तरह अध्यात्म-तत्त्व केवल बुद्धि या इन्द्रियों के लिए अनुभूत नहीं हो सकता। अतः महान उपदेशकों से आत्मवस्तु का श्रवण कर उसी का निरन्तरता के साथ ध्यान करनेवाले साधन-संपन्न शिष्य ही सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान पा सकते हैं।

०

आत्मा पैदा नहीं होती; आत्मा मरती भी नहीं। वह नित्य एवं चिरंतन है। शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होती। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध आदि गुणों से हीन निर्गुण वस्तु है। वह स्वयं प्रकाशात्मक है। वह श्यामाक के दाने से भी छोटा और आकाश से भी विशाल है। वह ब्रह्मा से लेकर चींटी सभी प्राणियों की बुद्धि-गुहा में प्रकाशमान रहती है। जिसके द्वारा प्राणी रूप, रस, गंध आदि को जानते हैं, यह वही चैतन्य है। जागृति और स्वप्न के पदार्थों तथा नींद की दशा को वही आत्मा स्पष्ट करती है। प्राणी के शरीर में स्थित वही आत्मा प्राण, अपान आदि वायुओं को चलाती है। सारा ब्रह्मांड आत्मा में प्रतिष्ठित है। यही आत्मा माया-शक्ति से युक्त एक दशा में ईश्वर तथा इन्द्रिय आदि से युक्त होकर 'जीव' कहलाती है। जैसे एक ही अग्नि नाना प्रकार के ईंधनों से मिलकर उन-उन ईंधनों के आकार में भिन्न रूप में परिणाम पाती है, वैसे ही सर्वत्र व्याप्त अद्वितीय आत्मवस्तु नाना प्रकार के शरीरों में प्रविष्ट होकर उन-उन शरीरों से आच्छन्न हो कर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में विद्यमान है। सब चराचरों में व्याप्त होने पर भी, और सब धर्मों की प्रेरक होने पर भी, वह किसी कर्म से लिप्त नहीं होती।

आत्मा आकाश के समान असंग है। मन और बुद्धि द्वारा प्रकाशमान है। उसे आँख, कान या दूसरे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते। पर वह शून्य नहीं है। वह त्रिकालों से भी अबाध्य सत्य वस्तु है। वह प्रकृष्ट रूप से प्रकाशमान है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि भी जिसके प्रकाशपुंज से संसार में प्रकाशित हो रहे हैं यह वही अक्षय प्रकाश-पुंज है। सारा विषयानंद जिसका छोटा-सा कण-मात्र है यह वही आनंद-पारावार है।

इतना ही नहीं, अनेक शाखाओं के साथ फैले हुए विशाल संसार-वृक्ष का बीजरूप भी यही आत्म-तत्त्व है। यही संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का हेतु है। अग्नि एवं सूर्य का जलता रहना, वायु का सदा चलता रहना, इन्द्र का यथासमय बरसता रहना तथा मृत्यु का सबको ग्रस्त करना—यह सब इसी आत्मा के कारण होता है। यद्यपि इस प्रकार आत्मवस्तु सारे जग की अधिष्ठाता तथा नियामक है, तथापि वह शुद्ध, असंग, अप्रमेय, निर्विकार, निष्क्रिय निर्गुण एवं निराकार रूप में ही अपनी महिमा में स्वयं प्रकाशमान है।

ऐसी आत्मा की सच्चाई का निःशंक अपरोक्ष रूप में साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति संसार को पार कर मुक्ति पद को प्राप्त हो जाता है। जन्म, जरा एवं मृत्यु तथा आधि-व्याधियों की संततियों से तप्त इस संसार में वह फिर नहीं आता। लेकिन सब शरीरों में 'मैं, मैं' के शब्द से साधारणतः निर्दिष्ट आत्मवस्तु आबाल-गोपाल सबके लिए सदा सामान्य रूप में अपरोक्ष है, तब भी विशेष रूप में वह अपरोक्ष नहीं है। 'मैं असंग, अमृत एवं आत्म-स्वरूप चैतन्य वस्तु हूँ'—यों विशेषरूप में आत्मवस्तु किसी में प्रकाशित नहीं होती। परमेश्वर ने प्राकृतिक रूप से ही प्राणियों की इन्द्रियाँ बहिर्मुखी अर्थात् विषयोन्मुख बनायी हैं। मन संकल्प-विकल्पात्मक बनाया है। इसलिए स्वाभाविक रूप से ही विषयों में प्रवर्तमान इन्द्रियों और मन को रोककर आत्मवस्तु को जान कर निजी रूप में उसका अनुभव कर लेना साधारण लोगों के लिए कठिन है।

आश्चर्य की बात है, हजारों लोगों में कोई विरला ही तीव्र विराग एवं मोक्ष की इच्छा से इन्द्रियों को रोक और मन को अंतर्मुखी बनाकर उस प्रत्य-गात्मा के साक्षात् दर्शन कर तृप्त होता है। इस प्रकार सच्चा मनुष्य वह है जो इन्द्रियों के प्रताप में मोहित न होकर, दुर्गम होने पर भी उनका वीरता के साथ दमन कर, आत्मानुभूति करता है। जो मनुष्य शरीर प्राप्त कर सत्य वस्तु की खोज में अर्थात् सत्य वस्तु की ओर ले जानेवाले साधनों को पाने में इस शरीर का उपयोग नहीं करता, वह ईश्वर की इस श्रेष्ठ देन शरीर का सदुपयोग नहीं करता। यह इसे विफल बना देता है। जानवरों के शरीर की भाँति यदि हमारा मानव-शरीर भी आहार, निद्रा, भय मैथुन आदि में विनष्ट हो जाए तो उसके समान दुःखमय बात भला और क्या हो सकती है। इन्द्रियों के वश में होकर एक-एक काम की इच्छा में समय बितानेवाले ऐसे आदमी कामासक्ति के कारण मृत्यु के शिकार बन जाते हैं, अर्थात् जन्म-मरणात्मक संसार-सागर में डूबते-उठते रहते हैं। इन्द्रिय एवं मन को वश में करने वाले धीर तो विषयों

को नश्वर समझकर उनकी इच्छा किये बिना अनश्वर अमरत्व की ही कामना करते हैं और उसके लिए लगातार परिश्रम करते हुए उसी के लिए जीवन बिताते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र साधन अद्वैत एवं अद्वितीय आत्मा का सम्यक् ज्ञान है। यद्यपि उपाधि-भेद के द्वारा जीव और ईश्वर के भिन्न-भिन्न व्यवहार होते हैं तथापि दोनों एक ही चैतन्य हैं। यह सच्चा ज्ञान उपनिषद् विचार से उत्पन्न होता है। वह ज्ञान भेद-ज्ञान है जो प्रति शरीर भिन्न-भिन्न जीवात्मा तथा उनसे भिन्न एक परमात्मतत्त्व का उपदेश देता है। चूँकि भेद-ज्ञान अयथार्थ है, इसलिए अमरत्व प्रदान करने में असमर्थ है। व्यवहार-दशा में यद्यपि आत्मा में 'मैं, तू' की भेद-कल्पनाएँ होती हैं, तथापि परमार्थ-दशा में आत्मा में नानात्व नहीं होता।

जो लोग अद्वितीय एवं सब चराचरों के लिए प्रकाशमान आत्मा को स्वस्वरूप में अपरोक्षीभूत करने में असमर्थ हैं, ऐसे मध्यम अधिकारियों को प्रणवोपासना का अनुष्ठान करना चाहिए। 'ॐ, ॐ, ॐ'—'ॐकार' का हमेशा उच्चारण करना चाहिए। जिनका चित्त अधिक चंचल है, उन्हें घंटा-निनाद के समान उच्च एवं दीर्घ स्वर में प्रणव का जप करना चाहिए, तथा जिनका मन स्थिर है उन्हें धीरे से प्रणव का जप करना चाहिए। प्रणव के जप के साथ प्रणवार्थ निर्विशेष ब्रह्म का भी अनुसंधान करना चाहिए। पर जिनमें ब्रह्म के अनुसंधान की सामर्थ्य नहीं है, उन्हें 'ॐकार' में ब्रह्म-दृष्टि रखकर उपासना करनी चाहिए, अर्थात् ॐकार शब्द में मन के निरोध का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार से अभ्यस्त प्रणवोपासना क्रमशः आत्मज्ञान को उत्पन्न कर देती है। इन्द्रियों एवं मनोवृत्तियों का निरोध रूपी योग भी निदिध्यासन का अंग होकर आत्मज्ञान के उदय में सहायक होता है। यह शंका कितनी ही स्थूल है कि देह से अलग कोई आत्मा है या नहीं? देहेन्द्रियाँ और मनोवृत्तियाँ जिस चैतन्य वस्तु के संबंध से अपने-अपने व्यापारों में लगी रहती हैं, वही चैतन्य वस्तु आत्मा है। आत्मा ही हम हैं। वही आत्मा ब्रह्म है। वही आत्मा जगत् है। उस आत्म-चैतन्य को छोड़कर और कोई वस्तु है ही नहीं।

●

किंतु वेदांत के कुछ आचार्यों का कहना है कि आत्मज्ञान तथा आत्म-ज्ञान का अभ्यास सबके अधिकारी केवल संन्यासी ही हैं। परंतु इनके अतिरिक्त अन्य आश्रमियों को इसका अनधिकारी नहीं समझना चाहिए। श्रुति और स्मृति

इसके लिए प्रमाण है कि प्राचीनकाल में यतिधर्मियों से ज़्यादा गृहधर्मी ही तत्त्व-विचार में लगे रहते थे। विषय का विचार ही आत्म-विचार में मुख्य साधन है। विरागी घर में रहे या वन में, वह संन्यासी हो चुका है। जिसमें वैराग्य नहीं वह मंत्रों का जप करे, गेरुआ कपड़ा धारण कर ले तो भी वह सन्यासी नहीं हो सकता। किन्तु इसके विपरीत सदाचरण, विवेक एवं वैराग्य की संपत्ति के साथ कोई भी गृहस्थी, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अपने गृहस्थ-कार्यों में संलग्न रहते हुए भी वैसे ही ब्रह्मविचार कर सकता है जैसे बड़े-बड़े यतीन्द्र एकांत हिमाद्रि-शिखर पर बैठे ब्रह्मविचार करते हैं।

इसी सम्बन्ध में उदारण लीजिए—जब महर्षि याज्ञवलक्य ने विदेह-राजा जनक तथा अपनी पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया था तब पहले उनसे संन्यास-धारण करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। और तो और, ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा एवं ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवलक्य भी स्वयं गृहस्थी थे। वैराग्य-मूर्ति मैत्रेयी का उदाहरण भी हमारे सम्मुख है, जिससे सिद्ध है कि ब्रह्म-विद्या को ग्रहण करने के लिए वैराग्य तो नितान्त अपेक्षित है, किन्तु सन्यास लेना आवश्यक नहीं है।

सन्यास-ग्रहण की इच्छा से प्रेरित होकर याज्ञवल्क्य ने एक बार मैत्रेयी और कात्यायनी नामक अपनी दोनों पत्नियों को बुलाया और कहा—'मैं संन्यास लेना चाहता हूँ, और इसी कारण अपने द्रव्य को तुम दोनों में बाँट देना चाहता हूँ।" उनकी बड़ी पत्नी मैत्रेयी विवेकशीला तथा वैराग्य-संपन्ना थी। सुनकर उसने विनम्रता के साथ निवेदन किया—"धन से मेरा क्या प्रयोजन ? समुद्र से आवृत्त यह सारा भूमंडल उसकी सारी संपत्ति के साथ भी यदि आप मुझे दान दें तो भी क्या मैं इस घोर संसार-बंधन से मुक्त होकर उस निःसीम आनन्द-पद को प्राप्त हो सकूँगी ? कभी नहीं। जैसे सुख-भोग के इच्छुक धनवान लोग विषय-भोग करते हैं मैं भी धन से वैसे ही विषय-भोग का आनंद ले सकूँगी। धन द्वारा इससे बढ़कर भला और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? इसलिए आप कृपया मुझे उस सत्य वस्तु को देखने और सुदृढ़ मायाजाल को तोड़ने का उपदेश दीजिए। इस ज्ञान-धन के सिवाय भौतिक धन की मैं आप से प्रार्थना नहीं करती।"

यद्यपि मैत्रेयी स्त्री जाति की थीं, तो भी उनके विवेक एवं वैराग्य को देखकर याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे आत्मविद्या का उपदेश देने का निश्चय किया, और तभी याज्ञवल्क्य रूपी सूर्य से अज्ञान के निबिड़ान्धकार

इच्छा एवं प्राप्ति का चरम लक्ष्य है। मनुष्य-जन्म में अपनी आत्मा को जानने से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है। इसके अतिरिक्त हमें और कोई भी सुख नही भोगना है और न ही कोई अन्य कर्तव्य हमें निभाना है। आत्मनिष्ठा ही परम कर्तव्य है। आत्मनिष्ठा ही परम सुख है। आत्मनिष्ठा ही परम लाभ है। आत्मनिष्ठा ही परम विद्या है। हे मैत्रेयी! यही आत्मनिष्ठा अमरता का अनन्य साधन है। अतः यदि तुम में अमरता की अत्यंत अभिलाषा हो तो उसकी अव्यभिचारी साधन इस आत्मनिष्ठा को सब प्रकार से पा ले।'

फिर बोले—'ब्रह्म अखंड है, लवण-खंड के समान एकरस, अर्थात् सच्चिदानंदघन है। त्रिविध भेद भी ब्रह्म में नहीं है। सावयव वस्तु न होने से उसमें स्वगतभेद नहीं होता। समान जाति की और किसी सद्वस्तु के न होने के कारण उसमें सजातीय भेद नहीं होता। सद्वस्तु ब्रह्म के लिए विजातीय असद्-वस्तु होने तथा असद्वस्तु की किसी से प्रतिद्वन्द्विता न होने के कारण वास्तव में प्रतिद्वन्द्विता के कारण होने वाला विजातीय भेद भी इसमें नहीं होता। इस प्रकार ब्रह्म, जरा भी भिन्नता लिये बिना, एक होने पर भी व्यवहार-दशा में अनेक होकर और देश, काल आदि से अच्छिन्न होने पर भी छिन्न होकर वह सदा अपनी महिमा में स्वयं प्रकाशमान रहता है।'

और अन्त में उन्होंने कहा—'प्रकृति से परे एक एवं अद्वितीय ब्रह्म वस्तु में प्रकृति के देश-काल-संबंधी प्रश्न—ब्रह्म कहाँ से पैदा हुआ? ब्रह्म कब पैदा हुआ? आदि प्रश्न—बिल्कुल वैसे ही बुद्धि-शून्य हैं जैसे कि कोई यह प्रश्न करे—देखो क्या मेरे जीभ है? क्या मेरी माता वन्ध्या है? आदि। भला बताओ तो अद्वितीय, एकवस्तु-निष्ठ ब्रह्म के लिए अपने से पूर्ववर्ती कोई कारण कैसे हो सकता है? 'कहाँ' और 'कब' के प्रश्न द्वैतरूप माया को छोड़कर अद्वैतरूप ब्रह्म में संभव नहीं हो सकते।

●○

१३. चन्दननाथ

चन्दननाथ हिमगिरि के तल से डेढ़ सौ मील की ऊँचाई पर एक मनोहरी मैदान है। यह समुद्र की सतह से लगभग दस हजार फुट से भी अधिक ऊँचाई पर स्थित है। यह चारों ओर से ऊँचे-ऊँचे हिम-पर्वतों की पंक्तियों से आच्छन्न है। इसके बीच चावल के छोटे-छोटे खेत है। जहाँ-तहाँ कुछ छोटे-छोटे गांव है। मध्य में 'तिला' नामक नदी द्रुतगति से वहती चली जा रही है। यह नदी छोटी होने पर भी सुन्दर है।

वृद्ध-परंपरा से कहा जाता है कि पुरातन काल में 'चन्दननाथ' और 'भैरवनाथ' नाम के दो महासिद्ध थे। ये दोनों इस दुर्गम हिमालय प्रदेश पर सैकड़ों वर्ष तपस्या-वृत्ति में लीन रहे। उनके कैवल्य के बाद उनकी स्मृति में उनकी पादुकाओं एवं मूर्तियों की पूजा होने लगी। इन दोनों में से चन्दननाथ के पुण्यनाम से यह पुण्य धाम भी 'चन्दननाथ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। सचमुच यह हिमालय प्रदेश ऐश्वर्यनिधि सिद्धों एवं सूक्ष्मदर्शी महर्षियों की आवासभूमि था। ऐतिहासिक लोग प्रमाणों द्वारा सिद्ध करते हैं कि वैदिक काल के कई मंत्र-द्रष्टाओं तथा सूत्र-काल के कई दर्शनकर्त्ता ऋषिपुंगवों ने इसी हिमालय प्रदेश को अपने सान्निध्य से अलंकृत किया था। हिमगिरि की एकांत गुफ़ाएँ, कन्दर एवं नदी-तट आर्य-तपस्वियों और आर्य-चितकों के तपःस्थान तथा मनन-स्थान थे। निरुपद्रव, निर्विक्षेप एवं नितांत सुन्दर इस दिव्य भूमि में ही बाहरी दुनिया से विमुख होकर केवल आन्तरिक लोक में विहार करनेवाले उन ऋषियों का निर्मल मन रमा करता था। अनेक लोग मानते हैं कि गौतम मुनि ने मंदाकिनी के तट पर रहते हुए न्याय दर्शन, व्यास महर्षि ने सरस्वती किनारे विराजते हुए वेदांत दर्शन तथा गर्गमुनि ने द्रोण गिरि पर निवास करते हुए ज्योतिःशास्त्र की रचना की थी।

हिमगिरि के संसार-प्रसिद्ध तीन शिखरों में एक है—धवलगिरि। यहाँ से थोड़ी दूर नीचे की ओर नेपाल देश के अंतर्गत यह [illegible] है। यह स्थान अति दुर्गम है। इसी कारण यहाँ कुछ एक [illegible] साधुओं को छोड़

कर निम्न देश का कोई भी व्यक्ति यात्रा नहीं करता। नेपाल देश के लोग ही प्रायः यहाँ का सफ़र किया करते हैं। 'चन्दननाथ' नामक स्थान और उसकी महिमा नेपाल की राजधानी में पहले-पहल मेरे कानों में पड़ी तो बड़ी उत्सुकता से उसके दर्शन करने को मैं लालायित हो उठा।

काठमांडु नगर में मैंने दो महीने आनंद से विताये। दो महीने, दो दिन की तरह बीत गये। प्रतिदिन की आध्यात्मिक चर्चा से संतुष्ट कई सज्जनों ने आत्मशांति के बारे में अति कृतज्ञताभाव दिखाते हुए मुझसे बातें कीं। जो लोग सत्संग में आते थे, यद्यपि उनकी संख्या इस नगर की जनसंख्या को देखते हुए बहुत ही है कम थी, किन्तु ये लोग श्रद्धालु अवश्य थे। वैसे, यह भी संसार का नियम है कि विषय-गोष्ठी की तुलना में ब्रह्मगोष्ठी की इच्छा करनेवाले बहुत कम ही होते हैं।

× × ×

इस लोक में विवेक-युक्त बहुत कम ही पुण्यात्मा होते हैं जो विषय-रस को दुःख का कारण मानते हैं और वैराग्यभाव से ईश्वरीय रस की खोज करते हैं। जो लोग विनश्वर विषयों में आसक्त रहते हैं, वे जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि की अनर्थ-परम्परा के दुःख को भोगते चले जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इस बंधन की दशा को वे सुख माने बैठे हैं। सत्य तो यह है कि हम अपने नित्यमुक्त, स्वतंत्र पद से च्युत होकर बंधन में जकड़े हुए हैं। किन्तु जिसे इस बंधन का ज्ञान ही न हो वह भला किस प्रकार मोक्ष की इच्छा करेगा। मोक्षेच्छा हुए बिना मोक्ष के उपाय—तत्त्व-चर्चा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तत्त्व-विचार से पैदा होने वाले तत्त्वज्ञान से, अर्थात् दृढ़ आत्मनिर्णय से आत्मबल मिलता है।

आत्मबल सदा एकरस, निरतिशय एवं नित्य है। विषय-बल तो क्षणिक प्रभा के समान नश्वर है। आत्मशक्ति के सामने विषय-शक्ति उस प्रकार है जिस प्रकार सूर्यमण्डल के सामने जुगनू। सभी भौतिक शक्तियाँ, सम्राट् की शक्ति तथा हिरण्यगर्भ की शक्ति भी जिस के सामने तृणप्राय हो जाती है, वह महा-शक्ति है—आत्मशक्ति। उस आत्मबल के सामने मानव सब बंधनों से मुक्त होकर स्वतंत्र तथा आनंद-मधुर जीवन में पहुँच कृतकृत्य एवं नित्यतृप्त हो जाता है। जब तक देश में आत्मबुद्धि तथा उसके कारण अहंता एवं ममता है, तब तक कोई व्यक्ति आत्मशक्ति के द्वार तक नहीं पहुँच सकता। जो भी हो, महामाया के नाग-पाश में विमोहित हो अधिकतर मनुष्य आत्मबल और

आत्मबोध के बिना, और यहाँ तक कि उसके साधन बंधन-ज्ञान के बिना, जीवन व्यर्थ गँवा देते हैं। अहा ! यों सब को समान रूप से मोह के अपार पारावार में डुबोते हुए अतुलनीय प्रताप के साथ विजय-भेरी बजाते उन्मत्त नर्तन करनेवाली महामाया के अधिकार की विशाल सीमा को कौन लाँघ सकता है ? अथवा ऐसी इच्छा तक करने की शक्ति किस में है ?

× × ×

नेपाल नगर के परिचित लोग बड़ी श्रद्धा एवं आग्रह के साथ समय-असमय पर यही प्रार्थना करते रहे कि मैं कुछ काल और वहाँ रहूँ। किन्तु मैंने मन में निश्चय कर लिया था कि हिमालय के उस पार तिब्बत में स्थित कैलास पर्वत की ओर चलना चाहिए, और इस निर्णय को मैंने वहाँ के कुछ अंतरंग प्रेमियों को बता भी दिया। वहाँ के प्रधान मंत्री के साले साधु-भक्त 'कर्ण विक्रमशाह' नामक माननीय व्यक्ति ने हमारी यात्रा के सब प्रबंध कर दिये, और एक शुभ दिन उनकी अनुमति के साथ पशुपतिनाथ को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर वह स्थान छोड़कर मैं कैलास के लक्ष्य में रवाना हुआ। वस्तुतः मैं कैलास तथा मानसरोवर की महिमा एवं सुन्दरता के बारे में काफ़ी अरसे से सुनता चला आया था। अतः उसके दर्शनार्थ जाने के लिए मैं उचित समय की प्रतीक्षा में बैठा था, और आज वह शुभ दिन आ गया था।

काठमांडु से पास के एक मार्ग से मैं नीचे की ओर उतरा। 'रक्सौल' रेलवे-स्टेशन से गाड़ी पर चढ़ा और 'गोरखपुर' से होकर हिमालय की तराई के 'नेपालगंज' नामक छोटे शहर में जा पहुँचा। असम देश के 'आनंदगिरि' नामक एक युवक साधु भी अनुचर रूप में मेरे साथ चल पड़े। हम दोनों नेपाल के एक नगर नेपालगंज में 'मुख्या' के अतिथि-गृह में आदर के पात्र बनकर दस-बारह दिन रहे। यह अतिथि-स्थान जाजर कोट राजपरिवार का एक अंग है। इसके बाद वहाँ से नेपाल राज्य के अंतर्गत 'जाजर कोट' देश की राजधानी के लक्ष्य में, ऊपर की ओर, अर्थात् हिमगिरि के अन्दर की ओर, हमने यात्रा शुरू की।

चलते-चलते कई छोटे-बड़े गाँवों की विशाल मैदान-भूमि समाप्त हुई, और जंगली जीवों से भरा गंभीर महावन शुरू हुआ। हिरणों तथा जंगली सूअरों को स्वच्छंद चलते देखा। एक दिन बाघ का गर्जन भी अति निकट से सुनायी पड़ा। जाजर कोट राजवंश के एक राजकुमार और कुछ अन्य लोग भी हमारे साथ चल रहे थे। ये लोग मार्ग ठीक तरह जानते थे। इसलिए अधिक चिंता

किये बिना निविड़ और अंधकारमय उस भयानक वन के बीच में से हम आगे बढ़ते चले गये। मार्ग में तीव्र वेग से बहनेवाली एक नदी आयी। इसे हमने कठिनाई से पार किया। इसी वन में कहीं-कहीं प्रचण्ड दावाग्नि भी थी। इसे भी हमने अति साहस के साथ लांघा। जहाँ रात पड़ती वहाँ हम रह लेते और खुले वनान्तर में आग जला लेते, जिससे बाघ आदि का डर कम हो जाता। हम रात भर चौकन्ने होकर प्रायः बैठे रहते। कभी-कभी लेटकर जरा विश्राम भी कर लेते। इस प्रकार हमने अपनी लंबी यात्रा जारी रखी।

इस यात्रा में हमने ईश्वर-महिमा का मानो साक्षात् दर्शन किया। पक्षियों का मधुर-मंजुल, गान, वराह का घुरघुर शब्द, शार्दूलों का भयानक गर्जन, सूखे पत्तों की मर्मर ध्वनि और अनेक प्रकार के पल्लवित-पुष्पित विटपों, लताओं तथा गुल्मों की आनंद-दायक सुन्दरता इन्द्रियों के इन सभी विषयीभूत दृश्यों में हम परमात्मा की महिमा के ही प्रत्यक्ष दर्शन करते चले गये। अचिंत्य ईश्वरीय शक्ति के निरंतर चिन्तन में कभी-कभी हम बाह्य ज्ञान से विरत होकर मन के समाहित भाव में पहुँच जाते थे। कहीं-कहीं इस सुन्दर दृश्य-विधान को देखते हुए हम थोड़ी देर तक स्तब्ध खड़े रहते या बैठ जाते, और धीरे-धीरे आगे बढ़ जाते। यों, छः सात दिन अनंत घनघोर महावनों से होकर यात्रा करने के बाद हम गाँवों की ओर आगये, जो विच्छिन्न विरल वनों से आवृत्त थे तथा जिनके आसपास कई प्रकार के अनाजों के खुले खेत थे।

निर्मल जल की मनोहारी भैरवी गंगा के रमणीय तट से मार्ग ऊपर की ओर जा रहा है। भैरवी गंगा एक उपनदी है जो कि श्रीदाशरथी-प्रिया सरयू गंगा की पोषक नदी 'कर्णाली' में जाकर मिल जाती है। कई दिनों की कठिन वन-यात्रा से थके-माँदे हम भैरवी के पुण्यतट पर, एक खुले स्थान में एक गाँव के पास पहुँच गये। हमारे साथ खाने की चीजें बहुत कम थीं, और रास्ते में भी हमें खाना बहुत कम मिला था। किन्तु जब हम इस गाँव में, पहुँचे तो साधु-महात्माओं के दर्शन के लिए, तथा हमारे साथ आये राजकुमार को भी देखने के लिए तुरन्त ही ग्रामीण लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी। उन्होंने हमसे भय-भक्ति-मिश्रित भावों के साथ कुशल-मंगल पूछा, और फौरन गाँव से खाने की कुछ चीजें लाकर हमारा सत्कार किया। हम सबने पेट भर कर खाया तथा निश्चिंत सुख-निद्रा ली। यह रात हमारे लिए कभी न भूलने-वाली त्रिदिव-रात्रि थी।

× × ×

ईश्वर सर्वद्रष्टा होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है। ईश्वर सब की जरूरतों को जानता है, और उनको निभाता भी है। लेकिन मनुष्य इस तत्त्व को नहीं जानते। जानते हों, तो भी वैसा दृढ़ रूप से विश्वास नहीं करते। कोई एक दुष्ट संस्कार हमारे मन में रहकर आत्मसमर्पण को रोक लेता है। इसी समय मुझे ईसाई युवती की कन्या स्मरण हो आयी, जिसने अठारह वर्ष की उम्र में विरक्त होकर परमेश्वर के भजन के लिए घर-बार छोड़ दिया था। घर छोड़ते समय उसने अपने अगले दिन के खाने के लिए केवल एक 'पेनी' अपने पास रखी थी। उसे तुरन्त ही आकाश से परम पिता की वाणी सुनायी पड़ी—'क्या इसी एक पेनी पर भरोसा रखकर सब कुछ छोड़-छाड़ कर तुम बाहर निकली हो?' अगले ही क्षण उसने जवाब दिया, 'हे प्रभो! नहीं, मैं इस पेनी का भरोसा करके नहीं, केवल आप के भरोसे पर बाहर निकली हूँ', और तभी उसने उस पेनी को भी फेंक दिया और केवल परमेश्वर-निर्भर होकर वह आगे बढ़ चली। सत्य है जो द्रव्य की शरण में जाता है, उस के लिए भगवान की सहायता किस लिए? परमेश्वर के भक्त के लिए द्रव्य काहे को?

वहाँ से भैरवी के किनारे से हमने फिर यात्रा शुरू की। कई वनों, पर्वतों और छोटे गाँवों को पार करते हुए दो-तीन दिन की यात्रा के बाद हम सकुशल जाजर कोट की राजधानी में प्रविष्ट हुए। वहाँ एक पहाड़ी के ऊपर एकांत-स्थान में बने एक राजमहल के पास हमने एक निवास-स्थान में कुछ दिनों तक विश्राम किया। यहाँ भी हम सबके स्वागत के पात्र थे। इसके बाद गर्मी में राज-परिवार के सुखवास स्थान 'दहा' नामक एक ऊँचे शीतल पर्वत-प्रांत की ओर हम रवाना हुए। एक राजकुमार, जो उन दिनों राजा की अनुपस्थिति में राज-काज करते थे, हमें वहाँ ले गये थे। उन दिनों मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था। अतः इन्हीं राजकुमार के कई बार अनुरोध करने पर मैंने कड़ी चढ़ाई में एक फर्लांग तक उनके घोड़े पर बड़ी उदासीनता के साथ सफ़र भी किया। किन्तु यह अश्वारोहण मुझ जैसे साधु को एक पापाचरण के समान लगा था। ऐसी घटना न तो कभी घटी थी और न कभी इसके बाद। मैं इस आचरण को कभी नहीं भूल सकता। उनके अनुरोध से घोड़े पर मैं सवार तो होगया था, किन्तु तुरन्त ही मुझे यह बोध हो आया कि घुड़सवारी इस शरीर की प्रकृति एवं धर्म के उचित नहीं है, और मैं शीघ्र ही घोड़े की पीठ से उतर पड़ा और पैदल ही पहाड़ पर चढ़ने लगा।

'दहा' नामक यह पर्वत-प्रांत हरियाली के साथ फूलों, पल्लवों एवं फलों से निविड़ नाना प्रकार के वृक्ष, लता, तृण आदि की वासंती शोभा से भरा विशाल तथा आनंदकारी वन-प्रदेश था। राजभवन से कुछ दूर वनांतर में हमारे लिए एक सुन्दर पर्णशाला बनी थी। हम उस आश्रम में सुखपूर्वक निवास करने लगे। राजमहल से हमारे योग-क्षेम की निरन्तर पूछताछ की जाती थी।

उस एकांत एवं प्रशांत गंभीर वनांतर में मैंने अपना अधिक समय ईश्वर-चिन्तन में ही बिताया था। जिस प्रकार हम आँखें मूँदकर ध्यान में परमात्मा को अपरोक्ष रूप से देख आनंदानुभूति कर लेते हैं, उसी प्रकार आँखें खोले चारों ओर नाना प्रकार की प्रकृति में उसी परमात्मा के दर्शन कर आनंद पा लेना भी नितान्त सम्भव है। किन्तु इसके लिए अभ्यास की जरूरत है। प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उनपर लौकिक रूप से मुग्ध हुए बिना निरतिशय शांति में पहुँचकर विश्रांति पा सकने की क्षमता सरल नहीं है। इसके लिए समाहित भाव अपेक्षित है। केवल अध्यात्म-रसिक ही इस ओर प्रवृत्त रह सकते हैं। उनका मन लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद आदि विघ्नों को लाँघ

जाता है। जैसे आकाश में पक्षी ऊपर ही ऊपर उड़कर सर्वोच्च स्थान पर पहुँच आनंद प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार ये अध्यात्म-रसिक भी ऊपर-ऊपर उठकर चरम सीमा में, अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्मपद में, पहुँचकर विश्रांति और आनंद का अनुभव करते हैं। जैसे घट-वृत्ति से घट का ज्ञान होता है, वैसे ब्रह्म-वृत्ति से ब्रह्म-ज्ञान होता है। ऐसी समाधि सिद्धों के लिए आनंदानुभव की, तथा साधकों के लिए ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होती है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि चित्त को निवात दीप की तरह निश्चल करके निर्विकल्प भाव में निमग्न कर दृश्य-संबंध के बिना आनंद भोगने में देश-काल की अनुकूलता बड़ी सहायक होती है। हिमालय के इन भूभागों में मन को आसानी से समाहित कर देने की अतुलनीय सामर्थ्य विद्यमान है।

पास के गाँव के बूढ़े लोग साधुओं के दर्शन के लिए पर्णशाला में आया करते थे, और काफल (काले रंग का एक जंगली फल), शहद आदि उपहार भी साथ लाते थे। यद्यपि ये पहाड़ी लोग नागरिक दृष्टि से सभ्य नहीं थे, तथापि ईश्वर एवं ईश्वर-प्राण साधुओं में दृढ़ श्रद्धा की दृष्टि से वे बड़े ही सभ्य थे। शिक्षा-दीक्षा से हीन होते हुए भी वे सत्संगति की बातों में बिलकुल अज्ञ थे।

न रहें, किन्तु हम उसी दिन गाँव वापस आ गये।

कुछ दिन विप्र-गृह में विश्राम करने के बाद महंत जी (पूजक स्वामीजी) तथा अन्य लोगों की बार-बार की प्रार्थना से मैं मंदिर में भी जाकर तीन-चार दिन रहा। इस मंदिर का खाना लगभग केरल के खाने के ही समान था। इसलिए यह मुझे बड़ा स्वादिष्ट लगा। भात, दाल, तरकारियाँ एवं दही—ये खाने की चीजें थीं। मैं उत्तर देश एवं हिमालय-प्रदेशों में गेहूँ आदि अनाजों के पकवान ही अधिकतर खाया करता था, तो भी चावल पैदा होने-वाले कुछ प्रदेशों में पेट भर दोनों वक्त भात भी खा लेता था। इस प्रकार के भोज्य-पदार्थ मुझे बहुत पसन्द थे, फिर भी शरीर के ज्वर-ग्रस्त हो जाने के कारण मैं उसका आस्वादन करने में असमर्थ रहा।

ईश्वर-चर्चा के रसिक एवं साधु-भक्त 'डीठ' महोदय प्रतिदिन सत्संगति की इच्छा से मेरे पास आया करते थे। प्रसंगवश उन्होंने मुझसे कहा कि कनक-कामिनी के संबंध से मुक्त, विरक्त, ब्रह्म-चिंतन में लीन तथा परमहंस-प्रवृत्ति के श्रेष्ठ साधु लोग उन प्रदेशों में बहुत कम ही आते हैं। शुक दत्तात्रेय के समान परमहंस साधुओं की श्रद्धा के साथ दर्शन करने और भक्ति के साथ पूजा करने के लिए वे हमेशा लालायित रहा करते थे। चन्दननाथ नामक उस ऋषि-भूमि में उस समय जो साधु और गृहस्थ दिखायी पड़े, उनमें थोड़ी-बहुत ज्ञान-संस्कृति से युक्त यही एक व्यक्ति वहाँ के न्यायाधीश ही थे। नेपाल की राजधानी में रहते समय मुझे ज्ञात हो गया था कि भारतवर्ष की उत्तरी सीमा नेपाल देश में भी, दूसरे देशों की तरह अध्यात्म-साधकों में ज़्यादातर लोग यही विश्वास करते हैं कि अद्वैत ज्ञान ही एक तथा अंतिम मोक्ष-साधन है।

× × ×

यह तो सर्वविदित है कि 'अयमात्मा ब्रह्म,' तथा 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ये सिद्धान्त शंकराचार्य के दिग्विजय के बाद हमारी भारत-भूमि में सब कहीं प्रचलित होगये हैं। काल-गति के तीव्र आघातों से मोहित एवं मृतप्राय हो जानेवाले सनातन सिद्धांत अर्थात् सनातन धर्म को आचार्य लोग फिर से जीवित किया करते हैं। यदि घट की तरह कोई नया धर्म बनाया जाता है तो वह सनातन नहीं रहता। सनातन-दर्शन का सूर्य-मंडल कभी-कभी क्षणिक सिद्धान्तों के मेघ-जालों से आवृत्त होकर अप्रकाशित एवं प्रभावहीन हो जाता है, किन्तु तत्वदर्शी महात्माओं के प्रयत्न तथा प्रभाव से फिर पुनः प्रकाशमान हो जाता है।

सत्यों में भी परम सत्य अद्वैत धर्म जब प्रतिपक्षी धर्मों के पराक्रम से पीड़ित एवं दुर्बल होकर विषम दशा को प्राप्त हो गया था, तब श्री बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के द्वारा उसे विपत्ति से बचा लिया। द्वैतवाद को उन्होंने प्रबल रूप से कुचल दिया। श्री गौतम आदि शास्त्र-कर्त्ता आत्मज्ञान के सिवा अद्वैत-ज्ञान को नहीं मानते। गौतम की आत्मा निर्गुण शुद्ध चैतन्य नहीं है; इच्छा द्वेष, प्रयत्न आदि से युक्त एक जड़ वस्तु है। उनका तर्क है कि गुणों के द्वारा गुणी आत्मा अनुमान से सिद्ध है। मिथ्याज्ञान से पैदा होनेवाले दुःख का नाश ही मोक्ष है, किन्तु प्रमाण के साथ वेदव्यास का यह सिद्धांत है कि आत्मा निर्विशेष एक एवं अद्वितीय चैतन्य वस्तु है, अद्वैत एवं ब्रह्मस्वरूप उस प्रत्यक् वस्तु का अपरोक्ष अनुभव ही कैवल्य का साधन है, तथा कैवल्य दुःख का ध्वंस नहीं, आनंदघन स्वस्वरूप की व्याप्ति है।

यद्यपि व्यास के द्वारा प्रकाशित उक्त वेदांत मत सनातन सत्य तथा आत्यंतिक श्रेय का स्वरूप है, तथापि गौतम आदि का मत भी बिल्कुल असत्य या व्यर्थ नहीं है। वह आपेक्षिक सत्य एवं आपेक्षिक श्रेयोरूप बन कर इस सम्पूर्ण जगत् में विराजमान है। आत्मसत्ता और ईश्वर-सत्ता को अनुमान के द्वारा अनुभव कराने में गौतम का कहा न्यायशास्त्र बड़ा ही उपयोगीहोता है। श्रुति की महत्ता को न माननेवाले देहात्मवाद एवं शून्यवाद का श्रुति की सहायता के बिना केवल प्रबल युक्तियों से तिलशः खंडन कर उन्होंने आत्मसत्ता तथा ईश्वर-सत्ता का समर्थन किया है। गौतम मुनि शरीर से अलग एक जीवात्मा तथा सब जीवात्माओं का आधार एक परमात्मा को मानते हैं। इसलिए देहात्मवाद और शून्यात्मवाद की अपेक्षा गौतम का जड़ात्मवाद अधिक सत्य एवं प्रशस्त है। गौतम के जड़ात्मवाद की अपेक्षा कपिल का चेतनात्मवाद सत्यतर तथा प्रशस्ततर है। कपिल तथा जैमिनी के निरीश्वरवाद से बढ़कर गौतम और पतंजलि का सेश्वरवाद सत्य एवं प्रशस्त है। जब यों विवेचन किया जाता है तब संसार के सभी दर्शन और धर्म परस्पर-समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार संसार के अनेकानेक दर्शन और धर्म-निरपेक्ष सत्य ब्रह्मदर्शन में—अर्थात् परम सत्य एवं सर्व-चराचर में पूर्ण परमात्मवस्तु का अपने हृदय में अपने ही रूप में साक्षात्कार करके मानव-जीवन को कृतार्थ बनाने में—एक मुमुक्षु की सहायता करते हैं। इसलिए ये सभी दर्शन त्याज्य नहीं हैं।

परन्तु हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि सभी द्वैत दर्शनों की समाप्ति अद्वैत दर्शन में होती है, अर्थात् ये उसमें समा जाते हैं। जीव, ईश्वर

तथा जगत् के रूप सभी द्वैत अद्वैत ही हैं । जब निरतिशय सत्य एवं सब के आधार अद्वैत की प्राप्ति होती है तो सभी द्वैत प्राप्त हो जाते हैं । इसलिए इसमें संदेह नहीं कि द्वैत में पड़े हुए भी घबराये बिना, अद्वैत में पहुँच क्रीड़ा करना ही परम पुरुषार्थ है । एक कहानी के द्वारा यहाँ निर्दिष्ट करना चाहता हूँ कि अद्वैत-प्राप्ति केसिवा द्वैत-प्राप्ति में सब की प्राप्ति स्वप्न में भी संभव नहीं है—

एक बार कुबेर के समान एक बड़े अमीर अपनी सारी संपत्ति वसीयत-नामे के द्वारा अपने सबसे प्यारे एक गुलाम के लिए दान करके संसार से कूच कर गये । पर वसीयतनामे में उन्होंने यह भी लिख दिया था कि मेरी विपुल संपत्ति में से मेरे पुत्र अपने लिए सबसे प्यारी और कीमती कोई एक-एक वस्तु ले सकते हैं । इस निर्देश के अनुसार हरएक पुत्र ने अपने लिए एक प्यारी कीमती वस्तु चुन ली । बड़े पुत्र ने राजमहल लिया । दूसरे पुत्र ने सुन्दर बगीचा चुन लिया । तीसरे ने रत्नों के जड़े मयूर सिंहासन को ले लिया । इस प्रकार हर एक ने एक-एक वस्तु चुन ली और तृप्त हो गया । इस प्रकार जब सब का चुनाव पूरा हुआ तो युवक और कृशगात्र उनके छोटे पुत्र ने उठकर कहा—"मैंने अपने पिता के इसी गुलाम को अपना धन स्वीकार किया है ।" अंतिम पुत्र की यह बात सुनकर वहाँ आये हुए न्यायाधीश और कर्मचारी दंग रह गये । उस लड़के की बुद्धि-कौशल की उन्होंने भूरि-भूरि सराहना की । दूसरे पुत्रों ने पिता की संपत्ति से एक-एक कीमती पुस्तक चुन ली थी, फिर भी गुलाम के पास कितनी ही बड़ी संपत्ति बाकी थी । कानून के अनुसार मालिक गुलाम की संपत्ति का भी मालिक होता है । इसलिए जब वह लड़का गुलाम का मालिक बना तो गुलाम की विशाल संपत्ति का भी अधिपति बन बैठा । जिसको पाने से सब प्राप्त होते हैं, उस मूल वस्तु को उस लड़के ने वर लिया और सब कुछ पा लिया ।

००

१४. खोचरनाथ

खोचरनाथ का वर्णन करने से पूर्व आज मेरी इच्छा है कि मैं उपनिषद् के एक प्रसंग की चर्चा करूं।

छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में जो आख्यायिका प्रस्तुत की गयी है उसे सब उपनिषदों का सार माना जा सकता है। संक्षेप में वह आख्यायिका इस प्रकार है—

उद्दालक नामक एक महर्षि ने बारह वर्ष के श्वेतकेतु नामक अपने प्यारे पुत्र को यों आज्ञा दी, "रे श्वेतकेतु ! तू जाकर गुरुकुल में निवास कर। वेदाध्ययन पूरा करके ही यहाँ लौट आ। हमारे कुल का कोई भी व्यक्ति वेदाध्ययन किये बिना केवल नाम-मात्र के लिए ब्राह्मण नहीं रहा है।" पिता की आज्ञा पाकर श्वेतकेतु गुरुकुल में जाकर रहा और वहां उसने बारह साल बिताकर सब वेदों का अर्थ-सहित अध्ययन कर लिया। जब वह घर लौटा तो उसे अपने अध्ययन पर बड़ा गर्व था। उसमें लेशमात्र भी नम्रता नहीं थी।

अभिमानी एवं स्तब्ध-प्रकृति श्वेतकेतु को देखकर उसे उचित ज्ञान देने के उद्देश्य से उपोद्‌घात रूप में उद्दालक ने यों प्रश्न आरंभ किया—"हे श्वेत-केतु ! इतने अभिमानी बनने के लिए कौन-सी श्रेष्ठ विद्या तूने अपने उपाध्याय से सीख ली है ? एक मृत्-पिंड को आँखों से देख लेने पर उसके विकार घट आदि भी देखे हुए से हो जाते हैं। क्योंकि कारण से कार्य भिन्न नहीं होता। घट आदि मिट्टी के नाम-मात्र विकार हैं। अत: कारण रूपी मिट्टी ही सत्य है। वैसे ही जिस उपदेश (ब्रह्म) को पाने से यह सारा जग समझ में आ जाता है, क्या उस महान उपदेश को तूने अपने आचार्य से प्राप्त कर लिया ?"

पिता का यह प्रश्न सुनकर श्वेतकेतु ने विनीत हो कर कहा, "पिताजी, जिस वस्तु के बारे में आपने कहा, उसे मेरे उपाध्याय नहीं जानते। अगर जानते तो मुझ गुणवान् पर दया कर वे ज़रूर मुझे उसका उपदेश देते। इस-लिए पिताजी ! आप ही मुझे उसका उपदेश देने की कृपा करें।"

पिता बोले—'ऐसा ही हो ! तुझे उस वस्तु का उपदेश दूंगा। साव-धानी के साथ सुनो।" इस प्रकार कहते हुए उद्दालक ने अपने पुत्र के लिए उस गहन और निगूढ़ आश्चर्य वस्तु को यों स्पष्ट किया—

—"प्रिय पुत्र श्वेतकेतु ! यह नामरूपात्मक जगत अपनी सृष्टि के पहले ब्रह्म-(परमात्म-) स्वरूप था। ब्रह्म सजातीय आदि भेदों से हीन अखंड सद्वस्तु है। कुछ लोगों का यह मत है कि यह जगत अपनी उत्पत्ति के पहले शून्य-स्वरूप था और शून्य से इस जगत की उत्पत्ति हुई है, किन्तु यह मत ठीक नहीं है। असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? असत् से सत् पैदा होगा तो वन्ध्या स्त्री का पुत्र कई बच्चों का पिता बनेगा और मधुप आकाश-कुसुमों का मधु पीकर मदोन्मत्त हो जाएंगे। अतः शून्यवाद बिलकुल अप्रामाणिक है।"

—"माया शक्ति से युक्त उस परमात्मा ने जगत की सृष्टि करनी चाही और धीरे-धीरे आकाश, वायु तथा उसके बाद अग्नि, जल एवं पृथ्वी की सृष्टि की। इन पंचभूतों से रचनात्मक स्थूल जगत् की रचना भी की। परमात्मा ही जीव के रूप में सब शरीरों में प्रविष्ट हुए। वे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक सब पदार्थों के कार्यभूत हैं। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता, इसलिए उनमें भूतों से भिन्न कोई वस्तु भाव में स्थित नहीं है। वस्तुतः ये सब नाम मात्र के लिए हैं, और इसलिए असत्य हैं; भूत ही सत्य है। किन्तु भूत केवल विकार-मात्र हैं। इसलिए उनके कारण से अभिन्न हैं और इसी हेतु कारण की अपेक्षा असत्य हैं। तू समझ ले कि यों इस भौतिकात्मक सारे जगत का मूल कारण, अर्थात् उपादान कारण एवं निमित्त कारण, सिर्फ परमात्मा है, और इसलिए केवल वही परमात्मा सत्य है तथा यह सारा जगत् नाम-मात्र के लिए वर्तमान विकार-मात्र है और इसलिए असत्य है।"

—"जैसे धागे से बद्ध पक्षी इधर-उधर उड़कर कहीं आश्रय पाये बिना अपने बंधन-स्थान की ही शरण लेता है, वैसे ही जीव भी जागृति एवं स्वप्नों में अपने कर्म के अनुसार नाना प्रकार के सुख, दुख आदि भोगकर कहीं विश्राम पाये बिना सद्वस्तु ब्रह्म की ही शरण में आता है। ऐसी सत्-संपत्ति ही जीव की निद्रा की दशा है। अभिप्राय है कि सुषुप्ति दशा में जीव जिस में एकता को प्राप्त होता है, वही जगत का उपादान सद्वस्तु प्रस्तुत ब्रह्म है।"

—"स्थावर और जंगम सभी पदार्थ इस ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। स्थिति की दशा में ब्रह्म के आश्रय में जीते हैं। प्रलयकाल में इसी परमात्मा

में लीन हो जाते हैं। ऐसा ब्रह्म कितना सूक्ष्म है। वही तीनों कालों में भी एक-मात्र अमर सत्य वस्तु है। जैसे कल्पित घट के लिए मिट्टी स्वरूप है वैसे ही कल्पित जगत के लिए ब्रह्म स्वरूप है—तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! हे श्वेत-केतु वह तू है, अर्थात् तू वही है ब्रह्म है। वह ब्रह्म तुझे छोड़ और कोई नहीं है।"

—"भिन्न भिन्न स्थानों में स्थित भिन्न-भिन्न वृक्षों से रस-संचय करके मधु-मक्खियाँ मधु पी लेती हैं। जब वे रस मधु के रूप में एक भाव को प्राप्त हो जाते हैं तो फिर केले का रस, आम का रस आदि का भेदभाव नहीं हो सकता। वैसे ही निद्रा, मृत्यु एवं प्रलय में प्राणी उस सत्स्वरूप ब्रह्म में प्रवेश करते हैं तो भी एकीभूत हो जाने के कारण वे नहीं जानते कि "मैं अब ब्रह्म में स्थित हूँ। सभी जीव प्रतिदिन सुषुप्ति में ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, फिर भी यह न जानने के कारण कि वह सुषुप्ति-स्थान ब्रह्म है और स्वयं वही ब्रह्म है। मनुष्य, बाघ, सिंह, वराह, कीड़ा या मशक—ये जिस रूप में सोये, अर्थात् सत् को प्राप्त किया, उसी रूप में उसी वासना से भरकर, वे उससे जाग भी उठते हैं। तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! हे श्वेतकेतु ! इस प्रकार निद्रा में अज्ञात रूप से प्रतिदिन प्राणी जिसको प्राप्त करते हैं वह ब्रह्म तू ही है। तुझे छोड़ वह ब्रह्म अलग नहीं हैं।"

—"गंगा, गोदावरी, सिन्धु आदि भिन्न-भिन्न नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं और उससे एकता प्राप्त कर समुद्र रूप में हो जाती हैं। फिर उस एकभाव के कारण गंगा, गोदावरी, और सिन्धु के नाम से वे नदियाँ अलग-अलग नहीं जानी जातीं। वैसे ही सभी जीव-जंतु अखंड सत् को प्राप्त कर फिर उससे व्यवहार-भूमि में आ जाते है, फिर भी वे नहीं जानते कि हम सत् से ही आते हैं। तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! हे श्वेतकेतु ! वह सत् स्वरूप ब्रह्म तू ही है। तू वही ब्रह्म है।"

o

—"हे प्रिय पुत्र ! इस मानव-वृक्ष के मूल पर यदि कुल्हाड़ी चलाएं तो, यदि जीव हो तो, वहाँ से रस निकले बिना न रहेगा। बीच में कुल्हाड़ी चलाएं तो जीव के रहने पर वहाँ से भी रस निकलेगा। चोटी पर मारें तो भी सजीव होने पर, वहाँ से भी रस-प्रवाह होगा ही। यह बड़ा-सा पेड़ अब सर्वत्र जीव-चैतन्य से व्याप्त होकर मूल से जल आदि प्राप्त कर सानन्द वर्तमान हैं। लेकिन इस महान वृक्ष की किसी शाखा को जीव त्याग दे तो वह बिल्कुल

वत्स! नमक उस जल में पिघल गया है। उस जल के ऊपर से एक बूंद लेकर जीभ पर रखो।

पिता जी, जीभ पर रखी।

कैसा लगता है?

नमकीन लगता है।

बीच से एक बूंद लेकर जीभ पर रखो।

जीभ पर रखी।

कौन-सा रस है?

नमक का रस है।

नीचे से एक बूंद लेकर जीभ पर रखो।

जीभ पर रखी हैं।

कौन-सा रस लगता है?

नमकीन लगता है।

हे प्रिय पुत्र! उस जल में लवण व्यापक रूप से स्थित है। किंतु उसे दर्शन या स्पर्श से नहीं समझ सकते। जीभ से ही वह ग्रहण किया जा सकता है। यद्यपि वह दर्शन एवं स्पर्श से नहीं समझा जा सकता है, तथापि दूसरे उपायों से स्पष्ट समझा जा सकता है। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! सद्वस्तु एवं सर्वव्यापी वही ब्रह्म है तू। तू ही है वह ब्रह्म।"

●

गाँधार देश के एक पुरुष को डाकुओं ने पकड़ लिया और आँखें बाँधकर बहुत दूर एक विजन एवं विशाल वन में ले जाकर छोड़ दिया। वन के अन्दर पड़ा वह पूरब-दक्षिण को पहचाने बिना भयभीत हो गया और व्याकुल होकर ऊँची आवाज़ में दीनता के साथ विलाप करने लगा कि मुझे डाकुओं ने आँख बाँध कर जंगल में लाकर छोड़ दिया है।

एक दयालु पथिक उसकी आर्तनाद सुनकर उस वन्दी के पास गया और उसकी आँखों का बंधन खोलकर उसे ठीक मार्ग पर लगा दिया और बताया कि गाँधार देश कितनी दूर है और वहाँ पहुँचने का मार्ग कौन-सा है। उसके निर्देश को समझकर अनुमान-कुशल वह व्यक्ति हर एक गाँव में जाकर आगे का मार्ग पूछ कर जान लेता है और धीरे-धीरे गाँधार देश में अपने घर पहुँच जाता है।

"यों, मोहरूपी पट से आवृत्त आँखों के साथ धर्माधर्म के डाकुओं के अनेक अनर्थों से भरे इस देह-रूपी वन में प्रविष्ट दुःखी पुरुष को देखकर कृपालु आचार्य उसकी आँखें खोलकर सच्चे मार्ग का उपदेश देते हैं। उपदेश-ग्रहण में पटु एवं विचार-निपुण वह पुरुष देह-रूपी वन से निकलकर धीरे-धीरे अपने घर उस सद्वस्तु में पहुँच जाता है। इसलिए समझ ले कि आचार्य का उपदेश सद्वस्तु को प्राप्त करने का मुख्य उपाय है। तत्त्वमसि श्वेत-केतो ! वह सद्वस्तु तू ही है। तू ही वह सद्वस्तु है।"

०

"मुमूर्षु पुरुष के पास बंधु-बांधव जाकर बैठ गये और उससे पूछा कि क्या तू मुझे जानता है? कह दे कि मैं कौन हूँ? किन्तु जब तक शब्द मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परदेवता (सद्वस्तु) में लीन नहीं होते तब तक वह पास बैठे बंधुओं को जानता है। जब शब्द, मन आदि क्रमशः सद्वस्तु में विलीन हो चुके तब फिर वह किसी को नहीं जानता। यों, अविद्वान जिस क्रम से अपनी मृत्यु के समय सद्वस्तु को प्राप्त हो जाता है वैसे ही विद्वान भी इस शरीर में रहते हुए प्रारब्ध को भोगकर अन्ततः सद्वस्तु से एकत्व पा जाता है, अर्थात् विदेह, कैवल्य प्राप्त करता है। यद्यपि अविद्वान और विद्वान् दोनों के लिए सत्संपत्ति में कोई भेद नहीं होता, तथापि अविद्वान अविद्या, काम एवं कर्मों के कारण फिर से जन्म ग्रहण करता है और विद्वान पुनरावृत्ति से हीन होकर उसी सद्धाम में विराजता है। तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! हे श्वेतकेतो ! वही सद्वस्तु तू है। तू ही वह सद्वस्तु है।"

"इसने चोरी की; इसने धन चुरा लिया—ऐसा कहते हुए राज-कर्मचारी एक के हाथ बाँध लेते हैं। वह अपराध स्वीकार नहीं करता, इसलिए यह परीक्षा करने के लिए कि वह चोर है या नहीं, प्रज्वलित परशु को उस के हाथों में देकर उससे पकड़वाते हैं। वह झूठ बोलता है तो उसका हाथ जल जाता है; यदि वह सत्यवादी हो तो उसका हाथ दग्ध नहीं होता। जलते हुए परशु तथा हथेली का संयोग यद्यपि सत्यवादी और असत्यवादी के लिए समान ही है, तथापि सत्यवादी की सत्य रक्षा करता है और असत्य असत्यवादी का भक्षण करता है। इस तरह शरीर के नष्ट होते समय विद्वान और अविद्वान दोनों के लिए सत्संपत्ति समान है, फिर भी सद्वस्तु ब्रह्म को अपने रूप में समझ लेने से विद्वान फिर शरीर को धारण नहीं करता।

अविद्वान् तो सत्यवस्तु को जाने विना असत्य देह आदि में अभिमान करता है, जिसके फल-स्वरूप वह फिर भी शरीर धारण करता है। तत्त्वमसि श्वेत-केतो ! वही सत् ब्रह्म तू है। तू ही वह ब्रह्म है।"

"इस तरह नौ बार 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो !' का कई दृष्टांतों एवं उपपत्तियों के साथ उद्दालक का उद्दाम उपदेश सुनकर विचारवान होकर श्रेष्ठ अधिकारी श्वेतकेतु ने करतल-गत बिल्व के समान यह धारण कर लिया कि मैं देह आदि से भिन्न आत्मतत्त्व हूँ, यह आत्मतत्त्व ही सारे जगत का आधार ब्रह्म है, और इसके बाद उसने जीवन-मुक्त, कृतकृत्य एवं सुख-स्वरूप बन कर संसार में विहार किया।

●

प्राचीन महर्षियों की विचार-धारा ऐसी थी। इस प्रकार बड़े ही सूक्ष्म विचार से वस्तु का निर्णय कर वे सदा उसमें रमकर आनंदित होते थे। ऐसी चिंता के बिना, केवल तपस्या, उपासना अथवा एकासन-स्थिति से वस्तु का निर्णय या उससे होनेवाली निरतिशय शांति ज़रा भी नहीं हो सकती। कितनी ही तपस्या करो तो भी अहंकार नष्ट नहीं होता। विचार-जनित वस्तु-निष्ठा में ही अहंकार समूल नष्ट हो जाता है। जब तक अहंकार नष्ट नहीं होता तब तक अनर्थ की आत्यन्तिक निवृत्ति या शांति नहीं हो सकती। सभी अनर्थों का एक मात्र कारण अहंकार ही है। कीड़े-मकोड़ों से लेकर हिरण्यगर्भ तक के सभी प्राणी इस अहंकार रूपी धागे में बँधे हुए हैं। प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय रूपी इस जगत् का संचालन ही इस अहंकार के द्वारा होता है। इसी अहंकार को वेदांती अध्यास कहते हैं। "अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिः," इस का तात्पर्य यह है कि जो नहीं है, इसके होने की बुद्धि, अर्थात् जो आत्मा नहीं हैं, उन देह आदि में आत्मा की बुद्धि अध्यास कहाता है। वही अहंकार है। अहंकार ही संसार है। अहंकार की निवृत्ति ही मोक्ष है। अहंकार को नष्ट कर आत्मनिष्ठ होकर सब चराचरों में आत्मा के, अर्थात् ईश्वर के, दर्शन कर लेना ही मुक्ति का पद है। वैसा दर्शन करना ही धन्य एवं सर्वोतम जीवन है। यह केरलीय प्रसिद्ध गीत इसी ईश्वरीय जीवन की ओर संकेत करता है—

आनंद चिन्मय हरे ! गोपिका-रमण !
आनेन्न भावमिह तोन्नायक वेणमिह

प्रदान करता है। मठ से थोड़ी ही दूर एक सुन्दर गाँव है, जिसके आस-पास एक तरह की मूंग तथा कुछ अन्य अनाज की खेती होती है।

चन्दननाथ में मैं ज्वर-पीड़ित रहा था। मुझे वहाँ विश्राम भी नहीं मिला था, वल्कि मुझे पर्याप्त श्रम करना पड़ा, किन्तु फिर भी मेरे मन में कैलास-यात्रा का दृढ़ संकल्प तथा अदम्य उत्साह था। 'डीठा' आदि वहाँ के भक्तों ने मेरे शारीरिक स्वास्थ्य को देखते हुए और अधिक सत्संग की इच्छा से मुझसे कई वार प्रार्थना की थी कि ऊपर की ओर की यात्रा उस साल के लिए स्थगित कर दूं, किन्तु कैलास-दर्शन की मेरी इच्छा अति प्रवल थी, और मैंने एक-दो सप्ताह में ही चन्दननाथ से ऊपर की यात्रा आरम्भ कर दी।

आनन्दगिरि और दूसरा एक ब्राह्मण सेवक मेरे साथ थे। मधु और घी मिलाकर वनाया सत्तू वहाँ के लोगों के प्रेम की यादगार में हमने पाथेय के रूप में ले लिया था। एक भक्ताग्रणी 'डीठा' ने कुछ दूर तक भक्ति के साथ हमारी अनुयात्रा की; कुछ धन, अर्थात् नेपाल देश में प्रचलित कुछ मोहरें, राह-खर्च के लिये हमें दीं। धन के लोभ से नहीं, उनके प्रेम एवं उदार-बुद्धि के वशीभूत होकर मैंने उसे स्वीकार कर लिया और उसे धन्यवाद दिया। उनसे नियुक्त एक युवक कर्मचारी भी अगले गाँव तक एक दिन हमारी परिचर्या के लिए श्रद्धापूर्वक हमारे साथ चला।

इस मार्ग में हिम-पूर्ण शिलाएँ मुझ अस्वस्थ के लिए अनेक वार वाधक वनीं। किन्तु ईश्वर की शरण में, ईश्वर की ही सहायता में, तनिक भी अधीर हुए विना मैं धीरे-धीरे पहाड़ पर चलने लगा। एक वड़े-से पहाड़ के चढ़ाव-उतार के वाद शाम के पहले हम एक गाँव में जा पहुँचे। ग्रामीण लोगों ने हमारा स्वागत किया, हमें एक देवमंदिर में ले जा कर हमारा आदर-सत्कार किया तथा रात के भोजन के लिए वहाँ से प्राप्य अच्छे-अच्छे पदार्थ गाँव से इकट्ठे करके हमारे सामने रख दिये। काठमांडु से यहाँ तक हम राज-सम्मानित रहे। इसी कारण एक राजपुरुष हमारे साथ रहा था। यहाँ से आगे यद्यपि ऐसा कोई व्यक्ति हमारे साथ नहीं था, फिर भी साधुओं में अति श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले नेपाल के ग्रामीण लोगों ने ज़रा भी उपेक्षा दिखाये विना, आदर के साथ सर्वत्र हमारी सेवा की। हमने अधिकतर रातें मार्ग के पास के गांवों में विना विशेष कष्टों के वितायी थीं। किन्तु कभी-कभी कुछ गांवों में अप्रत्याशित रूप से कुछ कष्ट भी हुआ। हिंस्र जंतुओं से परिपूर्ण इस महा वन में हमें एक रात वितानी पड़ी थी। इस वन में रात्रि के समान घोर अन्धकार था। झिल्ली के झंकार से

गुंजायमान था। हमने बहुत सी लकड़ी इकट्ठी की और प्रचंड अग्नि जलाकर बड़े सावधानी के साथ जागते हुए वह रात बिता दी थी। वह रात भुलाये भी नहीं भूलती।

इस प्रकार देवदारु आदि अनेक परिचित एवं अन्य अपरिचित दिव्य वृक्षों, कई प्रकार की लताओं तथा कई दिव्य गुल्मों से भरे घने वनांतरों और बीच-बीच में कई पवित्र गाँवों के दर्शन करते हुए प्रतिदिन यात्रा करते रहे। पवित्र एवं अनन्य महिमामय होने तथा पवित्रात्मा पर्वतीय लोगों से आबाद होने के कारण ही मैंने इन गाँवों के लिए 'पवित्र' विशेषण का प्रयोग किया है। किन्तु स्वच्छता के दृष्टि से तो वे गाँव 'बिल्कुल गन्दे' कहने योग्य हैं। हिमालय के ग्रामीण यद्यपि बाहरी रूप से अस्वच्छ दिखायी देते हैं, तथापि आंतरिक रूप से वे शुद्धात्मा हैं। यहाँ के पर्वतीय लोग बिल्कुल अशिक्षित एवं दरिद्र-नारायण हैं और उनमें शारीरिक शुद्धि, वस्त्र-शुद्धि, गृह-शुद्धि आदि बाहरी शुद्धि बिल्कुल नहीं होती। उनके तन मिट्टी एवं स्याही से भी अधिक मलिन थे, वे कई दिनों तक नहाते नहीं थे। उनके कपड़े और घर देखनेवालों के मन में घृणा, उत्पन्न करते थे। फिर भी छल, कपट, असत्य, अधर्म, अश्रद्धा, असंतोष, भोगलालसा, अलसता आदि अवगुण उनके पास तक फटकने भी नहीं पाये हैं। वे सत्संग से शून्य थे, फिर भी न जाने ऐसे उदात्त गुण उनमें कहाँ से आ गये थे। वस्तुतः वे प्राकृतिक रूप से ही शुद्ध थे। उनका सम्पर्क नागरिकों से हुआ ही नहीं था—तभी वे निश्छल थे। उनके जीवन का यह पक्ष निःसंदेह अनुकरणीय है। उन्हें रास्ते में यदि कहीं कोई बर्तन या कपड़ा पड़ा दीखता है तो, चाहे वे कितने ही दरिद्र क्यों न हों, कई दिनों के बीत जाने पर भी वे उसे हाथ से छूते तक नहीं। किन्तु उनकी यह विलक्षण शुद्ध-प्रकृति कभी-कभी सीमा को इतनी लाँघ जाती है कि उन्हें मूर्ख या कायर कहना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त इनकी अपने देवता में अनन्य भक्ति है। इसी कारण भी इन्हें शुद्धात्मा कहना गलत न होगा। देव-पूजा के विषय में इनकी तुलना तमिल देश में कण्णप्प भक्त के नाम से प्रसिद्ध तिण्ण से की जा सकती है जो गण्डूष जल तथा पत्ते से ढँककर आग में डाल कर बीच-बीच में रुचिपूर्वक चाट-चाट कर चखते हुए—पकाये मृग-माँस से महादेव की पूजा किया करता था। ये लोग मलिन शरीर और मलिन वस्त्रों के साथ बकरों को काट कर मन्दिर

को रक्तमय बनाकर अपने जूठे खाने को निवेद्य के रूप में देवता के सामने रख जो पूजा करते हैं वह मलिन ही कही जा सकती है ।

हिमालय के ये लोग क्षुद्र देवताओं की ही नहीं, साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान की भी मांस के निवेद्य से पूजा करते हैं । कैलास-दर्शन के बाद लौटते समय मैं भाद्रपद की श्रीकृष्णाष्टमी के दिन तिब्बत के नीचे 'गरब्यांग' नामक एक गाँव में आ गया था । ऐसा शायद ही कोई हिन्दू हो जो श्रीकृष्ण भगवान के इस पवित्र जन्मदिन का स्मरण और आदर न करता हो । वहां की पाठशाला के अध्यापक एक बूढ़े कुलीन ब्राह्मण ने रात को एक बजे मेरे शयन-स्थल पर आकर मुझे निमन्त्रण दिया कि मैं थोड़ा-सा श्रीकृष्ण-प्रसाद लेने के लिए पूजा-स्थान की ओर आ जाऊँ । मैं वहाँ गया तो उन्होंने मुझे एक ओर बिठा दिया और भगवान के सामने निवेदित कई चीजें परोसने लगे । यह कहते हुए कि "क्या स्वामीजी मांस खाएंगे ? माँस भी भगवान के लिए निवेदित है," एक बर्तन में माँस लेकर वे मेरे पास आये । मैंने मुस्कराते हुए उसे लेने से इन्कार कर दिया । शिव ! शिव ! कितने ही अन्ध विश्वासों ने इस आर्य-भूमि में जड़ पकड़ रखी है । दिन भर गायें चराते हुए केवल दूध-मक्खन पर शरीर पालनेवाले प्रेमनिधि जगत्पिता श्रीकृष्णचन्द्र ने क्या किसी से यह कहा था कि बकरे का माँस खाने पर ही पेट भरेगा ? क्या देवी-देवताओं ने किसी को यह आज्ञा दी कि बकरे-भैंस का रक्त पीने पर ही अन्दर की प्यास बुझेगी ? अहो कितने विचित्र अन्ध-विश्वास हैं ये !

यद्यपि पहाड़ी लोगों की यह देव-पूजा यों बाहरी दृष्टि में बड़ी ही मलिन है, तथापि शुद्ध मानसिक भाव से करने के कारण इसे आंतरिक दृष्टि से से निर्मल कहना अनुचित नहीं है । उनका दृढ़ विश्वास है कि प्राणी-हिंसा एवं रक्त-धारा के बिना देवता का प्रसाद नहीं मिलेगा, और यही विश्वास ही उन्हें ऐसे तामस-पूजा-कर्म के लिए प्रेरणा देता है । ईश्वर के पास पहुँचने के न जाने कितने शुद्ध एवं सरल सुमार्ग हैं उन्हें जाने बिना कुत्सित तथा कुटिल कुमार्गों पर चलनेवाले इन मनुष्यों पर समझदार लोगों को फिर भी क्रोध नहीं आता ।

निरंतर होनेवाली वर्षा से कई कठिनाइयों को झेलते तथा महान् पहाड़ों के दिव्य दर्शन से आनंद उठाते पांच-छः दिन के प्रयाण के बाद मैं 'शीमकोट' नामक एक मुख्य स्थान पर पहुँच गया । चन्दननाथ के 'दीठा' से हमारे आने की सूचना पाकर वहाँ के 'दीठा' ने भी हमारा सत्कार किया, इसलिए वहाँ का निवास हमारे लिए अत्यन्त विश्रामजनक रहा । न्यायाधीश

ब्राह्मण युवक थे और बड़े आस्तिक एवं साधुभक्त थे । एक ब्राह्मण के ही समान वे बड़े तेजस्वी पुरुष भी थे । यहाँ के निवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय और अति शूद्र कहलानेवाली नीच जाति के लोग थे । इन सब लोगों के वेश अति मलिन थे । इसी कारण किसी की जाति पहचानना कठिन था । यहाँ तक कि विशेष रूपसे समझाये बिना साधारणतया किसी ब्राह्मण को भी पहचानना सरल नहीं था । फिर भी कभी-कभी जब ब्रह्मतेज से युक्त कोई व्यक्ति मिल जाता था तो मेरा मन बहुत खुश होता था ।

७

इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण-गुण ही ब्राह्मणत्व के लिए आवश्यक है । इस के बिना किसी को ब्राह्मण कहना निरर्थक है । अन्दर और बाहर की कालिमावाला कोई शरीर ब्राह्मणत्व के लिए कैसे अधिकारी हो सकता है ? 'शमो दमस्तपः शौचः' आदि कर्म किये बिना जन्म-सिद्ध वर्णविभाग भला कैसे सनातन, सर्व-सम्मत तथा सभी के लिए आदर का पात्र बन सकता है ? यह ठीक है कि पितृ-पितामहों की परम्परा से एक पुत्र को कई शुभाशुभ संस्कार मिल जाते हैं, इसलिए जाति-महिमा को बिलकुल त्याज्य नहीं समझना चाहिए । फिर भी इस मूल तत्त्व को कोई न भूले कि गुणों के द्वारा ही जाति को यह महिमा प्राप्त हुई है । यदि ब्राह्मण-कुल में जन्मा कोई श्रेष्ठ व्यक्ति हो तो यह एक तथ्य है कि इस कुल में जन्म लेने का फल ब्राह्मण-गुणों की संपत्ति है तथा यही संपत्ति ही उसकी श्रेष्ठता का मुख्य कारण है ।

इसके अतिरिक्त यह भी विचार करना चाहिए कि जन्म लेनेवाले को जन्म का फल मिला है या नहीं । अपने-अपने कुलों के गुणों के संपत्ति-फल के बिना सिर्फ़ जन्म से ही कोई ब्राह्मण या चंडाल कहलाता है तो ब्राह्मण शब्द और चंडाल शब्द ऐसे रूढ़ि-शब्द बन जाएंगे जैसे किसी काली-कलूटी कन्या को गौरी या किसी विरूपता की मूर्ति बालिका को सुन्दरी का नाम देकर पुकारते हों तथा उनके अर्थ जाननेवाले विद्वान के लिए ऐसा प्रयोग परिहास का विषय बन जाएगा । यदि किसी ब्राह्मण में गुण दिखायी पड़ते हैं तो वह श्रेष्ठ है; वैसे ही किसी चंडाल में चंडाल-गुण दीखते हैं तो वह नीच है । इसके विपरीत एक ब्राह्मण में चंडाल-गुण और एक चंडाल में ब्राह्मण-गुण दीखते हैं तो फिर जाति को मुख्यता देकर उसके अनुसार उनकी उच्चता-नीचता का निर्णय करने के लिए विचारशीलों का मन तैयार नहीं होगा ।

इस प्रकार एक उत्तम संस्कृति के सच्चे ब्राह्मण 'दीठा' की देखरेख एवं सत्कार में वहाँ शीमकोट गाँव के एक खाली घर में दो-एक दिन विश्राम करने के बाद वहाँ से ऊपर की ओर मैंने यात्रा शुरू की। चन्दननाथ से खोचरनाथ लगभग सौ डेढ़ सौ मील के अन्तर पर स्थित है। हमें आधा रास्ता अभी और गंभीर शिलोच्चयों को पार करते हुए जाना था, जिससे पांच-छः दिन लगने थे। घनघोर घटाएँ उमड़-घुमड़ कर लगातार पानी बरसाने लगीं, मानों आकाश अतर्कित महिमा के साथ श्रावण महीने का स्वागत कर रहा हो। जो भी हो, वर्षा और गर्मी में समान रूप से कष्टों की परवाह किये बिना हम चलते चले गये। रास्ते में नदियों पर बने लकड़ी और रस्सी के पुल भी आये जो शिथिल थे, तथा पैर रखने पर हिल-डुलकर विपत्ति की उद्घोषणा कर देते थे। इन्हें भी पार करते गये। जहाँ तहाँ बिना पुलों की नदियों में उतर कर उन्हें लाँघते गये। मार्ग में आये गाँवों में जाकर हम अन्न इकट्ठा करके पकाकर खाते और विश्राम करते, और फिर अपनी यात्रा रूपी महा तपस्या को बेरोक आगे चलाते रहे। प्रकृति के द्वारा सर्वत्र शोभित परमात्मा की महिमा एवं सुन्दरता को देख-देख मेरा मन एक विलक्षण और दिव्य आनंद-पद पर सदा विहार करता रहता था। इसलिए मदिरा से उन्मत्त मनुष्य के समान मुझे यात्रा-संबंधी कष्ट अधिक नहीं सताते थे।

ऊपर की ओर जाते हुए पहाड़ की उन्नति के साथ-साथ शीत की असहनीयता भी बढ़ती गयी। 'शिला-नदियों' भी रास्ते में आयीं, जिन का जल इतना शीतल था कि क्षण भर में शरीर के अवयवों को पत्थर के समान स्तब्ध बना देता था। हमारे देश केरल में बूढ़े लोग ऐसी नदियों का ही 'पाषाणी नदियों' के रूप में अतिशयोक्ति के साथ वर्णन करते हैं। काशी आदि उत्तर प्रदेश के पुण्य क्षेत्रों की यात्रा करके लौटनेवाले बूढ़ों के द्वारा प्रचलित इन पाषाणी नदियों की अत्युक्ति-भरी अद्भुत कहानियाँ अपने देश में अपने बाल्यकाल में सुनने का सौभाग्य मुझे कभी-कभी मिला था। मैं मनोराज्य में जिन अद्भुत नदियों को स्वप्न की तरह देखता था उन्हें आज ईश्वर-रचित बाहरी राज्य में प्रत्यक्ष देख रहा था। तिब्बत देश में एक कहावत है कि "अंगारे हाथ से तथा पानी दस्त-पनाह से लेना चाहिए।" मालूम होता है कि वहाँ अग्नि के स्पर्श से जल का स्पर्श पीड़ा-जनक हो जाने

के कारण यह कहावत वनी होगी। लीजिए, अब हम दिव्य-चरित तिव्वत भूमि के निकट पहुँच गये हैं।

झीमकोट से चार-पाँच मील यात्रा करने के बाद 'थारी' नामक नेपाल भूमि की अंतिम सीमा के एक छोटे से गाँव में पहुँच गया। वहाँ घर या आवादी नहीं दिखायी देती थी। यद्यपि वहाँ के नेपाली कर्मचारी को नीचे से आदेश दिया गया था कि हमारा उचित प्रबन्ध किया जाए, तथापि वह उस समय वहाँ नहीं थे। अतः आशा के अनुसार हमें वहाँ विश्राम नहीं मिला था।

वहाँ भी शीत अधिक था, और इस अति कठिन बाधा को मैं अपनी तितिक्षा आदि गुणों से नहीं, केवल ईश्वर की कृपा से ही अस्वस्थ शरीर होते हुए भी सह सका था। जब उचित आहार, अर्थात् भात या गेहूँ के आटे की रोटी पकाकर नहीं खा सकता था, तब सत्तू में गुड़ मिलाकर चाय में, या उस के बनाने में असुविधा होने पर पानी में गूंथकर खा लेता था। इसलिए मेरा शरीर अधिकाधिक अस्वस्थ तथा दुर्वल होता गया। हिम से आच्छन्न ऐसे अत्यंत शीतल उन्नत प्रदेशों में चावल, आटा आदि खाद्य पदार्थों तथा उनके पकाने के लिए लकड़ी के अभाव में प्रायः लोग सत्तू पर ही गुजर करते हैं। चूंकि सत्तू को आग में पकाने की जरूरत नहीं है, इसलिए इन प्रदेशों में यह मुख्य आहार के रूप में काम में लाया जाता है। हिमालय तथा तिव्वत के उच्च प्रदेशों में ईंधन के अभाव के कारण तथा प्रचंड वायु के झोकों से यात्रियों के लिए आग जलाना भगीरथ प्रयत्न के बिना संभव नहीं होता। किसी प्रकार मुश्किल से आग जला भी लें तो भी वहाँ के शीत जल और शीत वायु में चावल या दाल पका लेना तो और भी अधिक कष्ट-साध्य हो जाता है। कभी-कभी हम चावल पका लेते थे तो भी एक बार भी दाल पकाने में हम समर्थ नहीं हुए।

फिर कुछ दिनों के वाद, नेपाल देश की उत्तरी सीमा पर समुद्र की सतह से लगभग सत्रह हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित 'थारी" अथवा "नारा" के नाम से प्रसिद्ध घाट (नारा पास) को लाँघने के लिए तैयार होकर हम सवेरे आठ-नौ वजे से पहले खाना खाकर धीरे-धीरे पहाड़ पर चढ़ने लगे। वृक्ष, लता आदि से शून्य, बिलकुल नग्न एवं दिव्य मनोहर उस गिरिशिखर की ओर मैं ज्यों ज्यों चढ़ता गया, मेरा मन आश्चर्य तथा आनंद से प्रफुल्लित होता गया। इसी कारण कोई शारीरिक कष्ट जाने विना पहले से भी अधिक उत्साह के साथ घाट पर चलता रहा। पर्वत-घाट के विशाल मैदान में चमर

नामक गो-विशेष अधिक संख्या में विचरते एवं घास चरते दिखायी पड़े।

तीन बजे से पहले हम घाट की उच्च सीमा पर पहुँच गये। अहा ! कितना मनोहारी दर्शन है। ऐसे दिव्य दर्शनों का कैसे वर्णन करूं ? नारा घाट की उस उच्च सीमा से पश्चिम दिशा की ओर देखें तो वहाँ का दृश्य इतना आकर्षक है कि हम मनुष्य-लोक से दूसरे एक दिव्य लोक में पहुँच जाते हैं। रजत-शैलों के समान धवल, दीप्यमान कई हिम-शिखरों की पंक्तियों तथा उसकी असीम कांति को वाणी का विषय बनाना असंभव ही है। निस्सन्देह मधु की मधुरिमा के समान कई विशेष वस्तुएँ इस संसार में हैं जो वाणी का विषय न बनकर केवल अनुभूति का विषय बनती हैं। ऐसे अवर्णनीय पदार्थों में इस प्रकार की धवल, प्रौढ़ एवं उन्नत गिरि-मालाओं की सुषमा भी गणनीय है। ये हेमकूट सूर्य की किरणों के पड़ने पर दस गुने प्रकाशमान हो गये थे। इनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य ने मुझे उस घाट पर ही रोक लिया। ऐसा अनुमान है कि बदरीनाथ के निकट का चौखंबा शिखर और उसके पश्चिम में स्थित सुमेरु, केदारनाथ आदि ऊँचे शिखर यहाँ दीखनेवाली हिमकूट-परंपरा के अन्तर्गत होंगे।

यारीघाट एक मैदानी भूमि थी, जो वृक्ष, लता-गुल्मों से ढकी हुई नहीं थी। इसी कारण इस पर सदा सूर्य-किरणें पड़ती रहती थीं। उन दिनों सारा हिम पिघल चुका था और हमें घाट को पार करने में हिम की बाधा का सामना नहीं करना पड़ा। घाट की सीमा पर कठिन उतार शुरू हुआ। पहाड़ों पर यात्रा करने वालों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि चढ़ाई की अपेक्षा उतार ज्यादा खतरनाक होता है। उस विकट अवरोहण-मार्ग को धीरे-धीरे कई घण्टों में पार करके हम नीचे मनोहारी रूप में बहनेवाली 'कर्णाली' नामक छोटी सरिता के किनारे पहुँच गये। फिर पहाड़ के नीचे के भयानक एवं तंग मार्ग से कर्णाली के किनारे-किनारे हम आगे चलने लगे।

अब हम तिब्बत भूमि में ही चल रहे थे। घाट की उच्च सीमा पर उस पार तिब्बत और इस पार नेपाल के रूप में विभाजन किया गया है। तिब्बत भूमि में इस मार्ग पर हमें जो स्थान पहले मिल जाता है, वह खोचरनाथ है। शाम हो गयी है। दिन-भर आवश्यक अन्न-पान आदि के बिना कठिन पहाड़ के चढ़ाव-उतार के कारण थके-मांदे हम फिर आगे कदम रखने में असमर्थ हो चुके हैं। इतना ही नहीं; हमारे परिचारक ब्राह्मण तो हमारे साथ चलने में असमर्थ होकर दूसरे कुछ साधुओं के साथ पीछे रह गये थे।

कपड़े, सत्तू आदि आवश्यक चीजें उनके पास थीं, इसलिए उन्हें छोड़कर केवल हमारा—मेरा और आनन्दगिरि का—आगे बढ़ना अनुचित भी लगता था। इसी कारण आगे बढ़ना यद्यपि बिलकुल ठीक नहीं था, तथापि रात बिताने योग्य कोई स्थान मार्ग में नहीं दिखायी पड़ा, इसलिए फिर भी आगे बढ़ने के लिए हम मजबूर हो गये। संध्या बीत गयी और रात शुरू हुई। अतः प्राण-रक्षा के लिए हम दौड़ते हुए चले और थोड़ी ही देर में कर्णाली नदी का लकड़ी का पुल पार करके हम उस पार, विपत्ति के सहायक उस कैलासपति की कृपा से खोचरनाथ मठ में किसी प्रकार पहुँच गये।

खोचरनाथ नामक लामाओं का यह मठ बहुत विशाल एवं सुन्दर दीख पड़ा। हम शीघ्र ही सीधे अन्दर प्रविष्ट हुए। मोटे ऊनी कपड़ों के बने विभिन्न रंगों में रंगे विशेष आसनों पर दो पंक्तियों में आमने-सामने बैठकर पाठ करने वाले लामाओं के पास हम पहुँच गये। रमणीय रूप से अलंकृत विशाल मंदिर में भगवान बुद्ध की एक बड़ी-सी मूर्ति के सामने वे भजन कर रहे थे। बुद्ध-मूर्ति के भक्तिपूर्वक दर्शन कर लामाओं के आदेश के अनुसार उनकी पंक्ति में ही एक आसन पर मैं भी बैठ गया। बुद्ध की मूर्ति जैसी कई मूर्तियों के दर्शन एवं लामाओं के कुतूहल-दायक पाठ में मन संलग्न हो गया, और भूख-प्यास से पीड़ित थका-मादा मैं सब दुःखों को भूलकर समाहित भाव में देर तक वहाँ बैठा रहा। इसी बीच लामा लोगों ने कुशल-प्रश्न किया तथा चाय आदि देकर हमें आश्वासन दिया। मठ के बाहर एक खाली घर में कपड़े आदि के अभाव से बड़े कष्ट के साथ उस ठण्डी रात को बिताना पड़ा।

रात में तथा अगले दिन लामाओं की सहायता से मठ के अन्दर कई स्थानों और देवमूर्तियों के हमने दर्शन किये। कुछ लामाओं से, जिन्हें हिन्दी भाषा का थोड़ा-सा ज्ञान था, वहाँ प्रतिष्ठित कई देवताओं की ऐतिहासिक बातों को भी मैंने जान लिया। उन तपोनिधि लामाओं के उपरत, शांत एवं त्यागमय जीवन के बारे में मेरे मन में बड़ा आदर हुआ। यों विषय से विरक्त होकर, लोक-व्यापारों से बिलकुल अनभिज्ञ होकर तथा एकांत-वासी होकर तपस्या या तत्त्वचिंतन में एकनिष्ठ रहनेवाले महात्मा लोग यद्यपि सामान्य जनों की दृष्टि में मूर्ख होते हैं तथापि विवेकी लोगों की दृष्टि में वे परम विवेकी, सफल-जीवन-सम्पन्न और बड़े भाग्यवान होते हैं।

१४. मानस और कैलास

चेतनवादी प्राचीन ऋषि मोक्ष को जीवन का लक्ष्य मानकर, अर्थात् परम पुरुषार्थ समझकर, सभी शास्त्र तथा शास्त्र-ज्ञान को उससे जोड़ देते थे, अर्थात् उसकी परम्परा में विश्वास रखते थे। अनात्म-पदार्थों की खोज तथा उसके फल-स्वरूप धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, वैद्य-शास्त्र, शब्दशास्त्र, नाटयशास्त्र आदि शास्त्रीय पद्धतियों को सत्य वस्तु की प्राप्ति रूप मोक्ष के सहायक ही वे मानते थे, न कि स्वतन्त्र-फल-दायक। आज के जड़वादी तो सभी विद्याओं और आविष्कारों को केवल विषय-भोग रूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए काम में लाते हैं, पर वे तो 'भोग' शब्द से भी घृणा करते थे। उनका प्रबल सिद्धांत था कि स्वच्छन्द विषय-भोग सिर्फ़ पशुओं के लायक हैं, न कि मनुष्यों के लिए। आनन्द-स्वरूप ईश्वर को छोड़ दुःखपूर्ण तथा दृष्ट-नष्ट स्वभाव की अनात्म वस्तुओं में उन्हें प्रेम या रति नहीं होती थी।

किंतु भारत माता के दुर्भाग्य की यह घटना भी यहाँ नहीं भुलायी जा सकती कि पश्चिमी देशों के आज के भौतिकवादियों के समान ही प्राचीन काल में भी, बृहस्पति आदि देहात्मवादियों को देह से भिन्न कोई आत्मा कितनी ही खोज करने पर भी नहीं मिली और कितना ही विचार करने पर भी प्राप्त नहीं हुई, और वे अनात्मविषयों में रमकर आनंद करने लगे और दूसरों को उपदेश देने लगे कि भोग ही परम पुरुषार्थ है। जैसे पान, सुपारी, चूना आदि वस्तुओं के संयोग से नशा पैदा होता है, वैसे ही सांसारिक जड़ वस्तुओं के संयोग में जन्म लेनेवाली है—चेतना-शक्ति—ऐसा विवाद करने वाले देहात्मवादियों की बुद्धि को दूर से नमस्कार करने के साथ-साथ यह भी कह देता हूँ कि उनका यह वाद संसार के लिए बड़ा ही अनर्थकारी है और वे संसार के परम शत्रु हैं।

०

जब यह सुना जाता है कि जड़ से चैतन्य पैदा होता है तो प्रौढ-बुद्धि विद्वानों के चेहरों पर पहले एक मुस्कान फैल जाती है। उस जड़वादी

को, जो यह कहता है कि शरीर के आकार में परिणाम पाये, अर्थात् संयुक्त, जड़-पदार्थों से ही चैतन्य शक्ति पैदा होती है, तथा यों द्रव्य-संयोग से उत्पन्न शक्ति ही देह, इन्द्रिय आदि को चलाती है, उलटे, द्रव्य से भिन्न किसी नित्य चैतन्य को मानने की ज़रूरत ही नहीं है तो इस प्रश्न का उत्तर यह देना पड़ता है कि पहले शरीर के रूप में जड़ द्रव्यों का संकलन करनेवाली शक्ति कौन-सी है ? मतलब यह है कि संकलन के बाद ही चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति होती है तो संकलन के लिए हेतुभूत शक्ति कौन है ? जड़ पदार्थ अपने से भिन्न किसी चेतन वस्तु के सम्वन्ध के बिना कार्य रूप में परिणत होगा तो इसमें कोई तर्क नहीं हो सकता कि जड़ मिट्टी कुंभकार के व्यापार के बिना स्वयं पिंडाकार होकर फिर कपाल एवं घट के रूप में परिणत होगी। ऐसा संसार में नहीं दिखायी देता। इतना ही नहीं, यह तर्क करना कि जड़ वस्तु पृथ्वी आदि के संयोग से उसमें से चेतन वस्तु का जन्म होता है, यह सभी प्रमाणों के विरुद्ध है--जैसे कोई तर्क करता हो कि घने अंधकार से प्रकाश पैदा होता है।

पुराने शास्त्र-ग्रंथों से समझा जा सकता है कि इस प्रकार शरीर को आत्मा समझने की भ्रांति हमारे देश में भी प्राचीन काल में प्रचलित थी। लेकिन अधिकतर लोग इस आत्मवाद के पक्ष में नहीं थे, और देह से भिन्न एक नित्य आत्मा को नहीं मानते थे, फिर भी कुछ लोगों ने आत्मा को जड़ वस्तु एवं दूसरे लोगों ने इसे जड़-चेतन-स्वरूप माना था। कणाद, गौतम, प्रभाकर और उनके अनुयायियों का तर्क था कि आत्मा आकाश के समान जड़ वस्तु है तथा जैसे शब्द आकाश का गुण है, वैसे ही ज्ञान आत्मा का गुण है। मीमांसकों में भट्ट आदि ने श्रुति के प्रमाणों से यह सिद्ध किया था कि आत्मा को घट के समान जड़-वस्तु समझने की कल्पना अप्रामाणिक है और आत्मा जुगनू के समान जड़ाजड़ स्वरूप है। कपिल प्रभृति का यह कहना था कि निरंश आत्मवस्तु में जड़ता एवं चैतन्य दो वस्तुओं की कल्पना करना उचित नहीं है और इस-लिए आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। बंध और मोक्ष की व्यवस्था के लिए वे हर शरीर में भिन्न-भिन्न दो आत्माओं को मान लेते थे। किंतु द्वैपायन, शंकर आदि वेदांतियों का सिद्धांत था कि आत्मचिद्रूप ही नहीं होता, चिदानंद-स्वरूप भी है, तथा सब शरीरों में भिन्न-भिन्न लगनेवाली आत्म-वस्तु सचमुच दो नहीं एक है।

इस प्रकार आत्म-सत्ता का प्रबल प्रतिपादन करने वाले अनेक दर्शनों के विकास से यद्यपि भारतवर्ष में पुरातन काल में भौतिकवाद नष्टप्राय हो गया

था, तो भी संसार का भला चाहनेवाले विचारवान लोगों के लिए यह अत्यधिक खेद का विषय है कि अब पाश्चात्य देशों में तथा उसके संपर्क में फिर से भारत-वर्ष में भौतिकवाद सिर उठाने लगा है। जन्म, स्थिति, नाश आदि संसार के सब व्यवहार, ईश्वर के बिना प्राकृतिक नियम के अनुसार चलते रहते हैं। काल की लंबी गति में प्रकृति के परिणाम के द्वारा ही चराचर भूतवर्गों का भिन्न-भिन्न आकृति में संसार में आविर्भाव होता है। इसके सिवा जगत के आरंभ में कोई ईश्वर भिन्न-भिन्न जाति में चराचर भूतों की सृष्टि नहीं करता। चित्त के विकारों एवं प्रकृति की प्रेरणाओं का दमन करके आत्म-संयम के साथ धार्मिक जीवन बिताने का उपदेश देनेवाले धर्म-संचालकों की अभि-लाषा असंगत है और पशुओं के समान मनुष्य के लिए भी प्रकृति पर विजय असंभव है। यदि यह सिद्ध भी हो जाए कि जगत् का स्रष्टा कोई ईश्वर है तो भी इस अनुमान के लिए कोई न्याय नहीं है कि असंख्य सूर्य आदि ग्रहों के अति विशाल एवं अनंत ब्रह्माण्ड अणुप्राय तुच्छ रूप से विद्यमान एक मनुष्य का उस ईश्वर से कोई संबंध है—यों प्रकृति-तत्त्व के निरूपकों तथा वैज्ञानिक शास्त्र-विशारदों ने पाश्चात्य देशों में जिन विभिन्न मतों का प्रचार किया है, उन सबकी प्रतिध्वनि हमारे देश में भी आये बिना नहीं रहती। लेकिन यदि सत्य हमेशा सत्य है और असत्य सदा असत्य है तो ऐसे असत्य एवं मधुरतर नास्तिकवादों से किसी को डरने की कोई जरूरत नहीं है। आने जानेवाली असत्य की लहरें सत्य की चट्टान को चकनाचूर करने में भला कैसे समर्थ हो सकती हैं?

०

सत्य होकर, शरीर की इन्द्रियों एवं मन को चैतन्य देते हुए, आकाश के समान सब शरीरों में व्यापक होकर, देश, काल एवं वस्तुओं से अविच्छिन्न, सदा प्रकाशमान, चिदानंदघन तथा अद्वितीय होकर विराजमान आत्म-वस्तु से, अथवा ईश्वर-वस्तु से प्रकृति-तत्त्वों की कितनी ही सूक्ष्म खोजों से, वैज्ञानिक शास्त्र की कितनी ही बड़ी उन्नति से अथवा बड़े-बड़े नये अविष्कारों से भी कोई इन्कार नहीं कर सकता। सूक्ष्म एवं निगूढ विचार करें तो प्रकृति-शास्त्र आदि की आज की उन्नति आत्म-सत्ता की साधक ही होती है, बाधक नहीं होती। यदि कोई सोचे कि वह बाधक होती है या बाधक होगी तो वह अविवेक का महान् विलास होगा, यथार्थ नहीं हो सकता। इस सच्चाई के लिए

तीनों कालों में कोई बाधा नहीं हो सकती है कि पाँच-छः फुट लंबा मिट्टी के समान जड़ यह माँस-पिंड नहीं, चैतन्य घन आत्मवस्तु ही हम हैं।

'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः' आदि रूप से ऋषियों ने अपने अनुभवों के द्वारा जिस आत्मवस्तु का गान किया है तथा आज भी जो आत्मदर्शी लोगों के लिए अनुभव-सिद्ध है, यदि कोई व्यक्ति प्रबल पाप-शक्ति के कारण उस पर विश्वास न करे, उसे जान न सके, अथवा इसके कारण उसके बारे में शशविषाण के समान शून्य होने का प्रलाप करे, तो यह असत् नहीं हो सकता। यदि कूप-मंडूक यह टर्राता रहे कि सागर नहीं होता तो अनंत-विशाल, गहन-गंभीर एवं उल्लोल-कल्लोलों से उद्वेलित उदधि जल-शून्य नहीं हो जाएगा। आत्मसत्ता तथा ईश्वरसत्ता की अवहेलना करनेवाले प्रलापों की आवाज पाश्चात्य नभोमंडल में उठे तो उठती रहे, इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। किंतु जिस भारत-भूमि में अध्यात्म-केसरी ऋषि-पुंगवों ने आत्मगीतों का गायन करते हुए अध्यात्म-जीवन व्यतीत किया उसके पवित्र नभोमंडल के लिए ऐसे दूषित शब्द शोभा नहीं देते। अतः ऐसे नास्तिक जल्पनों का भारतीय जन न तो आदर करें, न इन्हें अपनाएं, और जहाँ तक हो सके इन्हें अपने देश से निकालने का प्रयास करें।

हम यदि अध्यात्म-रति-सम्पन्न एवं अध्यात्म-जीवी ऋषीश्वरों की संतान हैं तो आत्मविश्वास, आत्मबोध तथा आत्मशक्ति हमारी पैतृक-संपत्ति है। हमारा मुख्य कर्तव्य है कि अपनी इस परंपरागत अध्यात्म-संपत्ति को नष्ट होने से बचाएं। यदि नष्ट होने लगी है तो पूर्णरूप से नष्ट होने से पहले उसकी रक्षा और उन्नति करें। आर्यरक्त एवं आर्ष संस्कृति से युक्त हे भारतीय भाइयो! तुम दृढ़ रूप से यह समझ लो कि मिट्टी, पानी, आग आदि पंचभूतों का बना यह शरीर मिट्टी में मिल जाए तो भी उसको प्रकाशमान करनेवाली तथा उसे व्यापार-शक्ति देनेवाली उसके अन्दर वर्तमान उस चैतन्य वस्तु का नाश नहीं होता। वही चैतन्य वस्तु आत्मा है और वही आत्मा हम हैं। पाखंड मतों के आक्रमण से तुम उसको बचाओ। तुम ऋषि-संतानों के अन्तःकरण में जो सूक्ष्म तत्त्व में विद्यमान है, उसका तुम उत्साह के साथ उद्बोधन करो। आत्मज्ञान में लगे हुए और आनंदमय जीवन बितानेवाले उन पूर्वज मुनि-पुंगवों को तुम हमेशा याद करो। उनके प्रिय निवास-स्थान हिमगिरि आदि स्थानों के आगे तुम सिर झुकाकर प्रेमपूर्वक प्रणाम करो। जिस शरीर के बारे में सदा आशंका बनी रहती है कि यह आज नष्ट

होगा या कल, उस मिट्टी के शरीर की आसक्ति छोड़कर दृढ़ आत्मबोध एवं आत्मबल प्राप्त कर अपने को, दूसरों को तथा सारे संसार को अनुग्रह देकर और नाश से उद्धार करके कभी न बुझनेवाले अध्यात्म-रत्न-दीप बनकर संसार में प्रकाशमान रहो। देवात्मा हिमगिरि तुम पर अपार अनुग्रह करेंगे।

× × ×

जड़वादी लोग जिन हिमकूटों को भौतिक समझते हैं, जिनकी तुषार-संहति की सुन्दरता को भौतिक सुन्दरता समझते हैं, तथा उससे पैदा होनेवाले आनंद को भौतिक आनंद समझते हैं, उन्हीं हिमकूटों में मैंने ईश्वरीय रूप का, उसी दिव्य सौंदर्य में मैंने ईश्वरीय सौंदर्य का, तथा उसी अलौकिक आनंद में मैंने ईश्वरीय आनंद का अनुभव किया और हिमकूट की दिव्य तराइयों से गुजरता हुआ मैं खोचरनाथ से फिर आगे बढ़ने लगा।

मानस और कैलास वहाँ से अधिक दूर नहीं था, इसलिए मैं एक बालक के समान उत्कंठा-भरे मन के साथ बड़े उत्साह से चलता चला गया। मार्ग में सुन्दर गाँवों को पार करते हुए सात-आठ मील दूर चलने पर 'तक्लाकोट' नामक पश्चिमी तिब्बत की प्रसिद्ध मंडी के पास पहुँच गया। कर्णाली नदी के उस पार तक्लाकोट मंडी तथा इस पार 'पूरणमंडी' स्थित है। हमने पूरणमंडी में एक नेपाली कर्मचारी के पड़ाव में दो-तीन दिन रहकर विश्राम किया। यद्यपि चावल, आटा आदि खाद्य पदार्थ वहाँ दाम पर और मुफ्त में भी आसानी से मिल जाते थे, किन्तु ज्वर हो जाने के कारण मैं ठीक तरह से खाना खाकर शरीर को स्वस्थ बनाने में असमर्थ रहा।

वहाँ से हम केवल पच्चीस मील की दूरी पर स्थित मानसरोवर के लक्ष्य में एक दिन सबेरे फिर आगे यात्रा करने लगे। तक्लाकोट के पास मार्ग में दो तीन गाँव और कुछ खेत मिले। तिब्बत तथा नीचे के हिमालय-प्रदेशों में स्त्रियाँ ही पुरुषों से बढ़कर अथक कर्मशील होती है। इन प्रदेशों में धन-संपत्ति बहुत कम है। इसलिए हाथ-पाँव चलाये बिना सिर्फ खाने-पीने के काम में लगे रहनेवाले सुखजीवी लोग यहाँ नहीं के बराबर हैं। निष्क्रिय आलसी प्रकृति मानवों के लिए तथा सम्पूर्ण जगत् के लिए विनाशकारी है। कर्मपथ में चले बिना आलसी जीव ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं।

दिनभर मनोहारी हिम-पर्वतों की दिव्य छवि देखते हुए और उनकी तराई के रमणीय मैदानों से चलते हुए तक्लाकोट और मानसरोवर के बीच में स्थित 'गौरी गुहा' अथवा 'गौरी ओडार' के नामक विशाल मैदान में शाम

होते-होते पहुँच गये। यह स्थान डाकुओं के उपद्रव के लिए कुप्रसिद्ध है। डाकू हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं? हमारे पास न धन है न अच्छे कपड़े। केवल भिक्षा-वृत्ति में चलनेवाले हम भला डाकुओं की लूट का शिकार कैसे बन सकते हैं? रास्ते में एक-दो बार डाकुओं ने हमारे पास आकर हमारे कपड़ों और दूसरी चीजों की जाँच भी की, किन्तु उन्हें क्या मिलता? इस पर उन्होंने हमें सताने के बदले सत्तू आदि देकर हमारी सेवा की। गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के सीधे और सरल मार्ग उन्होंने हमें बताये, तथा मार्ग में रहने के स्थान आदि भी उन्होंने मुझे दिखा दिये। इस प्रकार कैलासपति की करुणा से डाकू अपकारी होकर नहीं, उपकारी होकर ही हमारे सामने आये।

अब हम सोलह हजार फुट ऊँचे तिब्बत के मशहूर मैदान में थे। हवा प्रचण्ड रूप से चल रही थी। श्रावण महीने की बार-बार होनेवाली वर्षा एवं हिमपात का साहस के साथ हमें सामना करना था। मैं और आनंदगिरि वहाँ अपने आसन बिछाकर बैठ गये तथा हिम-खण्ड के समान ठंडी रात को किसी प्रकार काटने लगे। उस रास्ते पर हमारा मुख्य आहार सत्तू ही था। बैठते-लेटते और कड़ी सरदी झेलते रात बितायी तथा सुबह उठकर असहनीय जाड़े की परवाह किये बिना हिमशिखरों की तराई से धीरे-धीरे आगे चलने लगे।

यद्यपि तिब्बत प्रदेश कष्टों की खान है, तो भी वह उन कष्टों को तुरन्त भुला देनेवाले आनंदकारी दिव्य दर्शनों का भंडार भी है। तिब्बत का यह भाग जहाँ हम थे बिल्कुल नंगा मैदान था। यहाँ पेड़-पौधों का दूर-दूर तक नामोनिशान तक न था। दूर-दूर के स्थानों से लाकर इकट्ठे किये गये पौधे ही यहाँ के गांवों में ईंधन के काम में आते हैं। यों, कई मीलों की दूरी पर लंबा-चौड़ा, निरावरण, अति शीतल, अत्यंत विजन, प्रशांत एवं एकांत देश—जहाँ स्वच्छंद प्रवाहमान छोटी-बड़ी पथरीली नदियाँ तथा चाँदी और सोने के समान चमकनेवाली हिमावृत्त शैल-मालाएँ हैं—एक यात्री के मन को कितने ही विलक्षण दिव्य भाव की ओर उठा देता है। यहाँ सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य है। शायद इसीलिए इस भूमि को विद्वानों ने त्रिविष्टप भूमि, अर्थात् देवभूमि, कहा है। कुछ लोग प्रमाणपूर्वक कहते हैं कि त्रिविष्टप शब्द अपभ्रष्ट में तिब्बत बन गया है। जो भी हो, मैं तो अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि हम जब इस स्थान पर पहुँच जाते हैं तो व्याकुलताओं से मुक्त होकर इसी मर्त्यलोक में ही मानो निरातंक एवं निराकुल रूप से विचरण करने लगते हैं।

'गुरलामान्धाता' नामक एक कम ऊँचे पहाड़ी घाट को पार करने पर प्रसिद्ध मानसरोवर प्राप्त होता है। घाट के ऊपर पहुँचते ही दूर से मनोहारी मानसरोवर के देवताओं के लिए भी दुर्लभ पुण्य दर्शन हमें प्राप्त हुए। घाट के ऊपर एक पत्थर पर बैठकर मैं सरोवर का दिव्य सौंदर्य अतृप्त आँखों से निहारता रह गया। वहाँ से हम सरोवर के किनारे की ओर उतरने लगे। फिर शीघ्र ही हम सरोवर के किनारे पहुँच गये। फिर जल के साथ-साथ कुछ मील पूरब की ओर चलने पर सरोवर के दक्षिण पूरब की दिशा में लामाओं के एक सुन्दर आश्रम में शाम होने से पहले सकुशल पहुंच गये।

यह स्वर्गीय सरोवर लगभग पैंतालीस मील से भी ज्यादा घेरे में है। यह इतना वर्तुल है कि मानों माप कर बनाया गया है। हिम-धवल शैल-मालाओं से आवृत्त है, स्फटिक-से भी अति निर्मल जल से भरा हुआ है। इसमें कीचड़ का नामोनिशान नहीं। जल के अन्दर रत्नों के समान स्पष्ट चमकनेवाले छोटे पाषाण-समूहों से अलंकृत है। इसकी आठ दिशाओं में तपोनिष्ठ लामाओं के एकांत-सुन्दर मठ बने हुए हैं। इन्हीं गुणों के कारण यह सारे संसार में प्रसिद्ध है। यद्यपि इसकी दिव्य सुन्दरता एवं महिमा का पौराणिक और आधुनिक लोगों ने यथाशक्ति वर्णन किया है, तो भी इसकी सुषमा वर्णनातीत है। यह सरोवर सफेद कमलों एवं मोती चुनते-खाते विहार करनेवाले राजहंसों से सुशोभित है। इसमें हमेशा अप्सराएँ जल-क्रीड़ा करती रहती हैं। इसके किनारे पंक्तिबद्ध कल्पवृक्ष पुष्पित-पल्लवित होकर उन्मत्त होकर झूमते रहते हैं, और कामधेनु ही नहीं ऐरावत व उच्चैःश्रवा भी स्वच्छंद विचरते आनंद करते हैं। इसके तट पर यक्षों, किन्नर-गंधर्वों, सिद्धों और देवों के प्रिय स्थान हैं तथा इसके पास साक्षात् महादेव का प्रिय निवास कैलास का शिखर विराज रहा है, उस अलौकिक मानसरोवर का—

> कैलासपर्वते राम ! मनसा निर्मितं परम् ।
> ब्रह्मणा नरशार्दूल । तेनेदं मानसं सरः ॥

रोहण किया है, वही रजतगिरि, लो, गौरवान्वित होकर खड़ा निकट से स्पष्ट एवं प्रसन्न दर्शन देकर हमें अनुग्रहीत कर रहा है, तथा स्वागत करते हुए हमें अपने पास बुला रहा है।

यह कृष्ण पर्वत लगभग तीस मील के वृत्ताकार में मीनार के समान ऊपर की ओर आकार में छोटा होकर दीखता है। इसका शिखर हिमालंकृत है, और ऐसा मालूम होता है मानो एक लंबी पर्वतमाला का सरदार हो। इसकी शोभा अनुपम है। मैं ज्यों-ज्यों कैलास की तराई के पास पहुँचता गया, मेरा मन भक्ति, आनंद एवं कृतार्थता से उत्फुल्ल होता गया। पास की छोटी छोटी शिला-नदियों को कष्ट के साथ पार करते हुए किसी प्रकार दोपहर के बाद हम कैलासपति के चरणकमलों में, अर्थात् सफेद शिखर के नीचे 'दरचन' नामक छोटे गाँव में पहुँच गये।

कैलास के पास बितायी वह रात मुझे सदा स्मरण रहेगी। कठिन तपस्यामय उस रात के समान और कोई रात शायद ही मेरे जीवन में आयी हो। हमें विश्राम करने के लिए कोई भी सुरक्षित स्थान दिखायी नहीं दिया था, इसलिए खुले मैदान में ही कपड़े बिछाकर हम उस पर बैठ गये थे। अठारह हजार से भी ऊँची कैलास की तराई के जाड़े की भीषणता का क्या कहना? रात को श्रावण महीने की अनवरत वर्षा भी शुरू हो गयी थी। धीरे-धीरे हिमवर्षा भी होने लगी थी। किंतु हिमवृष्टि करनेवाला मेघ-देवता उससे बढ़कर हम पर दयावृष्टि ही करता था। साहित्यिक भाषा को छोड़ सामान्य भाषा में कहूँ तो हुआ यह था कि हिमवर्षा हमारे बहुत ही निकट हो रही थी और हम तक पहुँचने से पहले ही, ईश्वर की कृपा से, वह समाप्त हो गयी थी।

यद्यपि मैं जानता था कि कैलास-यात्रा का मुख्य अंग कैलास की परिक्रमा करना है, तथापि ज्वर आदि की पीड़ा से शिथिल-शरीर मैं उस का साहस न करके कैलास-पति को प्रणाम कर वहां से लौटकर चलने लगा। मार्ग में तिब्बत की एक महिला ने हमें तथा हमारे साथ चलनेवाले दूसरे कुछ साधुओं को आग्रह-पूर्वक अपने पड़ाव के पास बिठाकर बड़े उल्लास के साथ कई खाने-पीने की चीजें देकर हमारा आदर-सत्कार किया था उस युवती महिला की असाधारण साधु-भक्ति एवं उदारता को मैं नहीं भूल सकूंगा।

शाम होने से पहले हम कुछ दूरी पर स्थित 'वर्क' नामक छोटे गाँव में पहुँच गये। वहाँ के लोगों से आदर के साथ 'राजा' कहलानेवाले उस गाँव

के एक अमीर तथा उनकी पत्नी ने हम 'काशी के लामाओं' का चाय आदि द्वारा आदर-सत्कार किया और रात के निवास के लिए उचित स्थान आदि देकर हमें अति अनुग्रहीत किया।

अगले दिन वहाँ से प्रस्थान कर हम राक्षसताल पहुँच गये। कहते हैं इसके किनारे पर कैलास को उठाकर उछालनेवाले राक्षस रावण ने दीर्घकाल तक कठोर तपस्या की थी। इस का पूर्वी किनारा विशाल एवं सुन्दर था। इसके बाद पूर्वोक्त 'गौरी ओडार' नामक विशाल मैदान तथा कुछ गाँवों एवं खेतों में से होते हुए चार-पाँच दिनों में हम फिर तक्लाकोट पहुँच गये। यहाँ पहुँचा तो मन कुछ शान्त हुआ और अनुकूल वातावरण में दो दिन तक विश्राम किया।

फिर अपने साथ चलते हुए और कुछ साधुओं को वहाँ छोड़कर सिर्फ़ हम दोनों 'लिपु घाट' (लिपु पास) को पार करके हिन्दुस्तान वापस जाने की इच्छा से वहाँ से रवाना हो पड़े। उस दिन मार्ग में विश्राम करके अगले दिन घाट पर चढ़ने लगे तो अचानक वर्षा होने लगी। घाट के ऊपर फैली हुई हिमराशि की वर्षा में नंगे पैरों पार करने में हमें जो कठिनाई हुई हम उसे कभी नहीं भूल सकते। बड़ी कठिनाई के साथ संध्या के बाद हम घाट के उस पार पहुँच गये। वहाँ की एक जीर्ण गुफा में हमने किसी प्रकार रात बितायी। चूंकि वर्षा हो रही थी, इसलिए रात के हिमपात से दिशाएं उज्ज्वल होकर चमक रही थीं। जब सूर्योदय में हिम पिघलने लगा तो वहाँ से कुछ आगे जाकर हम हिम से होकर कठिनाई से नीचे उतर आये और एक व्यापारी के साथ रात बितायी।

लौटते समय भी मैं ज्वर से पीड़ित था। इसलिए अधिक कष्ट और विलंब हुआ था। तक्लाकोट से एक सौ नब्बे मील दूर अलमोड़ा तक हमें जिस नदी के किनारे से होकर नीचे की ओर यात्रा करनी थी, लीजिए यह रही वह पुण्य 'काली नदी' जो कि यहां पास ही पहाड़ की ढाल से झरती आ रही है। दो-तीन दिनों में हम उस तराई से 'गरब्यांग' नामक एक बड़े-से गाँव में पहुँच गये। दुर्बलता के कारण मैं एक दिन का रास्ता दो-तीन दिनों में ही तय कर पाता था। भगवान श्रीकृष्ण का जन्म दिन—भाद्रपद महीने की अष्टमी रोहिणी—यहाँ संपन्न हुई।

इसके बाद कई बड़े पहाड़ों तथा बीच-बीच में कई सुन्दर गाँवों को लांघते हुए तथा शरीर एवं मार्ग की प्रतिकूलता के कारण नाना प्रकार के

कष्टों को साहस के साथ झेलते हुए हम कुछ दिनों में धारचूला नामक एक मुख्य स्थान पर पहुँच गये। वहाँ मार्ग के एक रामकृष्ण-मठ में ही खाना पकाकर खाया। भाद्रपद-आश्विन के महीने में पके हुए नाना प्रकार के अनाजों के खेत तथा हरे-भरे विशाल विपिन हमारे मन को अत्यधिक उन्मेष प्रदान करते थे। इसके अतिरिक्त कद्दू, ककड़ी, भिंडी, पपीता, ज्वार आदि शाक-फलों का, जिनका हिमगिरि के ऊपर दर्शन तक मुश्किल है, प्रचुर मात्रा में दर्शन तथा भ्रमण द्वारा हमने अत्यधिक प्रसन्नता एवं तृप्ति प्राप्त की। धारचूला से आशुकोट और वेणीनाग होते हुए हम कई छोटे-बड़े पहाड़ों को धीरे-धीरे पार करते हुए पर्याप्त समय के बाद अलमोड़ा पहुँच गये। यहाँ पहुँचने पर मार्ग की कठिनाई विलकुल दूर हो गयी।

अलमोड़ा में नगर से कुछ दूर एक एकांत मंदिर में एक वैरागी सुशिक्षित साधु के आतिथ्य में जो सुखमय दिन मैंने आनंदपूर्वक विताये उन्हें भी मैं नहीं भूल सकता। यह नग्न-शरीर साधु यद्यपि आयु में अभी युवा थे, परन्तु तितिक्षा एवं उदारता आदि गुणों में वह वृद्ध थे। कपड़े को वह कभी छूते न थे। उनमें शीत आदि सहने की शक्ति विलक्षण थी। ऐसा कोई भी आत्मिक या अनात्मिक महान् कार्य इस संसार में नहीं है जो श्रद्धा न कर सकती हो। लौकिक दृष्टि से चाहे कितना ही कोई भयानक तथा कठोर अनुष्ठान क्यों न हो एक श्रद्धालु के लिए वह आसान हो जाता है।

अलमोड़ा से नीचे की ओर यद्यपि मोटर गाड़ी में भी यात्रा की जा सकती थी, तो भी हमने वहाँ से पैदल ही प्रस्थान किया। कई छोटे पहाड़ों, सुन्दर गाँवों और रमणीय सरोवरों को पार करते हुए तथा उनकी सुन्दरता का आनंद भोगते हुए हम कुछ ही दिनों में 'हलद्वानी' नामक हिमगिरि की तराई के एक छोटे मनोहर नगर में पहुँच गये। यह भी विशेषकर लिखने योग्य है कि रास्ते में आर्यसमाज के नेता श्रीनारायण स्वामी आदि कई श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा पवित्र आश्रम-स्थानों के दर्शन का भी हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हलद्वानी के एक देव-मंदिर में कुछ दिन सुखपूर्वक विश्राम करने के बाद वहाँ से रेलगाड़ी के द्वारा 'बरेली' नामक बड़े नगर में पहुँच गये और दो-एक दिन मधुकर-वृत्ति में रहने पर वहाँ भी सौभाग्य से कुछ प्रमुख व्यक्तियों का परिचय हमें मिल गया। इसलिए उनकी प्रेरणा से बड़े अनुकूल वातावरण में कई दिनों तक वहाँ रहे। इसके बाद रेलगाड़ी के द्वारा चिरकाल से वियुक्त हृषीकेश धाम में श्री भागीरथी माता के रमणीय तट पर साधु-महात्माओं के पवित्र वातावरण में सकुशल प्रविष्ठ हो गये।

●●

तीसरा भाग

१५. थोलिंग मठ

थोलिंग मठ पश्चिमी तिब्वत में स्थित लामाओं का एक महान आश्रम स्थान है। जहाँ यह आश्रम स्थित है, वह प्रदेश भी थोलिंग कहलाता है। सतलज नदी के किनारे एक विशाल मैदान में बने इस मठ की महिमा एवं मनोहारिता असाधारण है। यह मठ चारों ओर से दूर-दूर तक वृक्ष आदि से हीन बिलकुल हिम से नग्न गंभीर पर्वतमालाओं से घिरा हुआ है, जिनकी चोटियाँ वर्फ से ढकी रहती हैं। इस विशाल मठ के चारों ओर मिट्टी की चार-दीवारी है। इसकी दीवारें भी मिट्टी की बनी हैं। यह मठ राजोचित आडंबर एवं गौरव से युक्त है। मठ के मकानों पर जहाँ तहाँ नाना वर्ण की ध्वजाएँ उड़ रही थीं। कहा जाता है कि सौ-डेढ़ सौ लामा लोग साधारणतया इस मठ में रहते आ रहे हैं।

सन् १९३० में वदरिकाश्रम में चातुर्मास्य करने के उद्देश्य से मैं जून महीने के आरंभ में हृषीकेश से वहाँ पहुँच गया। वहाँ अलकनंदा के पूर्वी किनारे की एक एकांत झोंपड़ी में मैं अकेले रहने लगा। कुछ दिन बीत जाने पर निम्न देशों से कैलास-यात्रा की तैयारी में आये हुए कुछ साधु लोग मुझे भी उसकी प्रेरणा देने लगे। उनमें कुछ तो मेरे लिए परिचित ही नहीं, वल्कि मुझ से वड़ा प्रेम तथा आदर करनेवाले भी थे। कैलास-दर्शन तो मेरे लिए अत्यंत प्रियकर है ही। ऐसा विश्वास करनेवालों में मैं भी एक हूँ ही कि अमित सुकृत-परिपाक से ही कैलास के दर्शन प्राप्त होते हैं। फिर भी कपड़े आदि की कमी तथा अधिक शारीरिक कष्ट के कारण मैं उनके साथ जाने को उद्यत न हुआ।

किंतु किसी वात पर मनुष्य के विधि-निषेधों पर अंतिम निर्णय करने का अधिकार भगवान को ही है। ईश्वर ने मेरे निषेध को न माना। मेरे निषेध का निषेध करते हुए ईश्वर ने मुझे आज्ञा दी कि 'चलो, फिर एक वार कैलास चलो ! दूसरी वार चलकर कैलास के दर्शन करो !!' ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन भला कौन कर सकता है ? मैं ईश्वर के आदेश के आगे झुक गया। सभी आस्तिक इस पर सहमत है कि मनुष्य के लिए जो असंभव

है, वह भगवान के लिए तो आसान बात है। यों, असंपन्न को सुसंपन्न बनाने में पटु भगवान की इच्छा से यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री अर्थात् कंवल, रुपये एवं कुछ खाद्य पदार्थ आदि सब सरलतापूर्वक वहाँ संपन्न हो गये।

बदरीनाथ के अध्यक्ष एवं बड़े धनवान हमारे नंपूतिरी जी भी मेरी यात्रा का समाचार पाकर मेरी इच्छा के अनुसार धन आदि की मदद करने को तैयार हो गये थे। हृषीकेश से अविचारित रूप से वहाँ आये मेरे एक अनुचर साधु भी कैलाश यात्रा में मेरी सेवा के लिए आने को तैयार हो गये। इसलिए हम दोनों के राह-खर्च के लिए उनसे मैंने कुछ रुपये लिये। मार्ग में रहने के लिए तम्बू आदि एक दूसरे साधु तैयार करते थे। इसलिए मुझे उस विषय में भी कोई मेहनत नहीं करनी पड़ी थी।

इस प्रकार कैलाश-यात्रा के लिए मैंने दूसरी बार तैयार होकर १२ जुलाई को प्रभात वेला में तप्तकुंड में स्नान करके बदरीपति को प्रणाम कर प्रस्थान किया। बदरीनाथ से कुल सत्रह-अठारह साधु एक दल बनाकर निकले थे। बदरीनाथ से कैलास चलनेवालों के लिए पहला मुख्य स्थान है—थोलिंग। इसलिए उस स्थान के लक्ष्य में हम धीरे-धीरे चलने लगे। बदरीनाथ से तीन-चार मील ऊपर व्यास-गुहा के पास जहाँ सरस्वती नदी अलकनंदा में आकर मिलती है, उस 'केशवप्रयाग' के नाम से प्रसिद्ध संगमस्थान से हमें अलकनंदा को छोड़ सरस्वती के किनारे से होकर सीधे उत्तर की ओर जाना था। मार्ग की कठिनाई तथा शीत की अधिकता से प्रतिदिन केवल चार-पाँच मील चलते हुए हम सरस्वती के किनारे पहाड़ों को पार करने लगे।

सन् १९२५ में मैंने नेपाल से पहली बार कैलास की जो यात्रा की थी, प्रस्तुत यात्रा उससे बड़ी ही विलक्षण थी। राह-खर्च के लिए विशेषकर पैसे या दूसरी सामग्री लिये बिना ज्यादातर भिक्षा वृत्ति में ही जीवन बिताते तथा वर्षा-सरदी की चिन्ता किये बिना गिरि-गुहाओं, वनांतरों अथवा खुले मैदानों में रात बिताते हुए कठिन तपस्या के रूप में ही मैंने वह यात्रा की थी।

परन्तु यह यात्रा तो कठिन-तपस्या के रूप में बहुत छोटी थी। उतना शारीरिक कष्ट इस यात्रा में नहीं हुआ। इस बार चमरी गायों आदि की पीठ पर खाद्य पदार्थ आदि ले गये थे। इससे हमें बोझ नहीं उठाना पड़ा। कई उत्साही साधुओं के साथ होने से हमें भोजन भी समय पर मिलता रहा। रात में खुले मैदान में न लेटकर पड़ाव में ही विश्राम भी करते थे। अतः कुल मिलाकर यह यात्रा कष्टदायक नहीं थी।

न पिघलने वाली हिम की अधिकता के कारण कहीं अधिक सुन्दर है तथा इसी कारण दुर्गम भी है।

इतना ही नहीं, कैलास जाने का यह पुराना मार्ग माना जाता है, और इसलिए अपेक्षाकृत यह पवित्र तथा श्रेष्ठ भी समझा जाता है। पुराणों में इसका स्पष्ट विवरण है कि पांडव, कृष्ण भगवान तथा अनेक ऋषियों की कैलास-यात्रा बदरीनाथ के द्वारा इसी मार्ग से हुई थी। कुछ पंडितों का यह भी कहना है कि मानसरोवर में रहने वाले राजहंसों के आने जाने के जिस मार्ग का वर्णन संस्कृत-काव्यों में मिलता है, वह क्रौंच रंध्र भी यही घाट है। इस प्रकार पुराण-प्रसिद्ध 'माना घाट' अपने बहुत ऊँचे धवलकूटों के साथ, लीजिए, हमारे सामने सुशोभित है। पुराणों में वर्णन है कि बदरिकाश्रम गंधमादन के पास है। इसलिए यह अनुमान करना गलत नहीं होगा कि हम अब तक जिसको लाँघ रहे थे, वह गंधमादन की पर्वतमाला है। अब यहाँ से नील पर्वत दिखायी देता है। यह पर्वत नीलिमा लिए हुए है। यह नील पर्वत पुराण-प्रसिद्ध चिरंजीवी काकभुशुण्ड का निवास-स्थान था, अथवा है। अहो! ऋषियों की महिमा की कोई सीमा नहीं है। साधारण लोगों के लिए जहाँ जाना या एक दिन रहना असम्भव है, उन्हीं गूढ़ एवं कठिन शैल-शिखरों पर उनके प्रसिद्ध आश्रम-स्थान थे।

बदरीनाथ से निकलकर छठे दिन रात को मानापास से पाँच-छः मील नीचे हिम के बीच—हिम से रहित जो थोड़ी-सी भूमि मिल गयी, वहाँ—पड़ाव डालकर विश्राम करने के बाद अगले दिन सवेरे घाट को पार करने के उद्देश्य से हम सब व्यापारियों के साथ चलने को उद्यत हो गये। हिम-जलधाराओं और पाषाण-समूहों को छोड़ मार्ग में मिट्टी का दर्शन भी मुश्किल हो गया। बड़े साहस तथा कठिनाई के साथ हम उस घाट की तराई से उच्च सीमा की ओर धीरे-धीरे चढ़ते रहे। सांस लेने की वायु की कमी से या विष-वायु के फैलने से अथवा दूसरे किसी कारण से, सिर में भयंकर दर्द होने लगा। तीन-चार फर्लांग चलने पर फिर बैठ कर थोड़ा विश्राम किये बिना आगे बढ़ना मुश्किल हो गया था। केवल हमारी ही नहीं, हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले तथा ऐसे स्थानों पर चलने का अधिक अनुभव रखनेवाले इन व्यापारियों की भी यही दशा थी। उनके तीन-चार घोड़े जलधारा में पड़कर मर गये और एक दुर्बल मनुष्य शीत-बाधा से तथा किसी सहायता के अभाव के कारण मार्ग में चल बसा। मरनेवाला पड़े-पड़े मरेगा ही, इस विचार के करने के सिवा, उस ऊँचे स्थान पर किससे क्या मदद की जा सकती थी।

एक संहारकर्त्ता होने के नाते से ईश्वर को एक बड़े कसाई की उपमा दी जा सकती है। कसाई अपनी इच्छा के अनुसार एक-एक बकरे को चुनकर काट डालता है। बकरे की आयु अथवा किसी इच्छा अथवा सम्मति की कसाई ज़रा भी परवाह नहीं करता। इसी तरह ईश्वर भी प्राणियों को एक-एक करके या समूहों को चुनकर निर्दयता से मार डालते हैं। प्राणियों की आयु, इच्छा या सम्मति की वे दयानिधि होने पर भी ज़रा परवाह नहीं करते। पंडित-दार्शनिक, पुरोहित-पुजारी, राजा-मंत्री, व्यापारी-किसान, धनी-दरिद्र, मनुष्य-तिर्यक्, कृमि-कीट आदि का कोई भी भेद-भाव इस विषय में ईश्वर नहीं मानते।

जैसे जीव कर्मवश मनुष्य-शरीर एवं तिर्यक् शरीर प्राप्त करते हैं, वैसे मनुष्य कर्मवश ही भोग के लिए अथवा मोक्ष के लिए पंडित-वेश, भक्त-वेश आदि नाना वेशों को धारण करते हैं। इसके सिवाय स्वेच्छा पर हम में से किसी का आधिपत्य नहीं होता। हम सभी नाना प्रकार के दुःखों के दास बन कर जीवन बिताते हैं। सभी मरनेवाले ही हैं। मृत्यु के मुंह में सब समान हैं। भेड़ों के समान सब परवश हैं। इतनी परवशता तथा लज्जास्पद दशा में भी सर्वेश्वर भगवान के सामने अहं का गर्व करनेवाले मनुष्य की मूर्खता के समान और कोई मूर्खता मुझे संसार में नहीं दिखायी देती।

●

इस प्रकार हिम आदि की कठिनाई का सामना करते हुए हम धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर नील पर्वत पर एक छोटे सर के पास एक विशाल गण्डशैल पर बैठ मैं बड़ी देर तक दूसरे साधुओं की प्रतीक्षा में विश्राम करता रहा। हिम से भरे उस सर का सौन्दर्य सिरदर्द और शारीरिक कष्ट को भुलवाकर मेरे मन को आनन्द देता रहा। घाट की उच्च सीमा पर पहुँचने के लिए हमें अभी यहाँ से एक मील और ऊपर चढ़ जाना था।

तीन बजे के पहले हम सब व्यापारियों के साथ धीरे-धीरे घाट के ऊपर पहुँच गये। अहा! समुद्र के समान फैली हुई वहाँ की हिम-राशि की मनोहारिता एवं महिमा का मैं कैसे वर्णन करूँ? 'देव सरोवर' के नाम से दस-बारह फर्लांग के घेरे में एक हिमपूरित विस्तृत सरोवर भी वहाँ उच्च सीमा पर विराजमान है। ऐसे हिमालय के घाट बहुत कम हैं जहाँ हिम-महिमा का एक साथ इतना उपभोग कर सकें। अठारह हजार फुट की ऊँचाई पर देव-

सरोवर के किनारे कभी न पिघलने वाले धवल-श्यामल हिम-संहतियों के बीच जगत्, शरीर, कैलास, कैलासयात्रा— सभी कुछ भूलकर मैं प्राकृतिक सुषमा की समाधि में निमग्न हो गया।

०

अहो ! ईश्वर की महिमा के बारे में यद्यपि श्रुतियों, वेदव्यास आदि पौराणिकों तथा कालिदास आदि कवियों ने विस्तृत वर्णन किया है, तथापि वे सब वर्णन शुष्क हैं। वे शुष्क क्यों हैं ? वाणी-विलास का विषय न बनने वाले ईश्वर की सृष्टि के ऐसे सौंदर्य का वर्णन करने का यदि हम प्रयत्न करें, अर्थात् उसे वाणी के अन्तर्गत लाना चाहें, तो वह शुष्क हुए बिना भला पूर्ण कैसे बन सकता है ? मनुष्य-बुद्धि द्वारा रचित कृत्रिम सुन्दरता की निरतिशय सीमा भी ईश्वर द्वारा विरचित ऐसी प्राकृतिक सुषमा के एक कण की भी समानता करने में समर्थ नहीं होती। अहा ! ऐसे अलौकिक असंख्य दृश्यों की सृष्टि निमिष मात्र में कर देनेवाले परमात्मा के ऐश्वर्य एवं महिमा का क्या कहना है ? हे परमात्मा आप हमें बुद्धि प्रदान करें कि हम आप की महिमा को सम्यक् रूप से से जान सकें, और उसी में हमेशा आनंदित होकर उसी में रमकर मनुष्य-शरीर को कृतार्थ बनाएं।

०

हमारी चीजें लेकर पीछे आने वाले भी अधिक विलंब किये बिना सरोवर के किनारे पहुंच गये। आते ही उन दोनों ने हमें बताया कि चीजें ढोने वाले जानवर बहुत थक गये हैं, इसलिए उस दिन वहीं रहे बिना और कोई चारा नहीं है। इतना कहते ही उन्होंने सरोवर के किनारे जहाँ हिम-हीन थोड़ी जगह मिली, वहाँ जाकर पड़ाव भी जमा लिया। अहो ! विचित्र ! घाट के उस उच्चतम स्थान पर यात्रियों का रहना विरला ही होता है। शीत की अधिकता के कारण उस प्रदेश की कठोरता का सामना कर सकना अति दुष्कर है। आवश्यक वस्तुओं के अभाव तथा हिमपात के भय के कारण यात्री इस पार से घाट को लांघकर उस पार ही जाकर रहा करते हैं।

किन्तु हमारे लिए और कोई चारा नहीं था। इसलिए ईश्वर के चरणों की शरण में हमने वहीं रात बिताने का निश्चय कर लिया। ईश्वर पर विश्वास कठिनाई के समय मनुष्य को वीर और साहसी बना देता है। व्यापा-

रियों में कुछ तो आगे चले गये थे। दूसरे कुछ लोगों ने हमारी ही तरह लाचार होकर वहीं आसन जमा लिया। वहाँ रात बिताने की कठिनाई के बारे में जब उनसे चर्चा हुई तो उन्होंने आखिर यही कहा था कि "घाट के देवता का ध्यान करो। ऐसे अवसरों पर दयानिधि देवता ही हमारी रक्षा करता आया है।" ज्यादातर साधु संयोगवश पीछे रह गये थे। इसलिए वहाँ रात बिताने वाले हम सिर्फ चार-पांच ही थे। अब सदा याद रहनेवाली वह रात शुरू हुई। रजतमय उस दिव्य देश में रजत-रचित दिव्य प्रासाद में दिव्य-भावना के साथ वहाँ रात बिताने का साहस वस्तुतः ईश्वरीय अनुग्रह का ही सुफल था।

अहह! यह देवसर चारों ओर से हिम-पर्वत-मालाओं से घिरा हुआ था। हिम-संघात एवं बीच-बीच में नीले रंग के जल से परिपूर्ण उस देवसरोवर की, तथा उस दिव्य रात की अवर्णनीय तथा अलौकिक सुषमा की महिमा का मैं बड़ी देर तक मन ही मन गान करता रहा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उस देवसर के किनारे निद्रा-सुख से भी बढ़कर एक अन्य सुख-विशेष का मैं अनुभव कर रहा हूं। ऐसा सुख तो केवल योगियों को ही समाधि-अवस्था में प्राप्त हो सकता है।

अहो! उस भगवान की मुझपर कितनी अनुग्रह है कि जिसने मुझे अपनी महिमाशालिनी विभूति को देखने का अवसर प्रदान किया है। उस परम करुणेश को मुझे कभी नहीं भूलना है। ईश्वर की कृपा से ही किसीको विपत्ति का सामना करने का साहस होता है। जो लोग भगवान पर विश्वास न रख सिर पर आयी हुई विपत्तियों से डरते रहते हैं, वे सदा दुःखी और परेशान रहते हैं।

दिन भर यद्यपि आसमान मेघहीन तथा निर्मल रहा था, तथापि रात होते ही इधर-उधर बादलों की टुकड़ियां उठने लगीं और धीरे-धीरे वह उच्च भूमि मेघमालाओं से भर गयी। इतना ही नहीं, थोड़ी-थोड़ी हिम-बिन्दुएं गिरने लगीं। ईश्वर की कृपा से अधिक जल-वृष्टि या हिम-वृष्टि किये बिना मेघ-मालाएं जल्दी ही शिथिल होकर इधर-उधर विलीन हो गयीं और हम मौत के मुँह से बच गये थे। पौ फटी। रात में किसी विपत्ति के बिना हमारी रक्षा करनेवाले घाट-देवता के रूप में स्थित ईश्वर को मैंने बार बार प्रणाम किया और वहाँ से यात्रा शुरू की।

अब हमें करीब छः सात मील और हिम-प्रदेश को पार करना था। महान् घनीभूत हिम-संहतियों के बीच से हिम एवं मिट्टी के रास्ते दो मील चलने पर वहाँ घाट-देवता का स्थान प्राप्त हुआ। छोटे पत्थरों के एक ढेर में ही देवता की कल्पना की गयी है। हमने हिम के बीच स्थित उस देवता के सामने बैठकर कुछ मधुर पदार्थों का निवेद्य चढ़ा दिया। उन्हें प्रसाद के रूप में खाकर देर तक वहाँ विश्राम किया। बदरीनाथ से अब तक लगभग पैंतीस मील दूर जो मार्ग धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता आ रहा था, अब वह इस उच्च सीमा से आगे उतरना शुरू हो गया। यहाँ आज का भारत समाप्त होता है और तिब्बत देश शुरू होता है।

फिर हम उठकर चलने लगे। उगते हुए प्रभाकर की भासुर किरणें जब हिम-मंडल में फैल गयीं तो वह इतना चमकने लगा कि उसकी ओर देखना सूर्य-मंडल की ओर देखने के ही समान मुश्किल हो गया। आँखें चौंधियाने लगीं, आँखों तथा नाक से पानी बहने लगा और हिम-प्रदेश को पार करना बड़ा ही कठिन हो गया। मेरा सिर-दर्द अब और बढ़ने लगा। हमने उस कठोर हिम-प्रदेश को, अति कठिन माना दर्रे को, धीरे-धीरे पार किया और दो बजे के पहले उस पार एक मनोहर मैदान में पहुँच गये।

हम यह सम्भावना न करें कि ऊपर की दुनिया के लोगों में और उच्चपद को प्राप्त लोगों में ये सब नहीं होते। भाष्यकार का सूत्र है कि "पश्वादिभिश्चाऽविशेषात्।" जब तक शरीर की चिंता है तब तक ज्ञानी और अज्ञानी के भेद के बिना मनुष्य तथा देव सब इस विषय में पशु समान ही हैं। अहो! ईश्वर का संगठन-क्रम, जिसमें कभी किसी से कोई त्रुटि नहीं होती, कितना विस्मयकारी है।

इस प्रकार परमात्मा-महिमा की याद दिलानेवाले कई विचित्र दृश्यों को देखते हुए और कई निर्जन एवं विशाल मैदानों को पार करते हुए घाट से प्रस्थान करने के चौथे दिन, अर्थात् ३० जुलाई को हम सुप्रसिद्ध थोलिंग मठ में पहुँच गये। बदरीनाथ से सिर्फ़ पचहत्तर या अस्सी मील की दूरी पर स्थित थोलिंग मठ में पहुँचने के लिए हमें मार्ग की कठिनता के कारण तेरह दिन लग गये। वहाँ पहुँचकर हम मठ के सामने ही रहने लगे। मठ के लामाओं की संगति के साथ हमने चार दिन आनंदपूर्वक विश्राम किया। मठ में प्रतिष्ठित कई देवमूर्त्तियों के प्रतिदिन दर्शन किये।

वहां मुख्यत: बुद्ध की मूर्त्ति प्रतिष्ठित है, तथा उसके चारों ओर प्रचंडरूपा काली आदि कई हिन्दू देवता प्रतिष्ठित हैं। सूक्ष्म निरीक्षण करके देखें तो ज्ञात होगा कि संसार में पहले-पीछे बने सब धर्मों के बीच संबंध है। कई स्थानों पर यह देखा गया है कि हिन्दू-देवताओं में से कई बौद्ध धर्म में तथा बौद्ध आचारों में से कई आचार हिन्दू धर्म में अन्तर्निहित हो गये हैं। मोटी सी बुद्ध-मूर्त्ति की ओर इशारा करते हुए उसके दर्शन करनेवाले लामा ने हमें कहा था कि यह बदरीनारायण है। वहां के लामाओं तथा हिमालय के नीचे के कई हिन्दू लोगों का यह विश्वास है कि थोलिंग वस्तुत: आदि-काल का बदरी है। चूंकि वह स्थान भारतवासियों के लिए अगम्य है, इसलिए नीचे बदरीनाथ का धाम बाद में बना दिया गया है। परन्तु यह धारणा मुझे ठीक नहीं जँचती। पर मैं विस्तार हो जाने के भय से इस विषय पर यहां प्रकाश नहीं डालना चाहता।

मिट्टी की बनी पहाड़ी कन्दराओं तथा मिट्टी के बने झोंपड़ों में रहनेवाले वहाँ के भीमाकार मनुष्य प्रतिदिन बड़ी कुतूहलता से हमारे पास आकर बैठ जाते और हमारे दर्शन करते। मठ के अधिपति बड़े लामा गरमी के दिनों में वह स्थान छोड़कर 'गरतोक्' नामक एक प्रसिद्ध स्थान के पास जाकर रहा करते थे, इसलिए हमें उनके दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला। राजनैतिक कार्यों

सिर-आँखों पर बिठाकर शंकाएँ दूर करके कृतार्थ हो जाते हैं। शंकालु होकर उन्होंने कभी यह अभिमान नहीं किया था कि मैं प्रबुद्ध हूँ।

शिखिध्वज की कहानी देखिए ! अठारह वर्ष की कठिन तपस्या में निमग्न वे 'कुंभ' बालक के सामने निस्संकोच यह कह देने में नहीं हिचकिचाते कि मैं अब भी तत्त्वों के अनुभव से हीन अज्ञ एवं दुःखी हूँ। उन्होंने यह झूठा अभिनय नहीं किया कि मैं आत्मसिद्धि को प्राप्त कृतकृत्य व्यक्ति हूँ। इस कारण से वे फिर आगे साधना कर सके और सत्य वस्तु का अन्वेषण एवं अनुभव कर सके।

इस तरह कई महात्माओं के चरित्र को देखें तो समझ सकते हैं कि मानसिक दशा को छिपाकर झूठा अभिनय करना सज्जनों के लिए अनुचित ही नहीं, बल्कि उन्नति के मार्ग के लिए बाधक भी होता है। प्रासंगिक रूप से यहाँ इतना इसलिए कह दिया गया है कि हमारे साधुजन आलसी जीवन न बिताएँ; मिथ्या अभिनय न करें, अपने-आप को शीघ्र ही कृतकृत्य और कृतार्थ न समझने लग जाएँ तथा शुद्ध एवं तीव्र भजन-साधनाओं में हमेशा निष्ठा रखें।

००

जिस में किसी भी प्राणी की किसी प्रकार की हिंसा न हो। फिर भी, भगवान बुद्ध का ऐसा पवित्र धर्म आज कहीं भी प्रचलित दिखायी नहीं देता। विशेषतः तिब्बत का बौद्ध धर्म तो तांत्रिक धर्म के साथ अधिक मेल के कारण आज बहुत दूषित हो गया है। आज तिब्बत का धर्म लामा-धर्म के नाम से बौद्ध-तांत्रिक धर्मों के संकलन से बना एक विलक्षण धर्म है। अतः तिब्बत देश में प्राणियों की हिंसा में कोई संकोच नहीं है।

इसके अतिरिक्त इस देश की प्रकृति भी हिंसा की सहायक है तथा इसे और भी बढ़ानेवाली है। भेड़ें और चमरी गायें वहाँ बहुत सुलभ हैं। अनाज एवं शस्य तो बहुत कम हैं। वहाँ के विशाल ऊसर मैदान जल-शून्य हैं तथा सूखे होने के कारण खेती के बिलकुल योग्य नहीं है। इस कारण वहाँ के ज्यादातर लोग माँस पर गुजर करने के लिए मजबूर हैं। इस प्रकार धर्म एवं प्रकृति-संबंधी विलक्षणताओं के कारण वहाँ अज, मेष आदि की हत्या बेरोक तथा निःसंकोच रूप से की जाती है। इन गाँवों में सब कहीं उनकी हड्डियाँ और खुर बिखरे दिखायी देते हैं।

थोलिंग मठ से चलकर हम इधर-उधर कुछ गाँवों में रहे। गाँवों के आसपास के सभी स्थान राक्षसीय हिंसा की अधिकता के स्पष्ट उदाहरण थे। यद्यपि वहाँ के ग्रामीण कच्चा माँस खानेवाले राक्षसी प्रकृति के हैं और साधारण लोगों के प्रति वे निर्दय हैं, तथापि गेरुए कपड़े पहने साधुओं में उनका बड़ा प्रेम है। चूँकि वे हिन्दू साधुओं को भी लामा समझते हैं, इसलिए जैसे लामाओं का आदर करते हैं, वैसे साधुओं का भी आदर करते हैं। मार्ग में गाँवों के ग्रामीणों ने हम साधुओं की विभिन्न प्रकार से सेवा की थी।

थोलिंग मठ से मार्ग सीधे पूरब की ओर जाता है। हिमालय की उच्चतम हिम शिखर पंक्तियों के उत्तरी ओर के मैदान से ही मार्ग ऊपर जाता है। धवलिमा के साथ अपनी किरणों को चारों ओर फैलाने वाले हिमकूटों के दर्शन अत्यंत आनंददायक थे। यह मैदानी मार्ग यद्यपि सुगम था, तथापि प्रचण्ड वायु का प्रहार तथा बिना पुलों की नदियाँ बहुत बड़ी बाधा थी। तेजी से प्रवाहवान पहाड़ी नदियों को कमर तक के पानी में बार-बार उतर कर पार करना बड़ा कष्टप्रद तथा खतरनाक था।

थोलिंग मठ से लगभग तीस मील की दूरी पर 'दाप्पा' नामक गाँव है। पहाड़ी कन्दराओं में वर्तमान इस गाँव में एक अच्छा आश्रम तथा बौद्ध मंदिर हैं जहाँ बहुत से लामा लोग रहते हैं। दाप्पा के पास 'नेवू' नामक एक

बाजार भी है जिसके जरिये अंग्रेज व्यापारी तिब्बत के साथ व्यापार करते हैं। दापा के करीब पचास-पचपन मील दक्षिण-पूरब की ओर 'ग्यानिमा मंडी' नामक प्रसिद्ध बाजार है। यहाँ अलमोड़ा के ऊपर के 'जोहार' नामक पहाड़ी देश के कई धनी व्यापारी भी डेरा डालकर रहते हैं और दूर देशों से व्यापार करते हैं। हर साल जुलाई महीने से लेकर तीन-चार महीने तक यहाँ घना व्यापार चलता है। पश्चिमी तिब्बत के बाजारों में यह मुख्य माना जाता है।

दाप्पा और ग्यानिमा मंडी के बीच लुटेरों के डर से हमें बड़ा कष्ट सहना पड़ा। एक दिन शाम को डाकुओं का एक सरदार हमारे निवास के पास पहुँच गया। वह शस्त्रधारी था। अति भयानक रूप में डाकुओं के सभी लक्षणों से पूर्ण वह घोड़े से उतरा और हमारे हर एक डेरे में रखी चीजों को डाकुओं की दृष्टि से देखने लगा। कोट-बूट आदि सभ्य वेष पहने हमारे दल के एक साधु के बड़े डेरे को देख उसीमें उसने पहले प्रवेश किया। वे गृहस्थ हैं या लामा, हाथ में कितने रुपये हैं, हथियार कितने हैं, आदि कई प्रश्न उसने उनसे किये। ये प्रश्न सुन कर वे अति भय-विह्वल तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये।

फिर वह डाकू हमारे तम्बू में आया। मैं और मेरे साथ के और दो अन्य साधु साधारण गेरुए कपड़े पहने अनाडंबर वेष में अपने आसन पर बैठे थे। वह हमारे पास आया और अति नम्रभाव प्रकट किया। फिर कहा कि तुम तो लामा हो, किन्तु शेष सब लामा नहीं हैं, सभी गृहस्थ हैं।" मैंने फौरन उसे जवाब दिया—"हम सभी लामा हैं, भिक्षावृत्ति पर गुजर करते हैं। हमारे पास ज्यादा धन या समान नहीं हैं। उस डेरे में जाकर धन आदि के बारे में प्रश्न करने से आपका क्या मतलब था ?" डाकू बोला—कैलास के इस मार्ग पर इस साल चार सौ से ज्यादा चोर चलते हैं। धन और सामान लेकर तुम उस मार्ग पर नहीं जा सकते। इसलिए मैं पूछताछ कर रहा हूँ कि तुम्हारे पास कितना धन है ? मैंने कहा—हमारे पास धन हो या न हो, चोर हमारा कुछ नहीं बिगाड़ेंगे। हम लामा हैं, लामा लोगों को चोर नहीं सताएंगे।

"तुम तो लामा हो, पर दूसरा कोई लामा नहीं है," धीमी आवाज में यह कहते हुए वह वहाँ से उठकर चला गया और पास के झरने के किनारे चूल्हा जलाकर चाय बनाने लगा। हमारे साथ के एक बलवान साधु ने उसे डराने के लिए अपनी बन्दूक लेकर आकाश की ओर गोली चलायी। पर सूरज के अस्त होते ही सभी साधु डाकुओं के डर से घबराने लगे। जो चले गये थे उनको छोड़ शेष पन्द्रह व्यक्तियों के उस साधु-संघ में साहसी बहुत कम

थे । मैं तो उस डाकू के मानसिक भावों की ताड़ लेने के लिए उसके पास जाकर बैठ गया और देर तक उससे बातें करता रहा । उसने बड़े आदर के साथ मुझसे वार्तालाप किया और यह कहते हुए कि "लामाजी ! इसे खा लीजिए" सुखाया हुआ दही मेरे सामने रखकर उसने मेरा सत्कार किया । उसके बाद मैं फिरसे अपने आसन पर आ बैठा ।

रात होने पर अपने पास बैठे साधुओं को मैंने कहा कि यदि वह डाकू वहाँ से उठकर चला जाए तो इसमें सन्देह नहीं कि डाकुओं का दल रात में यहाँ जाएगा । वह दल पास कहीं रहता होगा । यदि हमें लामा समझकर अपनी भक्ति से या हम अधिक लोगों के डर से अगर वह अपने दल को बुलाने जाता तो यहाँ डाकू नहीं आएँगे । अतः हमें यह देखते रहना चाहिए कि यह घोड़े पर चढ़कर रात में कहीं जाता है या नहीं । यदि डाकू रात में भी आ जाएं तो गोली मारकर अथवा तलवार के वार से वे हम सबको मार डालना चाहेंगे । जो उन्हें सच्चे लामा लगेंगे शायद वे उन्हें छोड़ भी देंगे । जो भी हो, जब हम डाकुओं के दल को दूर से आता देखें तो अच्छा यही रहेगा कि साधन-सामग्रियां यहीं छोड़कर आत्मरक्षा के लिए कहीं दूर जा छिपें ।

सभी साधुओं ने मानसिक भय से उस रात्रि को शिवरात्रि के समान बिता दिया । डाकू की चेष्टाओं का वे सूक्ष्म निरीक्षण करते रहे । कैलासपति की कृपा से, न जाने क्यों, वह उस स्थान को छोड़कर कहीं नहीं गया । रात में डाकुओं का हमला भी नहीं हुआ । वह पाँच बजे घोड़े पर चढ़कर वहां से चला गया । तुरन्त हमने भी तेज़ी से आगे की यात्रा शुरू की । चमरी गायों पर यात्रा की चीज़ों को ले जाने वाले इस देश के हमारे कर्मचारी ने कुछ आगे जाने पर हमें बताया कि "लामाजी ! कल वाले उस डाकू ने कहा था कि आज डाकू आएंगे ।" यह सुनकर साधु फिर भय-विह्वल हो गये । इधर-उधर डाकुओं के आने का रास्ता देखते आगे बढ़ने लगे । यह खासकर कहने की ज़रूरत नहीं कि वहाँ के एकांत स्थलों में जहाँ गाँवों का नामोनिशान तक नहीं है, दिन भी रात के समान ही भयानक होता है ।

जब मैंने इस क्षेत्र की पहली बार यात्रा की थी तो मैं किसी विशेष साधन के बिना कहीं भी खुले मैदानों में रातें बिता दिया करता था । एक अकिंचन तथा आडंबर-हीन साधु के रूप में मुझे डाकू आदि से महासंकट का सामना नहीं करना पड़ता था । लेकिन इस द्वितीय यात्रा में एक तो साधुओं की संख्या अधिक थी, और दूसरे उनके साथ सामान था, इसी कारण डाकुओं की कुदृष्टि पड़ जाना

स्वाभाविक था। इसलिए रास्ते में मुझे कई प्रकार के संकटों को झेलना पड़ा। एकाकी एवं अपरिग्रही की स्वतंत्रता और आनन्द तथा मण्डली एवं सपरिग्रही की परतंत्रता और दुःख इन दोनों के भय को मैं इन यात्राओं में अच्छी तरह समझ सका। वस्तुतः कैलास आदि कठिन प्रदेशों में एक अकिंचन एवं तितिक्षु साधु के रूप में ही चलना सबसे उत्तम है। पहली यात्रा में जब मार्ग में मुझे कोई डाकू मिल जाता था तब वह सत्तू आदि खाने की चीजें देकर मेरी सेवा करता था। किन्तु इस बार स्थिति विपरीत थी। अतः मैं कह सकता हूं कि परिग्रह यद्यपि सुख का कारण समझा जाता है, किन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करें तो वह दुःख का ही कारण है। अस्तु!

डाकुओं के हमले के डर से अशांत साधु लोगों को उस दिन खाना पकाने की भी सुधि न रही और वे दिन भर तेजी से चलते रहे। शाम के चार बजे हमें लगभग एक मील की दूरी पर एक नदी के किनारे मार्ग के निकट तीन-चार सफ़ेद छोटे-छोटे डेरे दिखायी दिये! चूँकि साधुओं के दिल में 'चोर-चोर' की भावना दृढ़ थी, इसलिए उन कपड़ों के बने घरों को देखते ही यही कहते हुए कि "लो वह, डाकुओं का निवास-स्थान है" भय-विह्वल होकर आगे जाने का साहस न कर सके और वहीं खड़े रह गये। उसी क्षेत्र के अपने साथी से जब हमने पूछा कि वे कौन होंगे तो उसका भी यही जवाब मिला कि इसका निर्णय नहीं हो सकता कि वहाँ कौन रहता है?

"मैं वहाँ जाकर देखता हूं तुम सब यहीं खड़े रहो। मुझे विश्वास है कि डाकू मेरा कुछ नहीं बिगाड़ेंगे," मैं यह कहते हुए के तम्बू की ओर चल पड़ा। दूसरा एक साधु भी मेरे साथ साथ आगे बढ़ा। जो दीख पड़ते हैं, वे सब ईश्वर के रूप ही हैं—इसी धारणा के अनुसार सबको प्रेम रस से सींचने-वाले एक हृदय में भय आदि मलिन विकारों के लिए जगह नहीं हो सकती। लेकिन प्रेम रस का प्रवाह एक दिल में जितना ही कम होता है उतने ही मलिन विकार उसमें समाये रहते हैं। मैं निरीह बालकों के समान आनन्द के साथ उन तंबुओं की ओर चल पड़ा।

तंबुओं के पास चमरी-गायें और घोड़े चर रहे थे। कुछ लोग बाहर मैदान में वृत्ताकार बैठे वार्तालाप कर रहे थे। जब मैं पड़ाव के पास पहुँच गया तब वहां बैठे हुए लोगों में से एक व्यक्ति तुरंत उठकर मेरी ओर दौड़े आये और प्रणाम के साथ मुझे गले से लगा लिया। मुझे देख आनंद से वे ऊँची आवाज़ में हँसने लगे। यह सज्जन मेरे बहुत पुराने परिचित हृषीकेश-वासी

खूब जानते हैं। ये व्यापारी ब्रिटिश राज्य की प्रजा है, तथा साधुओं के बड़े भक्त हैं। इसलिए हमने बड़ी यहाँ दो-एक दिन बहुत सुविधा के साथ विताये।

चूंकि अधिक साधुओं के दल के रूप से चलने में कई प्रकार के संकट आते हैं, और इधर भाद्रपद मास भी शुरू हो गया था, और हमें यात्रा शीघ्र पूरी करनी थी, इसलिए सिर्फ़ तीन-चार साधुओं के साथ में आगे रवाना हो पड़ा। ग्यानिमा से श्री कैलास लगभग चालीस मील पूर्वोत्तरी दिशा में स्थित है। ग्यानिमा से ऊपर का मार्ग यद्यपि डाकुओं का केन्द्र था तो भी हमें किसी विशेष विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा था, क्योंकि हम कुछ व्यापारियों के साथ ही चल रहे थे।

तीसरे दिन सवेरे सात बजे हम कैलास की तराई के 'दर्चेन' नामक स्थान पर सानंद पहुच गये। एक दिन का रास्ता तय करते ही हमें श्री रजत-शैल के दर्शन मिलने लगे थे। थोलिंग मठ के मार्ग से जानेवालों के लिए पहले कैलास दृष्टिगोचर होता है। अलमोड़ा के रास्ते से जानेवालों के लिए पहले मानसरोवर दिखायी देता है। 'तीर्थापुरी' नामक एक तीर्थस्थान भी ग्यानिमा से करीब सत्ताईस मील उत्तर की ओर स्थित है, जिसके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि पुराण-प्रसिद्ध भस्मासुर के निधन का यही स्थान है। किंतु वहाँ जाने का हमने विचार नहीं किया।

भारतवर्ष में हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थस्थानों में जैसे कुंभ मेला मनाया जाता है, वैसे ही कैलास में भी बारह सालों में एक प्रकार का मेला मनाया जाता है। जिस साल हम गये थे, वह मेले का साल था। इस मेले की सूचना बदरीनाथ में ही हमें मिल चुकी थी। उत्सव में भाग लेने की इच्छा भी उसी साल कैलास-यात्रा के लिए प्रेरक थी। यहाँ इन्हीं दिनों तिब्बत के कई लामा एवं गृहस्थों के डेरे भी जहाँ तहाँ दिखायी दे रहे थे। लासा से तिब्बत के राजा दलाई लामा के मंत्री भी इसी महोत्सव के लिए कई दिनों से कैलास पर डेरा डाले हुए थे। लासा, मंगोलिया आदि विदूर देशों से भी कई महान लामा यहाँ पधारे हुए थे। चूंकि किन्हीं विशेष दिनों में मेला मनाने का वहाँ कोई नियम नहीं है, इसलिए यात्री जब-तक आ जाते थे और दर्शन एवं परि-क्रमा करके दो-तीन दिन रहकर लौट जाते थे। अतः वहाँ बहुत बड़ी भीड़-भाड़ दिखायी नहीं दी। मेरी पहली यात्रा में कैलास के नीचे के मैदान जिस प्रकार विजन एवं बिलकुल शून्य दिखायी दिये थे, मेरी इस द्वितीय यात्रा में

उनकी वैसी स्थिति होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। फिर भी अधिक संख्या में लोग इधर-उधर डेरा डाले हुए थे।

पहली यात्रा के विवरण में कैलास की महिमा एवं उसकी लोकोत्तर सुन्दरता के वारे में कहा गया है कि यह स्थान समुद्र की सतह से तेईस हज़ार फुट ऊँचाई पर स्थित है। इसका घेरा अठाईस-तीस मील है। यह मीनार के आकार का हिमावृत, धवल एवं अत्यंत आकर्षक एक पर्वत-शिखर है। पुराणों में वर्णित रजत-गिरि आदि के नाम से प्रसिद्ध महादेव का स्थान यही शिखर है। अतः यहाँ उसका दोवारा वर्णन नहीं किया जा रहा।

दर्चेन में उस देश के कई यात्रियों के पास हम भी तम्वू डालकर रहने लगे। दर्चेन से उत्तर की ओर अति धवल कैलास कूट का दर्शन और दक्षिण में में घनी नीलिमा लिये राक्षसताल का दर्शन वड़ा ही रमणीय था। राक्षसताल के पूरव का मानसरोवर वहाँ से नहीं दीखता था। एक दिन विश्राम करके दूसरे दिन हम खा-पीकर कैलास की परिक्रमा के लिए निकले। पहली यात्रा में स्वास्थ्य के खराव होने के कारण मैं कैलास की परिक्रमा नहीं कर सका था। वहाँ के लोग कैलास की परिक्रमा को यात्रा का मुख्य अंग मानते हैं। लामा लोगों का यह दृढ़ विश्वास है कि कैलास जाकर उस पुण्य शिखर की कम से कम एक वार जो परिक्रमा करता है, उसका जन्म कृतार्थ हो जाता है।

कैलास की चार दिशाओं में चार गुम, अर्थात् लामा लोगों के चार आश्रम स्थित हैं। उनमें वारहों महीने लामा लोग तपस्या में लीन रहा करते हैं। हम दस वजे परिक्रमा करने लगे। कई लामा और लामिनियाँ भी प्रदक्षिणा कर रही थीं। उनमें से कुछ, अधिकतर लामिनियाँ, नमस्कार-प्रदक्षिणा की घोर तपस्या में लगी थीं। ज़मीन पर गिरकर दंड-प्रणाम करना, वहाँ से उठकर उस जगह के आगे फिर दंड-प्रणाम करना और उठकर फिर आगे दंड-प्रणाम करना, यों लगातार दंड-प्रणाम करते हुए पहाड़ की परिक्रमा करने की उन की महान् तपस्या को देख मेरा मन चकित हो गया। सोलह से उन्नीस हज़ार फुट तक के ऊँचे कैलास-प्रांतों में मिट्टी और पत्थर पर तथा जल और हिम में यों प्रणाम करते हुए परिक्रमा करना साधारण लोगों के लिए विल्कुल असंभव है। साथ ही वे 'मामेपेमेहूँ' 'मामापेमेहूँ' के मंत्र का उच्चारण भी विना रुके, निरन्तर वड़ी तेजी से करते रहते हैं। तिव्वत के लामा और गृहस्थ सव हमेशा अपने इष्ट मंत्र के जप के महायज्ञ में श्रद्धा के साथ लगे दिखायी देते हैं। इसके अतिरिक्त इस मंत्र को लिखकर उससे भरे धातु के वने एक यंत्र-विशेष को हमेशा

अपने हाथ में घुमाते रहना भी उनका अनिवार्य भजन-कर्म है । मार्ग के पास के पत्थरों एवं आश्रम की दीवारों पर इस मंत्र को मोटे अक्षरों में लिखना भी वहाँ प्रचलित है । प्रणति-परिक्रमा करने वाले ये लोग इसी स्थिति में ही खाना खाते हैं । कोई यात्री इन्हें सत्तू आदि कुछ दे देता है तो उसे खाकर ये तृप्त जाते हैं । अन्यथा ये अपने पास खाने की कोई चीज़ रखते दिखायी नहीं दिये । अहो ! श्रद्धा की महिमा की कोई सीमा नहीं होती । कड़ी सर्दी और पर्वतीय दशा की कठोरता के कारण जहाँ पैदल चल कर, परिक्रमा करना भी हमारे लिए असंभव लगता है वहाँ उन की ऐसी प्रणति-परिक्रमा देखकर मैं दंग रह गया और उन व्यक्तियों को प्रणाम किया ।

दर्चन से छः-सात मील की दूरी पर स्थित पहले आश्रम में, अर्थात् पश्चिमी दिशा के 'चुकु' नामक आश्रम में हम धीरे-धीरे पहुँच गये । बुद्ध मूर्ति आदि के दर्शन करते हुए हमने लामाओं के साथ वहाँ तीन-चार घंटे विश्राम किया ।

हम में भक्ति रखने वाले एक अमीर भी, जिन्हें वहाँ के लोग राजा कहते थे, सपरिवार हमारे साथ परिक्रमा करने के लिए आये थे । इसलिए हमें रास्ते में बड़ी सुविधा तथा जहाँ-तहाँ लामाओं के आश्रम में विशेष आदर मिला था ।

इसके बाद वहाँ से निकल कर लगभग पाँच मील दूर उत्तर दिशा में स्थित 'डिर फूक' नामक दूसरे आश्रम में हम लोग शाम को जा पहुँचे । वहाँ भी हमने भगवान् बुद्ध आदि के दर्शन किये और रात वहाँ बितायी । रात में भयानक वर्षा एवं हिमपात हुआ । वहाँ से कैलास शिखर के निकट के अनावृत एवं संपूर्ण दर्शन मिलते हैं । जैसे यहाँ से कैलास के सुस्पष्ट दर्शन मिलते हैं वैसे और किसी स्थान से नहीं मिलते । शाम और सवेरे कैलास के पूर्ण दर्शन करने से हमें अतीव आनन्द मिला, हमारा जीवन सफल होगया ।

अगले दिन सवेरे वहाँ से चल पड़े । यहाँ से कड़ी चढ़ाई होती है । चढ़ाई पर हिम-राशि बहुत दिखायी पड़ी । उस चढ़ाई की सब से ऊँची सीमा 'डोलमा पास' कहलाता है । इस ऊँचे घाट पर 'गौरीकुंड' नामक प्रसिद्ध रमणीय सरोवर है । कहा जाता है कि वह साक्षात् श्रीगौरी की जलक्रीड़ा का स्थान है । बड़ी कठिनाई से हिमराशि को पार करते हुए हम उस स्वर्गीय सरोवर के किनारे पहुँचे । उसकी सुन्दरता में रमते हुए मैं वहाँ देर तक बैठा रहा । वह सरोवर

इधर-उधर बड़े-बड़े धवल हिम-खंडों से घिरा था। सरोवर के ऊपर शीशे के समान दो-तीन अंगुल की मोटाई में पानी जम कर बरफ बना हुआ था। उसे लकड़ी से तोड़कर और इधर-उधर हटाकर ही यात्री लोग उस सरोवर में स्नान तथा आचमन करते हैं।

दूसरे आश्रम से दस-बारह मील की दूरी पर स्थित 'शुंतुलफूक' नामक तीसरे गुम्‍ मे भी भगवान बुद्ध की पूजा आदि कृत्य बड़ी धूमधाम से सम्पन्न होते हैं। मार्ग की कठिनता तथा उस दिन खाना न मिलने के कारण थके-माँदे हमने लामाओं से चाय लेकर पी ली और थोड़ी देर तक वहाँ बैठकर विश्राम किया। शाम तक वहाँ से केवल चार मील दूर दर्चन में धीरे-धीरे चल कर पहुँच गये।

यहाँ यह बात विशेषतः उल्लेख्य है कि बड़ी-बड़ी दिव्य जलधाराओं के किनारों और ऊँचे-ऊँचे हिम-पर्वतों की घाटियों से साक्षात् दीखनेवाले गौरी-शंकर एवं ऋषीश्वरों के विहार-स्थानों की, तथा प्रकृति-सुषमा की चरम-सीमा श्रीकैलास पर्वत की परिक्रमा करने की पुण्यतम तपस्या का वर्णन यदि सैकड़ों पुस्तकों द्वारा किया जाए तो भी वह अपूर्ण ही रह जाएगा।

हमने भाद्रमास की कृष्णाष्टमी के दिन ही कैलास की परिक्रमा पूर्ण की थी। भारतभूमि से दूसरे मार्गों के द्वारा यहाँ की यात्रा करनेवाले साधु तथा अन्य भक्त जन आषाढ़ और श्रावण के महीनों में अपनी यात्रा पूरी करके लौट गये थे। इसलिए हमने किसी भी हिन्दू यात्री को वहाँ नहीं देखा था। चूंकि बद्रीनाथ का मार्ग हिम की अधिकता से श्रावण के महीने में ही खुलता था, इसलिए हमारी यात्रा के लिए विलंब हो गया था। इसके अतिरिक्त अन्य मार्गों की अपेक्षा बदरी का मार्ग हिम के आधिक्य से कठिन एवं दुर्गम ही नहीं, बल्कि ज्यादा लंबा भी है। नेपाल का मार्ग भी यद्यपि लंबा है, तथापि हिम की कठिनाई उस मार्ग में है ही नहीं। हृषीकेश से बदरीनाथ तक एक सौ सत्तर मील की दूरी है। इसी रास्ते वहाँ से कैलास तक पहुँचने के लिए लग-भग दो सौ पाँच मील के विकट मार्ग पर चलना पड़ता है। यद्यपि हिन्दू साधुओं का समागम हमें वहाँ नहीं मिला था, तो भी बौद्ध साधुओं की संगति का सुख सुलभ था। हम दो दिन और भी कैलास पर्वत पर रहे।

दर्चन से लगभग डेढ़ मील ऊपर चढ़ते जाएँ तो वहाँ चौथा आश्रम, अर्थात् 'गङ्टा नामक दक्षिण भाग का आश्रम दिखायी देता है। मैं दूसरे एक साधु के साथ वहाँ चढ़ता गया था। उसके पास 'शिलङ्' नामक एक दूसरा

आश्रम भी है। वहाँ ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता गया, कैलास की दिव्य गरिमा की कई उच्च भावनाएँ मेरे मन में उमड़ती गयीं। आश्रम के दक्षिणी दिशा की ओर देखने पर राक्षसताल आदि के दर्शन बड़े ही अपूर्व एवं अलौकिक ही कहे जा सकते हैं। पाठ में लगे हुए आश्रम के लामा लोगों ने हमें देखकर हमारा सोल्लास स्वागत किया और अपने उच्च आसनों पर बिठाया। जिन उच्च आसनों पर बैठकर लामा लोग भजन करते हैं, उन पर बड़े बड़े गृहस्थ भी नहीं बैठा करता। भारतवर्ष के संन्यासियों के समान तिब्बत के लामा भी दूसरे आश्रमियों के लिए गुरु एवं पूज्य होते हैं। किंतु भारत से जाने वाले कषाय-धारी साधुओं को वहाँ के लोग अपने समान ही उच्च आसन पर बिठाकर उनका आदर करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि ये भी लामा हैं।

बुद्ध-मूर्ति आदि के दर्शन करके मैं वहाँ के बड़े लामा के साथ देर तक धार्मिक वार्तालाप करता रहा। मेरी इच्छा जानकर उन्होंने कई महान् ग्रंथ भी मुझे दिखाये थे। बड़े लामा युवक, सुन्दर तथा तेजस्वी थे। उनकी वर्ण-कान्ति भी आकर्षक थी।

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणान्तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्रानामसितस्तथा॥

महाभारत के उक्त प्रसिद्ध कथन को प्रमाण मानें तो पीले वर्ण की मिलावट होने पर भी मुख्यतः गौर वर्ण के वे लोग ब्राह्मणों के वर्ग में आ सकते हैं। इतना ही नहीं, वे बड़े ही सात्त्विक भी दिखायी पड़े। दूसरे कुछ लोगों ने भी उनकी शुद्ध प्रकृति एवं भजन-निष्ठा की प्रशंसा की थी। सात्त्विक गुणों की संपत्ति के द्वारा भी वे एक ब्राह्मण गिने जा सकते थे।

× × ×

हमारे पूर्वजों का यह सिद्धांत सत्य ही है कि ब्राह्मण ही संन्यास के अधिकारी हैं। ये सबके लिए माननीय हैं। परन्तु विवाद का विषय यह है कि ब्राह्मण कौन है? यदि इस पक्ष के सहारे विचार करेंगे कि जो सात्त्विक प्रकृति है, वही ब्राह्मण है, तो हम यह पाएँगे कि सन्यास की इच्छा, संन्यास-कर्म एवं ईश्वरीय जीवन एक ब्राह्मण को छोड़ और किसी के लायक नहीं हो सकते। यदि कोई सात्त्विक गुणों एवं अध्यात्म-संस्कृति के बिना किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सन्यास लेता है तो वह संन्यासी नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो चूंकि सभी उत्तम संन्यासी सत्त्वगुणी ही होंगे, इसलिए ब्राह्मणत्व भी निस्संदेह

उनको सिद्ध हो जाता है। अतः बौद्ध धर्म में, इस्लाम धर्म में, ईसाई धर्म में अथवा और किसी भी धर्म में, यदि सात्त्विक-वृत्ति हो तो वे सभी प्रस्तुत मत के अनुसार उत्तम ब्राह्मण ही हैं। किन्तु गुणों के आधार पर वर्ण-विभाजन करने का यह मत यद्यपि पहले की तरह आज भी सर्वमान्य नहीं हुआ है, तथापि वह न्याय के अनुकूल है, और इसलिए सनातन होकर विराजता आ रहा है।

कैलास पर्वत के बीच ऊँचे विशाल मैदान में तथा विदूरता एवं निगूढ़ता में विराजमान उस आश्रम की प्रशांत-गंभीर स्थिति ने मेरे मन में बड़ी विचित्रता और शान्ति को पैदा कर दिया। यद्यपि लामा लोग ज्ञान-चर्चा और ध्यान-समाधि में लगे नहीं दिखायी देते; पाठ-पूजा आदि ही उनका मुख्य भजन है, तो भी उन्होंने अपने आश्रम बड़े एकांत स्थान में बनवाये हैं। सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहकर विरक्त जीवन बिताना लामाओं का मुख्य धर्म है। आज भी वहाँ दिखायी पड़ने वाली एकांत जीवन आदि की कई उपादेय मर्यादाएं इस तथ्य का प्रमाण हैं कि किसी समय संन्यास-कर्म अपने सभी कठोर नियमों के साथ तिब्बत देश में प्रचलित था।

इतिहास में यह देखा जा सकता है कि एक-एक काल में एवं एक-एक देश में केवल एक-एक धर्म ही मुख्य रूप से प्रचलित रहा है। बुद्ध धर्म एवं हिन्दू-धर्म में किसी समय सन्यास-धर्म तथा विरक्त जीवन मुख्य और पूज्य माना जाता था। कुछ इतिहासकार प्रमाण के साथ इस बात का समर्थन करते हैं कि वैदिक, कर्मनिष्ठ तथा भजनशील हिन्दुओं के धर्म में बौद्ध-धर्म की छाया पर चलने से ही कर्म-त्याग रूपी संन्यास को इतनी प्रधानता मिल सकी थी तथा इसका इतना प्रचार हो सका था।

जैसे आज के नवीन शिक्षितों का आक्षेप है कि कर्म-त्याग श्रेयस्कर नहीं है, वैसे ही पुराने ज़माने में भी कई संप्रदाय के लोगों का यह तर्क था कि संन्यास-मार्ग अशास्त्रीय एवं अविहित है। शास्त्रों में वे लोग 'समुच्चयवादी' कहे जाते हैं, जिन्होंने यह प्रबल तर्क दिया था कि ब्रह्मज्ञान को ही मोक्ष का साधन मान लें तो भी वह कर्म का सहकारी होकर मोक्ष को प्रदान करता है और कर्म एवं ज्ञान के बीच कोई विरोध नहीं है।

लेकिन सन्यास-पक्ष के लोगों ने उस तर्क का शतशः का खंडन किया था। उनका सिद्धान्त है कि केवल यह कह देना ब्रह्मज्ञान नहीं है कि "मैं ब्रह्म हूँ ?" अपितु शम, दम, तितिक्षा आदि साधनों के साथ दीर्घकाल तक एकान्त

देश में रहकर ब्रह्म का अभ्यास किये बिना ब्रह्म का निर्णय असंभव है। 'मैं देह हूँ' का विपर्यय ज्ञान, दिन-रात देह का अभिमान करते हुए और नाना प्रकार के कर्मों में डूबे हुए कभी एक बार 'मैं ब्रह्म हूँ' कह देने-मात्र से—इतनी आसानी से—नष्ट नहीं हो सकता। कारण यह है कि साधकों के लिए कर्म-त्याग का निर्विक्षेप संन्यासाश्रम अनिवार्य हो जाता है। फिर सिद्ध वृद्धों के लिए तो सन्यास स्वतःसिद्ध है।

ब्रह्मनिष्ठा में रमनेवाले तो संन्यासी हैं ही, ब्रह्मनिष्ठा ब्रह्माकार मनोवृत्ति का प्रवाह है। जिस मन में आत्माकार-वृत्ति अर्थात् सहज समाधि का प्रवाह हो रहा है, उसमें देह आदि अनात्म-पदार्थों का अभिमान भला कैसे पैदा हो सकता है? आत्मा का अभिमान तथा अनात्मा का अभिमान—ये दोनों एक-सी प्रवृत्तियाँ एक-साथ नहीं हो सकतीं। देह आदि में दृढ़ अभिमान के बिना उसके व्यवहार कैसे संभव हो सकते हैं? इस प्रकार ज्ञान-निष्ठा में आरूढ़ सिद्धों के पास लौकिक व्यवहार की गंध तक नहीं पहुँच पाती। इसी लिए उन्हें सन्यास-धर्म स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वे संन्यास-पक्ष का प्रबल रूप से समर्थन करते हैं कि साधन की दशा में कर्म-त्याग रूपी संन्यास आवश्यक कर्तव्य है। सिद्ध की दशा में तो यह स्वतःप्राप्त है, अतः कर्म एवं ज्ञान एक ही अधिकरण में स्थित नहीं हो सकते। जनक, विदुर आदि के कर्म केवल कर्माभास थे और केवल भोगोन्मुख विषयी लोग ही चिरकाल से चली आनेवाली सन्यास-मर्यादा का निषेध करते हैं।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि बौद्ध धर्म में भी यह सिद्धांत है कि सदा विषयोन्मुख होकर चलने वाले मन एवं ज्ञानेन्द्रियों को रोक कर पारलौकिक अनुष्ठानों को निर्विक्षेप रूप से निभाने के लिए यतित्व तथा एकांत देश का निवास अनिवार्य है, और उस सिद्धांत के फलस्वरूप ही तिब्बत आदि बौद्ध देशों में संन्यास-पद्धति बहुत प्रचलित दिखायी देती है। बौद्ध धर्म भी दृढ़ रूप से इस पर विश्वास रखता है कि गृहस्थ-जीवन धोखा तथा पापों से भरा है।

किन्तु प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों कालों में कई कर्मनिष्ठ लोगों की यह सदा जिज्ञासा रही है कि यों व्यवहार और संसार को छोड़ कर एकांत देश में भजन-समाधि में निमग्न रहनेवाले लोगों से इस संसार का, जो कि कर्म-जटिल है, कर्म पर आधारित है तथा कर्म से ही चलायमान है, भला क्या लाभ होता है? निष्कर्मवादी लोगों के लिए इस प्रश्न का उत्तर सरल है।

उनकी अचंचल निष्कर्म-स्थिति ही संन्यास के लिए बड़ी उपकारी है। उनका निर्विकल्प समाधि-भाव ही दुनिया में बड़े बड़े पंडितों के दिये अनेकानेक प्रभावशाली व्याख्यानों तथा उनके लिखे अनगिनत महान् ग्रंथों से बढ़कर संसार को प्रभावित करता है और उसके द्वारा संसार का उद्धार करता है। उनका संकल्प-हीन निष्कर्म भाव ही दुनिया में द्रुत गति से होनेवाले कर्म-कलापों से भी बढ़कर संसार का उपकार करता है तथा उसे प्रोत्साहन प्रदान करता है। इतना ही नहीं, वह समुद्र से भी अधिक अपार है, तथा चतुरंगिणी सेना से भी अधिक शक्तिशाली है।

●●

१७. मानसरोवर

: १ :

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नम्
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥

यह श्रीमद्भागवत का एक सरस एवं प्रसिद्ध श्लोक है। कहा जाता है कि अप्सराएँ मानसरोवर में नग्न होकर स्नान किया करती थीं। ऐसे ही एक अवसर पर शुक सामने की ओर से और व्यास पीछे की ओर से मानस के किनारे से होकर ऊपर जा रहे थे। शुक यद्यपि नग्न थे तो भी चित्र-सदृश उन्हें देखकर देवियाँ लज्जित नहीं हुई, किन्तु व्यास यद्यपि नंगे न थे, तो भी उन्हें देख स्त्रियाँ लज्जित हो गयीं और उन्होंने जल्दी कपड़े पहन लिये। यह देख चकित व्यास मुनि ने इसका कारण पूछा तो देवाङ्गनाओं ने उत्तर दिया कि 'आपके मन में अब भी स्त्री-पुरुष का भेद है। किन्तु ब्रह्ममात्र की दृष्टि रखनेवाले आपके पुत्र में उस भेद की लेशमात्र भी प्रतीति नहीं है।' इस प्रकार जिन विवेकशालिनी अप्सराओं के बारे में यह वर्णन किया गया है कि वे मानसरोवर में स्नान करती थीं क्या वे उसी देश की नारियाँ होंगी? माना जाता है कि अप्सरोवृत्ति नारियाँ प्राचीनकाल में यहाँ बहुत थीं। धर्म और अधर्म की चिंता किये बिना मांस, मद्य एवं मैथुन में अधिक रमकर, आनंद भोगने का भोगोन्मुख जीवन आज भी यहाँ साधारण लोगों के बीच कम नहीं है।

कुछ अन्य पुराणों में यह भी उल्लिखित है कि यक्ष, किन्नर, अप्सरा, गंधर्व आदि देववर्गों से कैलास की गुफाएँ तथा आसपास की भूमि आबाद है। आकृति, प्रकृति एवं व्यवहार में जो हम भारतीयों से ज़रा भी समता नहीं रखते, जो हमारे जैसे पाप-भीरु नहीं हैं और जो भोग-विलास में रमते जीवन बिताते हैं, उन तिब्बत-निवासियों का यदि मनुष्य-वर्ग से पृथक् देवयोनि

के रूप में पौराणिकों ने वर्णन किया तो यह अनुचित नहीं है। पुराणों में यह प्रसिद्ध ही है कि भारतवर्ष के उत्तर के किन्नर आदि वर्गों में वर्णाश्रम आदि की मर्यादा, कर्म का अधिकार अथवा धर्म और अधर्म की चिंता नहीं थी। यदि आज तिब्बत में परलोक की चिंता एवं धर्म-चिंता प्रचलित दिखायी देती है तो यह अनुमान करना ग़लत न होगा कि वह बौद्ध-धर्म के प्रचार का ही सुपरिणाम है।

इस प्रकार अमानुष-मनुष्य त्रिविष्ट के निवासी—अर्थात् पौराणिकों की दृष्टि में अमानुष तथा आधुनिक दृष्टि में मनुष्य—तिब्बत देश के रहनेवाले स्त्री-पुरुष, इस साल मेले के कारण कैलास की तराई एवं मानस के तट पर अधिक संख्या में दिखायी दे रहे थे। कैलास की परिक्रमा में जब मैं दूसरे 'गुम्मे' में एक रात रहा था, तब यहाँ बुद्ध की मूर्त्ति प्रतिष्ठित थी, उस रमणीय एवं बुद्धमूर्ति के सामने वहाँ के पुजारी लामा के साथ रात के बारह बजे तक मैं चिन्तनात्मक बातें करता रहा। रात के दस बजे तक अनेक स्त्री-पुरुषों को कई उपहारों के साथ भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए आते देखा। उस साल बहुत अधिक लोग सरोवर की परिक्रमा करते भी दिखायी दिये। लासा से आये हुए एक बड़े तेजस्वी लामा तथा उनके शिष्यों के एक दल को हमने सरोवर के किनारे देखा था। हमें देखते ही उन्होंने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। हमने उन प्रभावशाली व्यक्ति को प्रणाम किया। सब लोग मैदान में देर तक बैठे रहे और धार्मिक चर्चा करते रहे। कुछ मिठाइयाँ देकर हमने उन का सत्कार किया और उनके दर्शन से अति आनन्दित हुए।

परिक्रमा आदि के लिए कैलास के पास हमने पाँच दिन बिताये। बाद में हम मानसरोवर की ओर निकले। जब हम कैलास के पास रहते थे तो उन दिनों उस देश के कई लोग—सुलक्षणी और कुलक्षणी लोग—हमारे डेरों के पास आकर ग़ौर से हमारी ओर देखा करते थे। चूंकि कैलास और मानसरोवर के निकटवर्ती देश डाकुओं के लिए मशहूर थे, इसलिए हमारा ख्याल था कि इन घूरनेवाले लोगों में डाकू भी होंगे।

× × ×

ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य-वर्ग एक विलक्षण सृष्टि है। दूसरे सभी प्राणी अन्दर और बाहर एकरूप के होते हैं, अर्थात् अन्दर जो भाव है, वही मुख पर स्पष्ट दिखायी पड़ेगा। उनके अन्दर यदि अनुराग का भाव है तो वही भाव मुख आदि बाहरी अंगों से भी प्रकट होगा। यदि द्वेष है तो द्वेष, दुःख

१७. मानसरोवर

: १ :

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नम्
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥

यह श्रीमद्भागवत का एक सरस एवं प्रसिद्ध श्लोक है। कहा जाता है कि अप्सराएँ मानसरोवर में नग्न होकर स्नान किया करती थीं। ऐसे ही एक अवसर पर शुक सामने की ओर से और व्यास पीछे की ओर से मानस के किनारे से होकर ऊपर जा रहे थे। शुक यद्यपि नग्न थे तो भी चित्र-सदृश उन्हें देखकर देवियाँ लज्जित नहीं हुई, किन्तु व्यास यद्यपि नंगे न थे, तो भी उन्हें देख स्त्रियाँ लज्जित हो गयीं और उन्होंने जल्दी कपड़े पहन लिये। यह देख चकित व्यास मुनि ने इसका कारण पूछा तो देवाङ्गनाओं ने उत्तर दिया कि 'आपके मन में अब भी स्त्री-पुरुष का भेद है। किन्तु ब्रह्ममात्र की दृष्टि रखनेवाले आपके पुत्र में उस भेद की लेशमात्र भी प्रतीति नहीं है।' इस प्रकार जिन विवेकशालिनी अप्सराओं के बारे में यह वर्णन किया गया है कि वे मानसरोवर में स्नान करती थीं क्या वे उसी देश की नारियां होंगी? माना जाता है कि अप्सरोवृत्ति नारियां प्राचीनकाल में यहाँ बहुत थीं। धर्म और अधर्म की चिंता किये बिना माँस, मद्य एवं मैथुन में अधिक रमकर, आनंद भोगने का भोगोन्मुख जीवन आज भी यहाँ साधारण लोगों के बीच कम नहीं है।

कुछ अन्य पुराणों में यह भी उल्लिखित है कि यक्ष, किन्नर, अप्सरा, गंधर्व आदि देववर्गों से कैलास की गुफाएँ तथा आसपास की भूमि आबाद है। आकृति, प्रकृति एवं व्यवहार में जो हम भारतीयों से ज़रा भी समता नहीं रखते, जो हमारे जैसे पाप-भीरु नही हैं और जो भोग-विलास में रमते जीवन बिताते हैं, उन तिब्बत-निवासियों का यदि मनुष्य-वर्ग से पृथक् देवयोनि

के रूप में पौराणिकों ने वर्णन किया तो यह अनुचित नहीं है। पुराणों में यह प्रसिद्ध ही है कि भारतवर्ष के उत्तर के किन्नर आदि वर्गों में वर्णाश्रम आदि की मर्यादा, कर्म का अधिकार अथवा धर्म और अधर्म की चिंता नहीं थी। यदि आज तिब्बत में परलोक की चिंता एवं धर्म-चिंता प्रचलित दिखायी देती है तो यह अनुमान करना ग़लत न होगा कि वह बौद्ध-धर्म के प्रचार का ही सुपरिणाम है।

इस प्रकार अमानुष-मनुष्य त्रिविष्ट के निवासी—अर्थात् पौराणिकों की दृष्टि में अमानुष तथा आधुनिक दृष्टि में मनुष्य—तिब्बत देश के रहनेवाले स्त्री-पुरुष, इस साल मेले के कारण कैलास की तराई एवं मानस के तट पर अधिक संख्या में दिखायी दे रहे थे। कैलास की परिक्रमा में जब मैं दूसरे 'गुम्मे' में एक रात रहा था, तब यहाँ बुद्ध की मूर्त्ति प्रतिष्ठित थी, उस रमणीय एवं बुद्धमूर्ति के सामने वहाँ के पुजारी लामा के साथ रात के बारह बजे तक मैं चिन्तनात्मक बातें करता रहा। रात के दस बजे तक अनेक स्त्री-पुरुषों को कई उपहारों के साथ भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए आते देखा। उस साल बहुत अधिक लोग सरोवर की परिक्रमा करते भी दिखायी दिये। लासा से आये हुए एक बड़े तेजस्वी लामा तथा उनके शिष्यों के एक दल को हमने सरोवर के किनारे देखा था। हमें देखते ही उन्होंने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। हमने उन प्रभावशाली व्यक्ति को प्रणाम किया। सब लोग मैदान में देर तक बैठे रहे और धार्मिक चर्चा करते रहे। कुछ मिठाइयाँ देकर हमने उन का सत्कार किया और उनके दर्शन से अति आनन्दित हुए।

परिक्रमा आदि के लिए कैलास के पास हमने पाँच दिन बिताये। बाद में हम मानसरोवर की ओर निकले। जब हम कैलास के पास रहते थे तो उन दिनों उस देश के कई लोग—सुलक्षणी और कुलक्षणी लोग—हमारे डेरों के पास आकर ग़ौर से हमारी ओर देखा करते थे। चूंकि कैलास और मानसरोवर के निकटवर्ती देश डाकुओं के लिए मशहूर थे, इसलिए हमारा ख्याल था कि इन घूरनेवाले लोगों में डाकू भी होंगे।

× × ×

ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य-वर्ग एक विलक्षण सृष्टि है। दूसरे सभी प्राणी अन्दर और बाहर एकरूप के होते हैं, अर्थात् अन्दर जो भाव है, वही मुख पर स्पष्ट दिखायी पड़ेगा। उनके अन्दर यदि अनुराग का भाव है तो वही भाव मुख आदि बाहरी अंगों से भी प्रकट होगा। यदि द्वेष है तो द्वेष, दुःख

है तो दुःख और सुख है तो सुख—उसी प्रकार बाहर भी प्रकट दीखेंगे। वे अपने अन्दर के भाव को छिपाने की न इच्छा करते हैं और न चेष्टा। परंतु केवल मनुष्यों की ही सृष्टि परमात्मा ने वैसी नहीं की है। मनुष्य अपने वास्तविक भाव को छिपा सकता है। अन्दर के भाव को छिपाता ही नहीं, बिल्कुल विपरीत भाव को भी प्रकट कर सकता है। यद्यपि वह आन्तरिक रूप में तो अनुरक्त होता है, किन्तु बाहर चेहरे के भावों, वेष-भूषा आदि तथा आचरणों से विरक्त भाव का अभिनय कर सकता है। अन्दर से शत्रु है तो भी बाहर मित्रता का भाव प्रकट कर सकता है। अन्दर से क्रुद्ध होने पर भी बाहर प्रसन्न होने का भाव दिखा सकता है। अहो ! मनुष्य-सृष्टि बड़ी विचित्र ही कही जा सकती है।

यद्यपि विद्वान् लोग मानव-जन्म की यह प्रशंसा किया करते हैं कि वह पशु-पक्षी आदि सभी के जन्मों से श्रेष्ठ है, तथापि उन्हें यह भी स्वीकार करना होगा कि मनुष्य का शरीर कुटिलता, अपवित्रता तथा झूठे आचरणों का आकार है। प्रासंगिक बातों को छोड़ अब हम प्रकृत विषय पर आएँ।

× × ×

हमें आशंका थी कि यों मित्र-भाव एवं उदासीन भाव में आकर हमसे मिलनेवाले लोगों में धोखेबाज तथा डाकू लोग भी होंगे और इसी कारण हम आगे की यात्रा के बारे में गहरी चिंता में डूबे रहे। फिर भी ईश्वर की कृपा से हमें नीचे की ओर जानेवाले कुछ व्यापारियों का साथ मिल गया, और इसलिए उनके साथ चिंता एवं कष्टों के बिना हम कैलास से मानसरोवर के मार्ग से नीचे की ओर चलने लगे।

कैलास से दक्षिण-पूरब की ओर स्थित मानस के किनारे तक लगभग पन्द्रह मील की दूरी है। पहले दिन रजतगिरि के नीचे विशाल मैदान से राक्षसताल में गिरनेवाली कई जलधाराओं को पार कर शाम को हम 'बर्क' नामक छोटे गाँव के पास पहुँच गये। अगले दिन सवेरे राक्षसताल के किनारे से पूरब की ओर यात्रा करके तीन चार घंटों में सरोवर के पश्चिमोत्तर कोने के 'चीवू' नामक गुम्मे में पहुँच गये। सरोवर की आठ दिशाओं में जो आठ आश्रम हैं, उनमें से एक यही गुम्मा है।

राक्षसताल तथा मानसरोवर के बीच में स्थित इस मनोहारी गुम्मे में वहाँ के लामा के पास बैठकर हमने थोड़ी देर तक विश्राम किया। इसी गुम्मे से मानसरोवर [illegible] भी संपूर्ण रूप से हो जाते हैं। अहा ! जिसकी

पश्चिमी किनारे से इसकी सुषमा निहारते-निहारते आगे तीन-चार मील चलते गये और सरोवर के बहुत ही निकट एक विशाल स्थान पर शाम को हमने डेरे डाल दिये।

संध्या-समय सरोदेवी की शांतिदायक सुषमा ब्रह्मज्ञों के चित्त को ब्रह्म-समाधि की ओर उन्मुख करनेवाली थी। यद्यपि सर्दी कठिन थी, तथापि मैं काफ़ी रात गये एकाकी रूप में जल के पास बैठ विचारों में अथवा समाधि में लगा रहा। उसके बाद खाने के लिए दल में जा पहुँचा। हंसों के दल जल में विहार कर रहे थे और अपनी एक विलक्षण एवं मनोमोहक आवाज़ें दे रहे थे।

रात बिताकर सवेरे हम सबने बड़ी श्रद्धा से सर्दी की परवाह न करके पवित्र सरोवर में गोता लगाया। हमारे साथ के व्यापारियों ने पिछले दिन केवल सरोवर का जल अपने शरीर पर छिड़क लिया था, स्नान आदि नहीं किया था। तिब्बती लोगों को यद्यपि सरोवर के प्रति बड़ी श्रद्धा है, तथापि वे इसमें उतर कर स्नान नहीं किया करते। सरोवर के जल में ही क्यों, उन्हें किसी भी जल में नहाना पसंद नहीं है। हाँ, सर के पानी को श्रद्धा से पी लेते हैं। ठंडा पानी वे अकसर नहीं पिया करते, चाय बनाकर ही पिया करते हैं। उनका पूर्ण विश्वास है कि सरोवर का जल पियें तो बाघ आदि वन्य जन्तुओं तथा भूत, प्रेत, पिशाच आदि का डर नहीं रहता। सरोवर के किनारे हंसों के खाने के बाद जो मछलियों के टुकड़े पड़े रहते हैं वे उन्हें प्रसाद के रूप में अपने घर ले जाते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि उसे घर में रख लेने से बाघ, भूत, प्रेत आदि के भय से, तथा नाना प्रकार के रोग आदि के कष्टों से छुटकारा मिल जाता है। अस्तु !

हुए हैं। किंतु मानस के समान यह सर उतनी पवित्रता एवं श्रद्धा का तीर्थ नहीं माना जाता और उसकी पूजा या सेवा नहीं की जाती।

तीन बजे विशाल मैदानों से यात्रा शुरू करके राक्षसताल को भी पार कर हम आगे बढ़ चले और हिम-पर्वतों की तराई में एक छोटी सरिता के पास रात में रहने का निश्चय किया। यहां प्रचंड तथा असहनीय हवा चल रही थी। यद्यपि यह प्रदेश डाकुओं का केन्द्र था तो भी अधिक यात्रियों के रहने से उनका कोई उपद्रव नहीं हुआ। मेरी पहली यात्रा में इसी मैदान में शाम के समय डाकू मेरे पास आये थे और मुझे असहाय एवं अपरिग्रही देख सत्तू आदि देकर उन्होंने मेरा सत्कार किया था। निर्भय, निश्चित तथा शुद्ध जीवन के लिए ही शास्त्र सन्यासियों को अपरिग्रह की सलाह देता है। जिसमें अपरिग्रह एवं असंग की भावना है, उसे कहीं किसी प्रकार का डर नहीं हो सकता। इसके विपरीत जिसमें पदार्थों का परिग्रह है और जो परिग्रहियों का संग करता है, उसे सदा सब कहीं डर लगा रहता है।

७

उस मैदान में जो यात्री जहाँ-तहाँ रहते थे, उनमें अपनी पत्नियों के साथ आये हुए कुछ लामा भी दिखायी पड़ते थे। यदि साक्षात् भगवान के रूप में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर को भी अंगनाओं ने अपने वश में कर लिया था तो उनकी तुलना में क्षुद्रजीवी लामा और सन्यासी उनके लिए कितने निस्सार हैं। कामनी एवं कंचन की मोहन-क्षमता सब देशों तथा सब कालों में एकसमान प्रभावशाली है। कैलास-भूमि हो, स्वर्ग-लोक हो अथवा मनुष्य-लोक—सब कहीं कामिनी कामिनी ही है, तथा कंचन कंचन है। कनक एवं कामिनी से विरक्त यति बौद्ध लामाओं में अथवा हिन्दू साधुओं में आजकल बहुत ही विरले हैं। इसीलिए प्रकांड पंडित मंडनमिश्र ने सन्यास की हंसी उड़ाते हुए कहा है कि "क्व सन्यासः क्व वा कलिः"। कहाँ संन्यास और कहाँ कलि का प्रभाव! कुछ धर्म-शास्त्रकारों ने भी कलि-काल में सन्यास का निषेध किया है। उत्कट श्रद्धा एवं विशुद्ध संस्कृति के बिना वस्तुतः अपने धर्म में अचंचल निष्ठा नहीं हो सकती। श्रद्धालु कभी पतित नहीं होते। जिनमें श्रद्धा नहीं है चाहे कितने ही पंडित एवं बुद्धिमान क्यों न हों अवश्य ही भ्रष्ट हो जाते हैं। बुद्धि-शक्ति एवं पांडित्य-महिमा का अध्यात्म-साम्राज्य में कोई बड़ा मूल्य नहीं है। श्रद्धा—कभी चंचल न होनेवाली दृढ़ एवं शुद्ध श्रद्धा—अध्यात्म-साम्राज्य में केवल एक यही सबसे बढ़कर अमूल्य साधना-रत्न है। अस्तु!

रात में आनन्दपूर्वक विश्राम करने के बाद हम सवेरे स्त्रियों, बच्चों तथा पुरुषों के एक बड़े यात्री-दल के साथ फिर आगे चलने लगे। छोटे बच्चों को कपड़ों से अपनी पीठ पर बाँधे औरतें अपने घोड़ों और गधों के पीछे दौड़ती रहती हैं और साथ ही चराती भी जाती हैं। पीठ पर बच्चों के लटके रहने पर भी वे किसी बात में पीछे नहीं दिखायी पड़ीं।

ईश्वर की माया कितनी विचित्र और शबल है कि एक ओर तो ये बच्चे हैं जो बारहों महीनों तिब्बत के खुले मैदानों में इस सुखाकर काँटा बना देनेवाली प्रचंड हवा में तथा सर्दी में माँ के कंधों पर पड़े-पड़े बड़े होते रहते हैं, और दूसरी ओर वे बच्चे हैं जो राजमहलों में चाँदी के पलंग पर मृदुल रेशमी शय्या पर सर्दी-गर्मी का नाम तक जाने बिना दूध तथा दूसरे पोषक द्रव्यों के यथेष्ट खा लेने से मोटे ताजे बने चमेली के समान मुस्कान फैलाते बाल-चन्द्र के समान बढ़ते चले जाते हैं। इनकी तुलना में निर्धन लोगों के बच्चों को देखकर तो तरस आता है। ये बेचारे अंत्यज के वंश में उत्पन्न होकर इनकी झोंपड़ी में रहते हुए कीचड़ और मल-मूत्र में लोटते हुए, भूख से जमीन पर हाथ-पाँव मारकर रोते और कुरलाते हुए अति जुगुप्सित दशा में पलते रहते हैं। आखिर इस विषमता का कारण क्या है? हमारे विचार में इसका एक मात्र कारण पूर्वजन्म-जन्मान्तरों का फल है। जो विचारक जन पुनर्जन्मों का निषेध कर इस धारणा में विश्वास रखते हैं कि इस शरीर के शुभ-अशुभ कर्मों के फल ही मनुष्य यहाँ भोगते हैं, वे इस प्रश्न का क्या समाधान देंगे कि जो बच्चे इस जन्म में कोई शुभ या अशुभ कर्म नहीं करने लगे हैं, उनमें यह उच्च-नीच का भेद-भाव अथवा न्यूनता-अधिकता का भेद कैसे संपन्न हो गया? यद्यपि ये विचारक कोई न कोई समाधान दे देंगे, पर वह समाधान मनस्तोषक नहीं होगा। जब तक पूर्व जन्म को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं करेंगे तब तक इस विषमता का समाधान नहीं मिल सकता। वस्तुतः पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही ईश्वर ऊँच-नीच के नाना प्रकार के अवस्था-भेदों में प्राणियों की सृष्टि करते हैं। निस्सन्देह यह न्यायोचित एवं निष्पक्ष है।

भी बहुत लामा लोग रहते हैं। एक पहाड़ की कुछ ऊँचाई पर उनके एक 'शिमलिङ' नामक आश्रम में जाकर मैं कई लामाओं से मिला था। वहाँ के लोगों से राजा कहलाने वाले एक महाशय से भी मिला था, जो 'जंगभंग' की उपाधि से भूषित तथा वहाँ के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली अधिकारी हैं। मैं उनसे पहाड़ पर स्थित उनके राजभवन में मिला था। व्यापारियों के सत्कार में भी वहाँ दो दिन विश्राम किया।

हमारा उद्देश्य था कि वहाँ से 'लिप्पू' दर्रे को पार करके अलमोड़ा के मार्ग से नीचे उतरें। लिप्पु घाट की सत्रह हजार फुट की ऊँची सीमा यहाँ से केवल सात मील की दूरी पर है। उस को पार करने पर अँग्रेज द्वारा शासित देश एवं जहाँ-तहाँ कई गाँव दिखायी भी देते हैं। अगस्त की २४ वीं तारीख को सवेरे के समय खाना खाकर हम अपनी मातृभूमि भारतवर्ष के लक्ष्य में तक्लाकोट से नीचे की ओर चलने लगे। बदरीनाथ से हम जुलाई की २५वीं तारीख से तिब्बत में चलने लगे थे। इस प्रकार जुलाई की २५वीं तारीख से अगस्त की २४वीं तारीख तक पूरे एक महीने का समय विचित्र त्रिविष्टप भूमि में इधर-उधर घूमते तथा रहते हुए सानंद बिता दिया।

इसके बाद जब हम त्रिविष्टप भू-माता के चरणारविन्दों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करके नीचे की ओर लौटने लगे तो मेरा अतृप्त मन आगे बढ़े बिना पीछे की ओर ही जा रहा था। यद्यपि शरीर तिब्बत को त्यागकर आगे बढ़ रहा था, तथापि मन उसे त्यागने की इच्छा नहीं कर रहा था सौन्दर्य की प्रतिमा तिब्बत भूमि में शांति, गंभीरता एवं पवित्रता के अनन्त साम्राज्य में—मेरा मन को अतिशय आनन्द मिला था इसलिए मैं उसके वियोग में उसी तरह बड़ा ही व्याकुल हुआ था जिस प्रकार एक बालक प्रिय जननी के वियोग में होता है, अथवा एक कामुक अपनी प्यारी कामिनी के विरह में होता है। क्या करें ? ईश्वर की आज्ञा माने बिना मुझ जैसे क्षुद्र जीवों में कौन-सी स्वतंत्रता है ?

भाद्रपद मास के होने के कारण तथा उस साल शीतकाल में अधिक वर्षा के न होने के कारण लिप्पु घाट में अधिक बरफ नहीं थी। अतः घाट को पार करने में हमें कोई कष्ट नहीं हुआ था। पहली यात्रा में एक तो प्रारम्भ में शरीर के अस्वस्थ होने के कारण तथा दूसरे वर्षा के अधिक होने के कारण मैंने कठिनाइयों का सामना करते हुए लिप्पु घाट को पार किया था। किन्तु इस बार उन्हीं कष्टों को नहीं भोगना पड़ा। दसवें दिन हम धारचूला पहुँच गये

रात में आनन्दपूर्वक विश्राम करने के बाद हम सवेरे स्त्रियों, बच्चों तथा पुरुषों के एक बड़े यात्री-दल के साथ फिर आगे चलने लगे। छोटे बच्चों को कपड़ों से अपनी पीठ पर बांधे औरतें अपने घोड़ों और गधों के पीछे दौड़ती रहती हैं और साथ ही चराती भी जाती हैं। पीठ पर बच्चों के लटके रहने पर भी वे किसी बात में पीछे नहीं दिखायी पड़ीं।

ईश्वर की माया कितनी विचित्र और शबल है कि एक ओर तो ये बच्चे हैं जो बारहों महीनों तिब्बत के खुले मैदानों में इस सुखाकर काँटा बना देनेवाली प्रचंड हवा में तथा सर्दी में माँ के कंधों पर पड़े-पड़े बड़े होते रहते हैं, और दूसरी ओर वे बच्चे हैं जो राजमहलों में चाँदी के पलंग पर मृदुल रेशमी शय्या पर सर्दी-गर्मी का नाम तक जाने बिना दूध तथा दूसरे पोषक द्रव्यों के यथेष्ट खा लेने से मोटे ताज़े बने चमेली के समान मुस्कान फैलाते बाल-चन्द्र के समान बढ़ते चले जाते हैं। इनकी तुलना में निर्धन लोगों के बच्चों को देखकर तो तरस आता है। ये बेचारे अंत्यज के वंश में उत्पन्न होकर इनकी झोंपड़ी में रहते हुए कीचड़ और मल-मूत्र में लोटते हुए, भूख से ज़मीन पर हाथ-पाँव मारकर रोते और कुरलाते हुए अति जुगुप्सित दशा में पलते रहते हैं। आखिर इस विषमता का कारण क्या है? हमारे विचार में इसका एक मात्र कारण पूर्वजन्म-जन्मान्तरों का फल है। जो विचारक जन पुनर्जन्मों का निषेध कर इस धारणा में विश्वास रखते हैं कि इस शरीर के शुभ-अशुभ कर्मों के फल ही मनुष्य यहाँ भोगते हैं, वे इस प्रश्न का क्या समाधान देंगे कि जो बच्चे इस जन्म में कोई शुभ या अशुभ कर्म नहीं करने लगे हैं, उनमें यह उच्च-नीच का भेद-भाव अथवा न्यूनता-अधिकता का भेद कैसे संपन्न हो गया? यद्यपि ये विचारक कोई न कोई समाधान दे देंगे, पर वह समाधान मनस्तोषक नहीं होगा। जब तक पूर्व जन्म को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं करेंगे तब तक इस विषमता का समाधान नहीं मिल सकता। वस्तुतः पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही ईश्वर ऊँच-नीच के नाना प्रकार के अवस्था-भेदों में प्राणियों की सृष्टि करते हैं। निस्सन्देह यह न्यायोचित एवं निष्पक्ष है।

भी बहुत लामा लोग रहते हैं। एक पहाड़ की कुछ ऊँचाई पर उनके एक 'शिमलिङ' नामक आश्रम में जाकर मैं कई लामाओं से मिला था। वहाँ के लोगों से राजा कहलाने वाले एक महाशय से भी मिला था, जो 'जंगभंग' की उपाधि से भूषित तथा वहाँ के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली अधिकारी हैं। मैं उनसे पहाड़ पर स्थित उनके राजभवन में मिला था। व्यापारियों के सत्कार में भी वहाँ दो दिन विश्राम किया।

हमारा उद्देश्य था कि वहाँ से 'लिप्पू' दर्रे को पार करके अलमोड़ा के मार्ग से नीचे उतरें। लिप्पु घाट की सत्रह हज़ार फुट की ऊँची सीमा यहाँ से केवल सात मील की दूरी पर है। उस को पार करने पर अँग्रेज द्वारा शासित देश एवं जहाँ-तहाँ कई गाँव दिखायी भी देते हैं। अगस्त की २४ वीं तारीख को सवेरे के समय खाना खाकर हम अपनी मातृभूमि भारतवर्ष के लक्ष्य में तक्लाकोट से नीचे की ओर चलने लगे। बदरीनाथ से हम जुलाई की २५वीं तारीख से तिब्बत में चलने लगे थे। इस प्रकार जुलाई की २५वीं तारीख से अगस्त की २८वीं तारीख तक पूरे एक महीने का समय विचित्र त्रिविष्टप भूमि में इधर-उधर घूमते तथा रहते हुए सानंद बिता दिया।

इसके बाद जब हम त्रिविष्टप भू-माता के चरणारविन्दों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करके नीचे की ओर लौटने लगे तो मेरा अतृप्त मन आगे बढ़े बिना पीछे की ओर ही जा रहा था। यद्यपि शरीर तिब्बत को त्यागकर आगे बढ़ रहा था, तथापि मन उसे त्यागने की इच्छा नहीं कर रहा था सौन्दर्य की प्रतिमा तिब्बत भूमि में शांति, गंभीरता एवं पवित्रता के अनन्त साम्राज्य में— मेरा मन को अतिशय आनन्द मिला था इसलिए मैं उसके वियोग में उसी तरह बड़ा ही व्याकुल हुआ था जिस प्रकार एक बालक प्रिय जननी के वियोग में होता है, अथवा एक कामुक अपनी प्यारी कामिनी के विरह में होता है। क्या करें ? ईश्वर की आज्ञा माने बिना मुझ जैसे क्षुद्र जीवों में कौन-सी स्वतंत्रता है ?

भाद्रपद मास के होने के कारण तथा उस साल शीतकाल में अधिक वर्षा के न होने के कारण लिप्पु घाट में अधिक बरफ नहीं थी। अतः घाट को पार करने में हमें कोई कष्ट नहीं हुआ था। पहली यात्रा में एक तो प्रारम्भ में शरीर के अस्वस्थ होने के कारण तथा दूसरे वर्षा के अधिक होने के कारण मैंने कठिनाइयों का सामना करते हुए लिप्पु घाट को पार किया था। किन्तु इस बार उन्हीं कष्टों को नहीं भोगना पड़ा। दसवें दिन हम धारचूला पहुँच गये

भी बहुत लामा लोग रहते हैं। एक पहाड़ की कुछ ऊँचाई पर उनके एक 'शिमलिङ' नामक आश्रम में जाकर मैं कई लामाओं से मिला था। वहाँ के लोगों से राजा कहलाने वाले एक महाशय से भी मिला था, जो 'जंगभंग' की उपाधि से भूषित तथा वहाँ के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली अधिकारी हैं। मैं उनसे पहाड़ पर स्थित उनके राजभवन में मिला था। व्यापारियों के सत्कार में भी वहाँ दो दिन विश्राम किया।

हमारा उद्देश्य था कि वहाँ से 'लिप्पू' दर्रे को पार करके अलमोड़ा के मार्ग से नीचे उतरें। लिप्पु घाट की सत्रह हज़ार फुट की ऊँची सीमा यहाँ से केवल सात मील की दूरी पर है। उस को पार करने पर अँग्रेज द्वारा शासित देश एवं जहाँ-तहाँ कई गाँव दिखायी भी देते हैं। अगस्त की २४ वीं तारीख को सवेरे के समय खाना खाकर हम अपनी मातृभूमि भारतवर्ष के लक्ष्य में तक्लाकोट से नीचे की ओर चलने लगे। बदरीनाथ से हम जुलाई की २५वीं तारीख से तिब्बत में चलने लगे थे। इस प्रकार जुलाई की २५वीं तारीख से अगस्त की २८वीं तारीख तक पूरे एक महीने का समय विचित्र त्रिविष्टप भूमि में इधर-उधर घूमते तथा रहते हुए सानंद बिता दिया।

इसके बाद जब हम त्रिविष्टप भू-माता के चरणारविन्दों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करके नीचे की ओर लौटने लगे तो मेरा अतृप्त मन आगे बढ़े बिना पीछे की ओर ही जा रहा था। यद्यपि शरीर तिब्बत को त्यागकर आगे बढ़ रहा था, तथापि मन उसे त्यागने की इच्छा नहीं कर रहा था सौन्दर्य की प्रतिमा तिब्बत भूमि में शांति, गंभीरता एवं पवित्रता के अनन्त साम्राज्य में — मेरा मन को अतिशय आनन्द मिला था इसलिए मैं उसके वियोग में उसी तरह बड़ा ही व्याकुल हुआ था जिस प्रकार एक बालक प्रिय जननी के वियोग में होता है, अथवा एक कामुक अपनी प्यारी कामिनी के विरह में होता है। क्या करें? ईश्वर की आज्ञा माने बिना मुझ जैसे क्षुद्र जीवों में कौन-सी स्वतंत्रता है?

रात में आनन्दपूर्वक विश्राम करने के बाद हम सवेरे स्त्रियों, बच्चों तथा पुरुषों के एक बड़े यात्री-दल के साथ फिर आगे चलने लगे। छोटे बच्चों को कपड़ों से अपनी पीठ पर बाँधे औरतें अपने घोड़ों और गधों के पीछे दौड़ती रहती हैं और साथ ही चराती भी जाती हैं। पीठ पर बच्चों के लटके रहने पर भी वे किसी बात में पीछे नहीं दिखायी पड़ीं।

ईश्वर की माया कितनी विचित्र और गबल है कि एक ओर तो ये बच्चे हैं जो बारहों महीनों तिब्बत के खुले मैदानों में इस सुखाकर काँटा बना देनेवाली प्रचंड हवा में तथा सर्दी में माँ के कंधों पर पड़े-पड़े बड़े होते रहते हैं, और दूसरी ओर वे बच्चे हैं जो राजमहलों में चाँदी के पलंग पर मृदुल रेशमी शय्या पर सर्दी-गर्मी का नाम तक जाने बिना दूध तथा दूसरे पोषक द्रव्यों के यथेष्ट खा लेने से मोटे ताज़े बने चमेली के समान मुस्कान फैलाते बाल-चन्द्र के समान बढ़ते चले जाते हैं। इनकी तुलना में निर्धन लोगों के बच्चों को देखकर तो तरस आता है। ये बेचारे अंत्यज के वंश में उत्पन्न होकर इनकी झोंपड़ी में रहते हुए कीचड़ और मल-मूत्र में लोटते हुए, भूख से जमीन पर हाथ-पाँव मारकर रोते और कुरलाते हुए अति जुगुप्सित

भी बहुत लामा लोग रहते हैं। एक पहाड़ की कुछ ऊँचाई पर उनके एक 'शिमलिङ' नामक आश्रम में जाकर मैं कई लामाओं से मिला था। वहाँ के लोगों से राजा कहलाने वाले एक महाशय से भी मिला था, जो 'जंगभंग' की उपाधि से भूषित तथा वहाँ के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली अधिकारी हैं। मैं उनसे पहाड़ पर स्थित उनके राजभवन में मिला था। व्यापारियों के सत्कार में भी वहाँ दो दिन विश्राम किया।

हमारा उद्देश्य था कि वहाँ से 'लिप्पू' दर्रे को पार करके अलमोड़ा के मार्ग से नीचे उतरें। लिप्पु घाट की सत्रह हज़ार फुट की ऊँची सीमा यहाँ से केवल सात मील की दूरी पर है। उस को पार करने पर अँग्रेज द्वारा शासित देश एवं जहाँ-तहाँ कई गाँव दिखायी भी देते हैं। अगस्त की २४ वीं तारीख को सवेरे के समय खाना खाकर हम अपनी मातृभूमि भारतवर्ष के लक्ष्य में तकलाकोट से नीचे की ओर चलने लगे। बदरीनाथ से हम जुलाई की २५वीं तारीख से तिब्बत में चलने लगे थे। इस प्रकार जुलाई की २५वीं तारीख से अगस्त की २४वीं तारीख तक पूरे एक महीने का समय विचित्र त्रिविष्टप भूमि में इधर-उधर घूमते तथा रहते हुए सानंद बिता दिया।

इसके बाद जब हम त्रिविष्टप भू-माता के चरणारविन्दों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करके नीचे की ओर लौटने लगे तो मेरा अतृप्त मन आगे बढ़े बिना पीछे की ओर ही जा रहा था। यद्यपि शरीर तिब्बत को त्यागकर आगे बढ़ रहा था, तथापि मन उसे त्यागने की इच्छा नहीं कर रहा था सौन्दर्य की प्रतिमा तिब्बत भूमि में शांति, गंभीरता एवं पवित्रता के अनन्त साम्राज्य में— मेरा मन को अतिशय आनन्द मिला था इसलिए मैं उसके वियोग में उसी तरह बड़ा ही व्याकुल हुआ था जिस प्रकार एक बालक प्रिय जननी के वियोग में होता है, अथवा एक कामुक अपनी प्यारी कामिनी के विरह में होता है। क्या करें ? ईश्वर की आज्ञा माने बिना मुझ जैसे क्षुद्र जीवों में कौन-सी स्वतंत्रता है ?

भाद्रपद मास के होने के कारण तथा उस साल शीतकाल में अधिक वर्षा के न होने के कारण लिप्पु घाट में अधिक बरफ नहीं थी। अतः घाट को पार करने में हमें कोई कष्ट नहीं हुआ था। पहली यात्रा में एक तो प्रारम्भ में शरीर के अस्वस्थ होने के कारण तथा दूसरे वर्षा के अधिक होने के कारण मैंने कठिनाइयों का सामना करते हुए लिप्पु घाट को पार किया था। किन्तु इस बार उन्हीं कष्टों को नहीं भोगना पड़ा। दसवें दिन हम धारचूला पहुँच गये

जो तक्ला से नव्वे मील की दूरी पर है। प्रथम यात्रा में तक्लाकोट से अल-मोड़ा पहुँचने में अस्वस्थता के कारण मुझे एक महीने से अधिक समय लगा था।

वेर्णीनाग से मेरे सब साथियों को अलमोड़ा के द्वारा नीचे उतर कर रेलगाड़ी में हृषीकेश जाने की अनुमति देकर अब मैं पहाड़ के रास्ते पैदल ही हृषीकेश जानेवाले दूसरे मार्ग पर अकेला चलने लगा। मेरा मन राजसी रेल-यात्रा की अपेक्षा सात्त्विक पहाड़ी यात्रा को अधिक पसन्द करता है। वेर्णीनाग से निकल कर मैं दूसरे दिन 'बागेश्वर' नामक एक प्रसिद्ध पुण्य-स्थान पर जा पहुँचा, जो सरयू के किनारे पर है। इन एकांत एवं सुन्दर वनांतरों में यह मेरी एकान्त यात्रा अति आनंदायक थी। किसी भी मानसिक चंचलता के बिना परमानन्द के सागर में तैरते हुए मैं वनों-पहाड़ों को धीरे-धीरे पार करता रहा था। सरयू-तीर्थ का सेवन करते मैं बागेश्वर के मन्दिर में एक सप्ताह रहा। उस रमणीय धाम में कई साधु आनंदपूर्वक जीवन बिताते दिखायी दिये। पुण्य-सलिला सरयू की उत्पत्ति का स्थान 'सरयू-मूल' नामक तीर्थ यहाँ से लगभग तीस मील उत्तर की ओर स्थित है।

बागेश्वर से निकलकर कई मनोहारी महीधरों, काननों तथा बीच-बीच में अनेक गाँवों को लाँघते हुए नवें दिन मैं बदरीनाथ के मार्ग में अलक-नन्दा एवं पिंडरा नदी के संगम कर्णप्रयाग में पहुँच गया। हृषीकेश वहाँ से लगभग सौ मील नीचे की ओर है। यह मेरा चिर-परिचित मार्ग है, इसलिए जहाँ-तहाँ के रमणीय स्थानों में कई दिनों तक रहकर विश्राम करते हुए बहुत धीरे यात्रा कर कार्तिक के महीने में मैं हृषीकेश क्षेत्र में आ पहुँचा।

इस प्रकार कैलासपति की प्रेरणा से अविचारित रूप से कैलास की जो दूसरी यात्रा मैंने शुरू की थी वह उसी कैलासपति की ही कृपा से प्रथम यात्रा के समान ही शारीरिक कष्टों के बिना, सुगम एवं सुमंगल रूप से सम्पन्न हुई और मैं अति कृतार्थ हुआ।

: २ :

मान सरोवर कौन परसे। बिना बादल ही बरसे॥

उत्तरप्रदेश में यह एक अमर कहावत है। इसका शाब्दिक अर्थ है सरोवर में कौन जा सकता है? वहाँ तो बादल के बिना ही हिम

वरस रहा है। किन्तु बादल के विना हिम का बरसना उतना ही असम्भव है जितना माता के विना पुत्र का जन्म लेना। अत: इस कहावत का भावार्थ यह है कि वहाँ निरन्तर हिमवृष्टि होती रहती है। बादल बनते दिखायी ही नहीं देते। कुछ लोग इस कहावत की व्याख्या भी करते हैं कि घर के बाहर सूर्य के प्रकाश में निर्मल आकाशमंडल को देखता हुआ आनन्दित होने वाला कोई व्यक्ति अंदर जा कर थोड़ी देर विश्राम या नींद लेकर जब फिर बाहर आता है तो देखता है कि सब कहीं बरफ पड़ी हुई है, पर आसमान तो विना बादलों के ज्यों का त्यों दिखायी पड़ता है। अर्थात् बादलों का छा जाना, बरफ का गिरना एवं काली घटाओं का हट जाना—यह सब बहुत जल्दी घटित हो जाते हैं। इस प्रकार इस कहावत का तात्पर्य है—हिमवृष्टि की निरंतरता अथवा हिमवृष्टि की क्षिप्रता। निस्सन्देह मानस के प्रांत-देश में हिम का साम्राज्य है।

•

हिमगिरि की आसमान को छूनेवाली पर्वतमालाओं के उस पार का मानस-प्रान्त सर्वत्र हिमाच्छादित होने के कारण पुराने ज़माने में सामान्य लोगों के लिए अगम्य था। वह केवल देवों एवं सिद्धों का का स्थान माना जाता था। उस समय लोग कल्पना में भी कैलास की यात्रा करने का साहस नहीं करते होंगे। किन्तु काल के बीतते उसकी अगम्यता धीरे-धीरे लुप्त हो गयी और तितिक्षु एवं बलवान साधु बड़े साहस के साथ वहाँ की यात्रा करने लगे और इस प्रकार वह प्रदेश अगम्यता के स्थान पर दुर्गमता की दशा को प्राप्त हो गया।

मैंने पहले पहल देवों के इस स्थान की यात्रा सन् १९२५ में की थी। उस यात्रा में मुझे अनिवार्य रूप से कई कठिनाइयों तथा कष्टों को झेलना पड़ा था। कई अवसरों पर मृत्यु का डर भी प्रत्यक्ष हो जाता था। किन्तु सन् १९-३० की दूसरी यात्रा में पहली यात्रा की अपेक्षा मार्ग की कठिनाई बहुत कम हो गयी थी। पहली बार अन्न आदि मुफ़्त में या दाम पर भी नहीं मिलते थे, किन्तु दूसरी बार वे चीज़ें मिल जाती थीं। लोगों का आवागमन भी रास्ते में अधिक दिखायी पड़ा था, और अब तो सामान्य रूप से कैलास के सभी मार्गों में तथा विशेषकर अलमोड़ा से जाने वाले मार्ग में तथा सुविधाएं प्रति वर्ष बढ़ती जा रही हैं और कठिनाइयाँ कम हो रही हैं। दूसरे मार्गों की अपेक्षा

अलमोड़ा का मार्ग प्राकृतिक रूप से ही कम दूरी का एवं कम कठिनाई का है। इस सरलता के कारण आजकल उस मार्ग के द्वारा अधिक यात्री हर साल कैलास की यात्रा किया करते हैं।

परन्तु फिर भी कैलास का मार्ग दुर्गम ही है। किन्तु इस अनुमान में कोई भूल नहीं होगी कि अनतिदूर भविष्य में वह मार्ग धीरे-धीरे सुगम होता जाएगा। आजकल के अनेक अनुसन्धाता कैलास की तराई के बड़े विशाल 'बर्का' अथवा 'पर्का' मैदान में हवाई-जहाजों के सुन्दर अड्डे की कल्पना कर चुके हैं।

यद्यपि अनेक पूर्वी तथा पश्चिमी यात्रियों ने मानसरोवर का वर्णन कई रूपों में किया है तो भी यह आज तक अवर्णनीय ही बना हुआ है। इसके अपार रस का मैंने इन दोनों यात्राओं में उत्सुक हृदय के साथ अतृप्त रूप से पान किया था। अहो ! धन्य धन्य ! मैंने स्वयमेव अपने आप की प्रशंसा की है। प्रातः सायं अरुण भगवान की अरुण किरणें जब उस सरोवर के नील-निर्मल नीर में प्रतिबिंबित हो कर उस विशाल सर को विभिन्न वर्णों से भरी एक निराली दिव्य सुषमा की ओर ले जाती है तो उस मनोहारी दृश्य की ओर प्रत्येक व्यक्ति के मन तथा नयनों का आकृष्ट होना नितान्त सम्भव है। इन दोनों यात्राओं में मानस के तट पर ही नहीं, कैलास के पास तथा मार्ग के दूसरे सुन्दर स्थानों पर भी मेरा मन आनन्दानुभूति की परमोच्च सीमा की समाहित दशा को प्राप्त हो गया था।

"प्रतिक्षण नयी नयी स्फूर्ति प्रदान करनेवाले इस स्वर्गीय सरोवर के अनुपम दृश्य को कभी तृप्त हुए बिना देख-देखकर मैं यहीं जीवन बिताना तथा यहीं मर जाना चाहता हूँ—" ये उद्‌गार स्वेन हेडिन नामक स्वीडन देश के पंडित के हैं, जिन्होंने सन् १९०७ में वहाँ की यात्रा करते समय इस सरोवर के दर्शन व अतृप्त आनंदानुभूति का अनुभव किया था। चाहे कितने ही लोग यों इसका मनोहारी वर्णन करें, फिर भी यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सब वर्णन इस सौन्दर्य-परिवार की थोड़ी-सी बिन्दुओं को छोड़ इसके समूचे शरीर को छू भी लेने में समर्थ हो सकेंगे।

करनेवाली मछलियों को पकड़कर पकाकर खा जाते थे। कहाँ सुन्दरता, महिमा एवं पवित्रता की चरम सीमा मानसरोवर और कहाँ उनका यह अपवित्र तथा अति नीच कुकृत्य ? उस पुण्य-राशि सरोवर की मीनों को यदि बौद्ध एवं हिन्दू लोग देवताओं के समान पूज कर प्रणाम करते हैं तो कुछ असुर-प्रकृति वुभुक्षु उन्हें केवल स्वादिष्ट खाद्य के रूप में ही देखते हैं। अहो ! मनुष्यों में परस्पर भावना तथा कल्पना का कितना भेद है ?

जिस प्रकार हम वेष को सरलता-पूर्वक और यथाशीघ्र वदल सकते हैं, उसी प्रकार किसी के हृदय को वदल सकना सरल नहीं है। अहा ! वेष कितना आकर्षक होता है ? अच्छा वर्ण, सुन्दर आकार और वढ़िया कपड़ा ! भस्म, चन्दन, माला केश, जटा या मुंडन ! ये सव कितने श्रेष्ठ हैं ! कितने भले लगते हैं ! किन्तु हाय ! दिल कितना घृणित है; कितना मलिन ! दिल में ऐसा एक भी भाव नहीं है जिसे भला कहा जा सके। सभी भाव दूषित एवं घृणित हैं। यह कितनी ही वड़ी लज्जा की वात है कि अध्यात्मिक जीवन या धार्मिक जीवन विताने का अभिमान करनेवाले पूज्य वर्गों की श्रेणी में भी ऐसे कई लोग दिखायी देते हैं जो घृणा के पात्र हैं। इसके विपरीत सुन्दर वेष या वर्ण-सुषमा के विना लौकिक जीवन वितानेवाले साधारण लोगों में भव्य भावों से भरे विशाल-हृदय वाले कई लोग मिल जाते हैं।

मानस के किनारे जब हम रास्ता भूलकर घवरा रहे थे तो थोड़ी दूर पर आग से उठनेवाले धुएँ के पास दो आदमियों को कुछ करते हुए, अस्पष्ट किन्तु शंकाहीन रूप से, हमने देख लिया। सहृदयता के दृष्टांत के रूप में मैं यह घटना यहाँ लिख रहा हूँ, जो मानस के किनारे घटित हुई थी और जिसे मैं कभी-कभी अपने भाषणों में भी सुनाया करता हूँ। जब हम उन दोनों के पास पहुँचे तो हमें ज्ञान हुआ कि वे स्त्री तथा पुरुष हैं। वे अपने अति भीषण एवं मलिन राक्षस के वेष में हमें राक्षस या राक्षस के समान दीख पड़े। फिर भी सरोवर, सर के पक्षी, सर की मछली, सर की घास, सर के पत्थर, सर की रेत आदि— सर की प्रत्येक चीज में उनकी श्रद्धा-भक्ति देखकर तथा हमारे प्रति उन्होंने जो सम्मान-भाव प्रकट किया तथा हमारे साथ जो भद्र व्यवहार किया उसे देख मुझे उनके प्रति भय नहीं, मन में आदर हुआ था। जब इस प्रकार के व्यक्ति हमारे जीवन में आते हैं तो 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' वचन अनुचित प्रतीत होने लगते हैं।

तिब्वत के लामा धार्मिक विषयों पर श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं। नयी शिक्षा तथा उस से उत्पन्न मतभेदों एवं तर्क-वितर्कों में उनकी रुचि

नहीं है। वे निशंक होकर अपनी परम्पराओं का पालन करते चलते हैं। इस दृष्टि से संसार का कोई अन्य वर्ग शायद ही उनकी समता कर सकता हो।

× × ×

भारतवासी हिन्दू भी यद्यपि 'संशयात्मा विनश्यति' इस गीता-वाक्य को प्रतिदिन पढ़ते और सुनते हैं, तथापि धर्मानुष्ठान, ईश्वर-भजन आदि पारलौकिक विषयों में किसी भी रास्ते पर पैर जमाये बिना वे शंका के वन में भ्रमते रहते हैं। यदि हमारे यहाँ धार्मिक शिक्षा का अभाव है, अथवा हम मोक्ष की कामना को छोड़ अर्थ की कामना में लगे हुए हैं तो इसका एक कारण यह भी है कि हमारा विदेशी संस्कृति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे यहाँ शिक्षित और विशेषतः अल्प-शिक्षित वर्ग धर्म और ईश्वर पर शंका करते है। शंका का फल है—इह लोक एवं परलोक को बिगाड़ बैठना और यह फल इस वर्ग को भोगना पड़ता है।

विधि की विडम्बना तो यह है कि नास्तिकों की इस धारणा को भी वे स्वीकार नहीं करते कि 'सब कुछ करके भी विषयों का यथेष्ट भोग करना चाहिए।' परिणामतः, इहलोक का भोग भी उन्हें नहीं मिलता। आस्तिकों की इस धारणा का तो उन्हें यथावत् ज्ञान तक नहीं है कि 'परलोक के साधक धर्मों का—यम-नियमों का अनुष्ठान करना चाहिए।' इसलिए उनका परलोक भी नहीं सुधर सकता। यों बुद्धिमान होने का गर्व करने पर भी वे नहीं जानते कि शंकालु लोगों की गति कितनी शोचनीय होती है।

यह ज्ञातव्य है कि जैसे अधिभौतिक शास्त्रों के विषय—भौतिक पदार्थ इन्द्रियों के लिए गोचर होते हैं, वैसे धर्मशास्त्र या अध्यात्मिक शास्त्र के विषय—अदृष्ट, स्वर्ग, आत्मा, अपवर्ग आदि इन्द्रियों के लिए गोचर नहीं होते। इन्हें आँख या नाक का विषय बना सकना बिलकुल असम्भव है, और कर्मों का फल व शुभ और अशुभ कर्मों का फल अदृष्ट ही होता है इन्द्रियगोचर नहीं होता। ऐसे विषयों के निर्णय का उपाय है—धार्मिकता तथा अध्यात्मिकता का उच्च अनुभव तथा अलौकिक बुद्धि-संपन्न ऋषियों के उपदेशों को सुनना। इसलिए जो लोग अध्यात्म-मार्ग में प्रविष्ट होकर आगे बढ़ना चाहते हैं, उनको चाहिए कि वे अपनी बुद्धि का सम्यक् प्रयोग करते हुए भी ऋषि-प्रवरों के अनुभवों पर निःशंक रूप से श्रद्धा रखें। शंका सभी उन्नतियों को समूल नष्ट करने वाली महाशत्रु है। 'क्या इस कर्म के करने से

पुण्य मिलेगा ? क्या इस कर्म के करने से पाप होगा ? क्या शरीर में आत्मा नामक कोई है वस्तु भी ? यदि है तो उस के ज्ञान से मोक्ष कैसे मिलता ?—यों शंका के ढेर के ढेर उठाये मुर्दा होकर जीवन बिताने से एक शुद्ध नास्तिक जीवन बिताना—जिस में पुण्य-पापों और आत्मा-अनात्माओं की चिंता की गंध तक न हो—कहीं अच्छा कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त तिब्बत के लामाओं में एक और महान गुण है कि वे निरंतर तपस्या के आचरण में दृढता के साथ लगे रहते हैं, पर उसके प्रचार के लिए वे नहीं चल पड़ते। उनका आचरण में ही विश्वास है—उपदेश देने में नहीं। हमारे देश में भी पुराने ऋषि-पुंगवों का आचरण में ही अदम्य विश्वास था। आचरण में परम निष्ठा को प्राप्त, उनमें भी केवल इने-गिने अधिकारी व्यक्ति ही प्रचार के काम में लगे रहते थे। ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्म, वैराग्य, त्याग आदि का प्रचार लोकोपकार के उद्देश्य से ही किया जाता था न कि स्वार्थ-लाभ की इच्छा से। ज्ञान, भक्ति आदि की निष्ठा में लगे लोगों का भला स्वार्थ हो भी क्या सकता है ?

ज्ञान और वैराग्य में दृढ़ निष्ठा रखने वाले लोग यदि दूसरों में भी इन का उपदेश देकर प्रचार करें तो वह कितना लाभदायक है ? यदि अज्ञानी ज्ञान का तथा रागी वैराग्य का उपदेश दें तो वह कितना उपहासास्पद है। यह कितना अनर्थ है कि हमारे देश में, शायद विदेश-शिक्षा के संपर्क से, आज आचरण की अपेक्षा प्रचार में ज्यादा प्रयत्न दिखायी दे रहा है। हमारी श्रुतियों, स्मृतियों और हमारे आचार्यों ने हमें यही उपदेश दिया है कि सब से पहले अपना उद्धार करो। अपना उद्धार करने से पहले औरों के उद्धार की कोशिश करना ऐसे विपत्ति का कारण बन जाता है जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को राह दिखाने जाता हो। इस प्रचार के ज़माने में राजनीति एवं व्यापार में जिस प्रकार मर्यादाहीन मिथ्या प्रचार होता रहता है, उसी प्रकार अध्यात्मविषय में भी अपने को बड़े ज्ञानी, भक्त तथा योगी दिखाने के निर्लज्ज प्रचार में लगे हुए 'कर्मवीर' भी यहाँ दुर्लभ नहीं हैं। यह सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि इसका एकमात्र कारण लोक-कल्याण की इच्छा नहीं, अपनी प्रतिष्ठा की उत्कट तृष्णा है। ऐसे दम्भी जन अपने अनुभव तथा निष्ठा की महिमा से नहीं, मिथ्या-प्रचार की सामर्थ्य से अपनी तपस्या योग एवं ज्ञान को महिमा तथा प्रतिष्ठा पर पहुँचा देते है। यदि कुछ किताबें पढ़कर ये लोग योग या ज्ञान के बारे में कुछ लिखने या कहने की

नहीं है। वे निशंक होकर अपनी परम्पराओं का पालन करते चलते हैं। इस दृष्टि से संसार का कोई अन्य वर्ग शायद ही उनकी समता कर सकता हो।

× × ×

भारतवासी हिन्दू भी यद्यपि 'संशयात्मा विनश्यति' इस गीता-वाक्य को प्रतिदिन पढ़ते और सुनते हैं, तथापि धर्मानुष्ठान, ईश्वर-भजन आदि पारलौकिक विषयों में किसी भी रास्ते पर पैर जमाये विना वे शंका के वन में भ्रमते रहते हैं। यदि हमारे यहाँ धार्मिक शिक्षा का अभाव है, अथवा हम मोक्ष की कामना को छोड़ अर्थ की कामना में लगे हुए हैं तो इसका एक कारण यह भी है कि हमारा विदेशी संस्कृति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे यहाँ शिक्षित और विशेषतः अल्प-शिक्षित वर्ग धर्म और ईश्वर पर शंका करते हैं। शंका का फल है—इह लोक एवं परलोक को बिगाड़ बैठना और यह फल इस वर्ग को भोगना पड़ता है।

विधि की विडम्बना तो यह है कि नास्तिकों की इस धारणा को भी वे स्वीकार नहीं करते कि 'सब कुछ करके भी विषयों का यथेष्ट भोग करना चाहिए।' परिणामतः, इहलोक का भोग भी उन्हें नहीं मिलता। आस्तिकों की इस धारणा का तो उन्हें यथावत् ज्ञान तक नहीं है कि 'परलोक के साधक धर्मों का—यम-नियमों का अनुष्ठान करना चाहिए।' इसलिए उनका परलोक भी नहीं सुधर सकता। यों बुद्धिमान होने का गर्व करने पर भी वे नहीं जानते कि शंकालु लोगों की गति कितनी शोचनीय होती है।

यह ज्ञातव्य है कि जैसे अधिभौतिक शास्त्रों के विषय—भौतिक पदार्थ इन्द्रियों के लिए गोचर होते हैं, वैसे धर्मशास्त्र या अध्यात्मिक शास्त्र के विषय—अदृष्ट, स्वर्ग, आत्मा, अपवर्ग आदि इन्द्रियों के लिए गोचर नहीं होते। इन्हें आँख या नाक का विषय बना सकना बिल्कुल असम्भव है, और कर्मों का फल व शुभ और अशुभ कर्मों का फल अदृष्ट ही होता है इन्द्रियगोचर नहीं होता। ऐसे विषयों के निर्णय का उपाय है—धार्मिकता तथा अध्यात्मिकता का उच्च अनुभव तथा अलौकिक बुद्धि-संपन्न ऋषियों के उपदेशों को सुनना। इसलिए जो लोग अध्यात्म-मार्ग में प्रविष्ट होकर आगे बढ़ना चाहते हैं, उनको चाहिए कि वे अपनी बुद्धि का सम्यक् प्रयोग करते हुए भी ऋषि-प्रवरों के अनुभवों पर निःशंक रूप से श्रद्धा रखें। शंका सभी उन्नतियों को समूल नष्ट करने वाली महाशत्रु है। 'क्या इस कर्म के करने से

क्षमता पा जाते हैं तो फिर उनका अभ्यास या उन पर आचरण करते नहीं, फौरन उन का प्रचार करने पर तैयार हो जाते हैं। यों आचरण-हीन प्रचार के बढ़ जाने के कारण ही संसार में कीर्ति-प्राप्त लोगों में आचरण-निष्ठ धन्यात्माओं की संख्या आजकल बहुत कम दिखायी देती है। उधर प्रचार और प्रसिद्धि की इच्छा किये बिना अज्ञात रूप से जो लोग जीवन बिताते हैं। उनमें अचंचल अनुष्ठान करने वाले सच्चे निष्ठावान महात्माओं की संख्या अधिक मिल जाएगी।

अहो ! दुःख ! संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अनुभव-प्रधान अध्यात्मिक क्षेत्र में हमारा देश कितना नीचे गिर रहा है। इधर ये लामाएँ हैं कि बाहरी चिंता, नाम-महिमा और प्रचार की तृष्णा अथवा अपने धार्मिक सिद्धांतों में ज़रा भी मतभेद या शंका किये बिना भजन आदि कर्मों में दृढ़ रूप से सदा प्रवृत्त रहते हैं। उनके पवित्र जीवन के लिए मेरी वाणी 'धन्य धन्य' पुकार उठती है। किंतु शायद हमारा शिक्षित वर्ग इन्हें अशिक्षित, अज्ञ, कूप-मंडूक आदि कहकर परिहास के साथ इनकी उपेक्षा करेगा। अशिक्षा, अज्ञान और विचार-हीनता का, यदि कोई अंश इनमें हो तो उसका हमें समर्थन करना है। हम तो केवल उनके श्रद्धाभाव की ही प्रशंसा करते हैं। तात्पर्य यह है कि शिक्षा-सम्पन्न व्यक्ति बुद्धि-पूर्वक श्रद्धा करें और श्रद्धा की बात का बिना शंका के दृढ़ रूप से अभ्यास कर उसे अनुभव-सिद्ध कर लें।

× × ×

मानस-प्रदेश की मार्ग-दुर्गमता ज्यों ज्यों हर साल कम होती जा रही है त्यों त्यों वहां जाने वाले शिक्षित और गवेषणा-पटु लोगों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। इसलिए उस प्रदेश के समाचार अधिकाधिक मिलते आ रहे हैं। श्रीमान स्वेन हेडिन ने जो ग्रन्थ लिखा है, उसी से हमें उस प्रदेश का थोड़ा सा प्रकाश मिल जाता है। परंतु आज के कुछ गवेपक उनसे कई विपयों में मतभेद करते दिखायी देते हैं। सर्वसाधारण के लिए दुर्गम, अज्ञात एवं अज्ञेय उस प्रदेश की भू-स्थिति आदि पर गवेपकों में मतभेद हो जाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। जब तक लोगों को वहाँ यात्रा करने की सुगमता तथा स्वेच्छा से गवेषणा करने की सुविधा नहीं होती तब तक वहाँ की भू-स्थिति और इतिहास पर मतैक्य नहीं हो सकता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यात्रियों ने अब तक वहाँ की जो खोज की है, वह एक निश्चित एवं अन्तिम परिणाम तक पहुँच चुकी है।

कुछ आधुनिक लोगों की राय है कि कैलास पर्वत का घेरा श्री स्वेन हेडिन के कहे अनुसार अठाईस मील नहीं, वल्कि लगभग वत्तीस मील है। यह अभी तक अज्ञात है कि कैलास के उच्च शिखर पर अब तक कोई चढ़ा है या उस पर चढ़ने की अनुमति तिब्बत वालों ने किसी को दी है। पर यह अवश्य कहा जाता है कि वहुत कष्ट झेलने पर ही कैलास की चोटी की ऊँचाई पर चढ़ना संभव हो सकता है। अनुमान के द्वारा इन्होंने यह हिसाव लगाया है कि मानसरोवर का घेरा पैंतालीस मील नहीं, करीब चौवन मील है। इनका कहना है कि सरोवर का पूर्वी किनारा करीब सोलह मील लम्बा, दक्षिणी किनारा दस मील लंबा, पश्चिमी किनारा तेरह मील लंबा तथा उत्तरी किनारा पन्द्रह मील लंबा है।

तिब्वत वालों के पुराणों तथा उनकी भाषा में कैलास गिरि 'कंग्रीम पोच्छे' के नाम से प्रसिद्ध है। मानसरोवर 'सोमावाङ्' कहलाता है, और राक्षसताल 'लंगक्सो'। मानसरोवर के किनारे 'ग्रूसल, चियू, चेरकिप, लङ्वोणा, पणरी, सेएलङ्, यणगो और तुगुलो' के नाम के आठ गुम्मे हैं। पहली यात्रा में मैं आठवें 'तुगुलो' गुम्मे में तथा पहले 'ग्रूसल' गुम्मे में रहा था, दूसरी यात्रा में दूसरे चियू गुम्मे के दर्शन कर वहाँ मैंने कुछ घंटे तक विश्राम किया था।

कहा जाता है कि राक्षसताल के पश्चिमी किनारे पर 'सपगे' नामक एक आश्रम भी है। दिसम्बर के महीने में सरों में दो से छः फुट तक का पानी जमकर वरफ़ वन जाता है। मई के महीने में पिघलकर वह फिर पानी वन जाता है। कुछ प्राकृतिक कारणों से मानसरोवर की जमी हुई हिम की चट्टानें इधर-उधर निम्नोन्नत भाव में वर्तमान हैं और उनमें जहाँ-तहाँ गहरे छिद्र हो जाते हैं। इसलिए सरोवर के बीच से वड़े कष्ट एवं साहस के साथ यात्रा करनी पड़ती है। लेकिन कहा जाता है कि चूंकि राक्षसताल में ऐसे उच्च-नीच भाव तथा छिद्र वहुत कम हैं, इसलिए जाड़े के दिनों में उस पर जमे हुए हिमावरण पर से स्वच्छन्द और सुगम रूप से यात्रा की जा सकती है।

आधुनिक गवेषकों द्वारा यह निर्णय किया गया है कि तिव्वत की राजधानी लासा से श्री कैलास करीव ८०० मील है, काठमांडु से ५२५ मील अलमोड़ा से २३० मील है, वदरीनाथ से २४० मील है, वदरीनाथ से १८ मील नीचे स्थित ज्योतिमन्थर से २०० मील है, गंगोत्री से २४५ मील है, शिमला से ४४० मील है और श्रीनगर (काश्मीर) से ६०० मील है।

००

१८. श्री गोमुख

: १ :
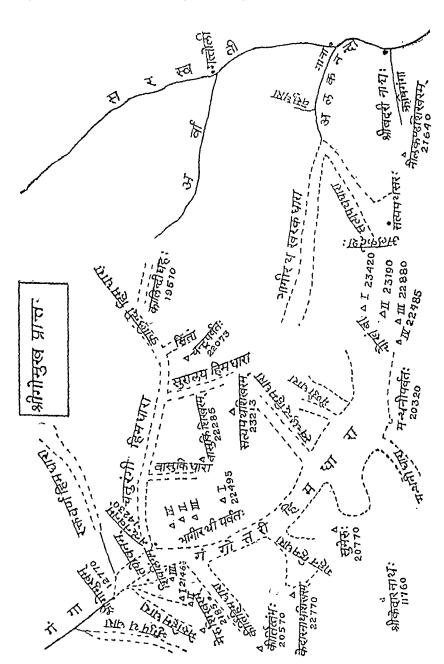
पुण्यवासो विशाला भूस्तदूर्ध्वं मुनिपुंगव !
दिव्यानां वहुपुण्याणामुद्यानं विद्धि नारद !
तत्र श्रीगोमुखं स्थानं साक्षाद् गंगावतारभूः ।
ऋषिभिर्बहुधा गीतं पुण्यात् पुण्यतरं भुवि ॥
शैलश्रृंगैर्महोच्छायैर्वेष्टितं हिमशोभितैः ।
द्युलोकनिकटस्थं वै द्युलोकिभिरधिष्ठितम् ॥
तत्र प्रालेयसंघातभूषिते भुविभूषणे ।
गोमुखे गोमुखाकारमहातुहिनगह्वरात् ॥
निर्गच्छति महावेगा गंगा सुरतरंगिणी ।
पावनी पावनार्थाय पृथ्वीलोकनिवासिनाम् ॥

इस प्रकार श्रीगंगोत्तरी क्षेत्र की महिमा के वर्णन में गोमुख स्थान विवरण मैंने उक्त रूप में प्रस्तुत किया है । वहाँ के बड़े बूढ़ों का कहना है गंगोत्तरी धाम से गोमुख अठारह मील ऊपर है । लेकिन आज के सर्वेक्ष विभाग के लोगों ने निर्णय किया है गोमुख तक दस मील से अधिक नहीं है ।

सन् १९३२ में मैंने पहले पहल गंगोत्तरी से गोमुख की यात्रा की थी उसके वाद १९३६ से हर साल वहाँ की यात्रा करना मेरे लिए एक पा नियम बन गया । तभी से गोमुखी के अलौकिक आलोक से आवर्जित होकर उस रमणीय स्थान की कल्पना को छोड़ देने में असमर्थ रहा । आषाढ़ के म से भाद्रपद के मध्य तक वहाँ का वायुमंडल अपेक्षाकृत कम शीतल रहता इसलिए वह समय वहाँ जाकर रहने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है । इसलिए प्रायः इन्हीं दिनों वहाँ की यात्रा किया करता था ।

इस मार्ग की कठिनता तथा उसके कारण यात्रा की कठिनाई शब्दों प्रकट करना असंभव है । नीचे बहती आती छोटी भागीरथी के आश्रय में पह

की बगलों से धीरे-धीरे ऊपर की ओर कदम बढ़ाने के सिवा वहाँ न कोई मार्ग है और न मार्ग पर चढ़ने की बात ही उठती है। यद्यपि वर्तमान में यही दशा है, तथापि यह अनुमान के करना असंगत नहीं है कि आसन्न भविष्य में इस ओर अच्छा रास्ता खुल जाएगा।

बदरीनाथ के चौखंबा शिखर तक करीब सोलह मील की लंबाई तथा आध मील से लेकर कहीं पाँच मील तक की चौड़ाई में गंगोत्तरी हिमधारा के नाम से विख्यात महा हिमधारा (Glacier) वहाँ अपनी दिव्य महिमा में विराजमान है।

यह गंगोत्तरी हिमधारा दोनों ओर की रक्तवर्ण, चतुरंग, स्वच्छन्दा, कीर्त्ति, मेरु आदि कई बड़ी बड़ी हिमधाराओं से पुष्ट होकर शिवलिंग, मेरु, सुमेरु, भागीरथी आदि कई हिम-शिखरों से अलंकृत होकर ब्रह्मनिष्ठ लोगोंके मन को आकृष्ट कर लेती है। इस गंभीर हिमधारा का मुख-छिद्र ही गोमुख नाम से विख्यात तीर्थ है।

इसी मुख-छिद्र मे त्रैलोक्य-जननी श्रीभागीरथी निकलती है। इस हिम-गुहा के ऊपर कहीं भी गंगा के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं मिलते। यह अनुमान किया जाता है कि विस्तृत हिम-संघातों से आच्छन्न उस प्रदेश में अदृश्य रूप से हिम के नीचे श्री भागीरथी की जलधारा बह रही है। हिम की चट्टानों के पिघलने से जो छोटी-छोटी जलधाराएँ बहती है, वे सब गंगोत्तरी में इधर-उधर रास्ता काट कर अन्दर आ मिलती हैं, और सब मिलकर भागीरथी जलधारा के रूप में गोमुख स्थान में बाहर आ प्रकट होती हैं। अत: यहाँ के आधुनिक लोगों ने ही नहीं, विदेश से आकर खोज में लगे हुए पर्वतारोहकों के दल ने भी यही निर्णय किया है कि गंगोत्तरी हिम-धारा ही गंगा की प्रत्यक्ष जननी है।

०

पुराण-कथाएँ तो हिन्दुओं के बीच विश्रुत हैं। यद्यपि आज के प्रसिद्ध श्री कैलास से या उसके पास के मानसरोवर से भगीरथी का कोई संबंध वर्तमान काल में नहीं दिखायी देता, किन्तु फिर भी ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि पौराणिक विश्वासों के अनुसार पूर्वकाल में इन दोनों में शायद कोई संबंध रहा हो।

लेकिन उन आधुनिकों को भी, जिन का यह मत है कि गंगा के विषय में सब आख्यायिकाएँ पौराणिक एवं कल्पित हैं और गंगोत्तारी की हिमधारा ही गंगा का साक्षात् जन्मस्थान है, गंगा की परमेश्वरी के रूप में उपासना करने में कोई अनुपपत्ति नहीं हैं, क्योंकि विशिष्ट आलंबन में ईश्वर की उपासना, अर्थात् प्रतीकोपासना, वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। शालग्राम में विष्णु की उपासना कौन सनातन-धर्मी नहीं जानता। श्री भगीरथी का सर्वतोमुखी वैभव अतुल्य है।

जिस स्थान से गंगा की उत्पत्ति होती है उसकी सुन्दरता एवं महिमा तो निरतिशय है। परमेश्वर की निरतिशय सुन्दरता उस दिव्य-स्थान में समग्र रूप से प्रकाशमान है। परमेश्वर की सुन्दरता ही प्रकृति के दर्पण में प्रतिबिंबित है, अन्यथा प्रकृति की अपनी कौन-सी सुन्दरता होती है ? अश्रद्धालु नास्तिक पुरुष का चित्त भी उस अलौकिक स्थान में परमेश्वर-महिमा की भावना में प्रवृत्त हुए विना नहीं रहेगा। ऐसे दिव्य स्थान से निकलती हुई, समस्त आर्यावर्त को पुष्ट तथा शुद्ध करनेवाली विशिष्ट महिमाशालिनी श्री गंगा माता की परमेश्वरी रूप में उपासना कैसे अनुचित हो सकती है ? और आस्तिक लोगों के लिए तो भागीरथी स्वयं वैकुंठ-पाद से निकलने वाली हो अथवा गंगोत्तरी हिमधारा से, यह दोनों रूपों में ही पतित-पावनी हैं, परब्रह्म-स्वरूपिणी हैं तथा जगज्जननी हैं। इसी विचार को मन में रखकर ही मैंने श्री गंगास्तोत्र में इस प्रकार पद्य-रचना की थी:—

> पादांगुष्ठाद्वोदिता देवी विष्णो-
> गंगोत्तर्यां गोमुखी शृंगतो वा
> गंगा गंगैवात्र वाधो न किंचित्
> सर्वेशित्री सर्वदा हि त्वमम्ब !

●

गंगा के एक अनन्य उपासक के रूप में कितनी असीम श्रद्धा एवं भक्ति के साथ मैं हर साल वहाँ जाकर गंगा-सेवन करता था। इतने दुर्गम स्थान पर कई खाद्य पदार्थों को कठिनाई से पकाकर भी गोमुखी गंगा के लिए नैवेद्य

अर्पण करने में मेरा मन अमित आनंद का अनुभव करता था । स्नान और भजन के बाद गंगा के निर्गम-द्वार के पास मैं एक विशाल एवं देवों के लिए दुर्लभ शिलासन पर बैठा-बैठा बाल-गंगा की जननी हिमसंहति को तथा आस-पास के हिम-शृंगों को प्रायः सवेरे दस बजे से शाम के चार बजे तक एक टक देख देखकर आनन्द-सागर में गोता लगाया करता था ।

यहाँ अति कृतकृत्यता के साथ केवल प्रासंगिक रूप से ही यह उल्लेख कर रहा हूँ कि इस लेख के लिखने तक बारह बार अर्थात् लगभग बारह साल, गंगोत्तरी से गोमुख तक की कठिन यात्रा को सरलता से निभाकर गंगा-सेवन करने का सौभाग्य इस शरीर को प्राप्त हुआ है । मुझे विश्वास है कि वैदिक धर्म को न मानने वाले विदेशी जन और वैदिक धर्मी होने पर भी तीर्थ आदि पर विश्वास न रखनेवाले लोग भी यदि वहाँ जाएं तो वहाँ की सुषमा से आकृष्ट होकर भक्तिपूर्वक गंगा को प्रणाम करेंगे, गंगाजल हाथ में लेकर सिर पर डाल लेंगे । किन्तु मैं तो गंगा को साक्षात् परमेश्वरी मानता हूँ । अतः मुझ जैसे लोग गोमुखी के दर्शन और सेवन से अत्यंत जिज्ञासु एवं आनंदित हो जाएँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

गोमुख के पास जाकर जो मनुष्य उस अति धवल हिमप्रदेश के उन्नत हिमशिखरों की तराई में चारों ओर दृष्टि दौड़ाएगा, उसका मन संसार की सहज चिंताओं तथा दुःखों से नितान्त विमुक्त हो जाएगा । तात्पर्य यह है कि वहाँ पहुँचकर मन निश्चित एवं समाहित हो जाता है । वहाँ प्रगति की अलौकिक हिम-सुन्दरता के दर्शन से उत्पन्न एक विचित्र आनंद-रस में निमग्न होकर मन संकल्प-विकल्पों से हीन एक समाहित दशा की ओर उठ जाता है । यह आनंद पंडित-पामर, भक्त-अभक्त और ज्ञानी-अज्ञानी—सबको अनुभूत होता है ।

भला कैसे की जा सकती है ? कौन नहीं जानता कि एक अनर्थ परंपराओं का आयोजना-केन्द्र है तथा दूसरा कल्याण-परंपराओं का उद्गम-स्थान । यद्यपि श्री निकेतन एवं ईश्वर के हाथों संकलित ऐसे हिम-शिखरों के दर्शन से और मनुष्य के हाथों निर्मित अश्लील सिनेमा के दर्शन से आनन्द की ही प्राप्ति होती है, किन्तु दोनों में महान् भेद है। एक ईश्वर की ओर ले जानेवाला सात्त्विक आनन्द है और दूसरा ईश्वर से अधिकाधिक दूर खींच ले जानेवाला राजस आनन्द है ।

सभी प्रबुद्ध लोग जानते हैं कि यहाँ का एक-एक हिमकण, तथा एक-एक पाषाण-खंड, एक-एक कुसुमदल तथा एक-एक तिनका मानों उच्च स्वर में यह उपदेश दे रहा है कि शांति ही सत्य है, सत्य ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य ही आनन्द है तथा आनन्द ही ईश्वर का तत्त्व है ।

यदि अनुभव के आधार पर मैं यह कहूँ कि शांति की निरतिशय सीमा पर चित्त को विश्राम देने के लिए प्रकृति का ऐसा दिव्य सौन्दर्य-शास्त्र के कहे योगाभ्यासों से बढ़कर उत्तम साधन है तो नाना शास्त्रों का अध्ययन करने वाले अभिमानी पंडित तथा भगीरथ-प्रयत्न करके ध्यान आदि का अभ्यास करने वाले अभिमानी योगी उसका विरोध करेंगे, किन्तु यह एक ध्रुव सत्य है ।

इसी शांति-रस को पीने के लिए मैं हर साल मार्ग-दुर्गमता का सामना करते हुए भी उस स्थान पर पहुँच जाने की कोशिश करता हूँ । चिरकाल के ध्यान के अभ्यास और वासना के नाश के द्वारा साधना में निपुण योगीश्वर इसी शांति का, आनन्द का, अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं ।

शांति एक सहज रूप है । वह प्रत्येक के लिए स्वतःसिद्ध है । इसलिए उसके पाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए । जो है, उसके पाने का प्रयत्न क्यों ? यह ठीक है कि शांति हमारा सहज रूप है, किन्तु अशांति से आच्छन्न होने के कारण हमें उसकी अनुभूति नहीं होती । शांति को दूर कर दो, शांति स्वयं प्रकाशित हो जाएगी । शान्ति पैदा करने में नहीं शांति को दूर करने में ही प्रयत्न करना चाहिए । प्रकाश का आकर सूर्यमंडल बादलों से ढक जाता है । बादलों के हट जाने से तत्काल सूर्यमंडल प्रकाशित हो जाता है । इसी प्रकार अशांति दूर हो तो शांति प्रकट हो जाती है ।

किन्तु अशांति का रूप क्या है ? कर्तृ-कारक-क्रिया रूप अथवा नाम-रूप-क्रिया रूप यह संसार ही अशांति है । वह कैसे ? शांति के सच्चे रूप का निद्रा की दशा में महामूर्ख भी अनुभव करता है । फिर उस दशा से जाग

उठता है। अर्थात् 'मैं, मैं' का कर्तृभाव पहले आ जाता है, इच्छा आदि प्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। इसके पश्चात् आँख, कान आदि इन्द्रियाँ जागती हैं और विषयों को ग्रहण करने लगती हैं। इसके साथ ही अनुकूल-प्रतिकूल आदि भाव तथा सुख-दुःख आदि भोगों की कल्पना की जाती है। इस प्रकार पैदा होने वाले अहंकार आदि का संघात तथा उनके विभिन्न व्यापारों का नाम अशांति है। व्यष्टि-संबन्धी इस संघात एवं व्यवहार का समष्टि रूप ही तो यह संसार है। शांति, सत्य, सौन्दर्य, आनन्द, आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि शब्द एक ही वस्तु के नाम हैं। इसी प्रकार अशान्ति देहादि-संघात संसार नाम रूप, विक्षेप, दुःख अशांति ये सब केवल एक ही शब्द के पर्यायवाची हैं। 'मैं और यह' का ज्ञाता एवं ज्ञेय बन जाने वाला अन्तःकरण ही अशांति का बीज अथवा अशांति का रूप है। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण की विभिन्न कल्पनाएं ही अशांति है और उन का निरोध शान्ति है। मन की कल्पनाओं का निरोध शान्ति है। गम्भीर समाधि में लीन एक मुनि के सामने बाघ भयानक गर्जन करे अथवा सुन्दरी मधुर गान करे, किन्तु मुनि का शान्ति-भंग नहीं हो सकता। क्योंकि इस स्थिति में उसका मन ग्राह्य विषयों को ग्रहण किये बिना समाहित एवं शान्त होकर वर्तमान है। इसलिए बाहरी विषयों के होने पर भी वे मुनि के लिए नहीं के बराबर होते हैं। अतः वे उसके लिए अशांति के कारण नहीं बनते। इसलिए कुछ आचार्यों ने यह निर्णय किया है कि ईश्वर से रचे जगत् का नहीं, जीवों से रचे जगत् का, अर्थात् विभिन्न जीवन-कल्पनाओं का नाश करना चाहिए, यही शांति-पद का एक मात्र साधन है।

सब शास्त्रों का सिद्धांत तथा सब महात्माओं का यह अनुभव है कि मन में उत्पन्न विषयों का संकलन ही अशांति है और इसीका नाम संसार है। इन संकलनों का अस्त होना ही शांति है और इसी का नाम मोक्ष है। इन विषयों के निरोध से शांति रूपी परम तत्त्व उसी प्रकार प्रकाशित हो जाता है जिस प्रकार बादल के हट जाने से सूर्य स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। उसी परम तत्त्व को भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने यद्यपि विभिन्न नाम दिया है, किन्तु इसमें शंका नहीं कि यह एक ही हैं। नाम की विभिन्नता या विचार की विभिन्नता से वस्तु का भेद नहीं हो जाता।

देह, इन्द्रिय एवं मन के व्यापार रूपी विक्षेप को साधना के द्वारा दूर करके चित्त-निरोध की दशा पर पहुँच कर नाम-रूप-विकल्पों के सम्बन्ध से हीन निरतिशय शांति का पुण्यात्मा विद्वान लोग ही अनुभव करते हैं। किन्तु

देह, इन्द्रिय एवं मन के व्यापार-काल में विद्वानों की भी क्या दशा हो जाती है ? क्या वे भी मूर्खों के समान अशान्ति-मय दुःखी जीवन बिताते हैं ? कभी नहीं । अशांति में भी वे नित्य शांति का अनुभव करते हैं । शान्ति-तत्त्व सदा उनकी बुद्धि में प्रकाशमान है ।

धारण किये थी। गोमुख के पास की यह पहाड़ी भूमि वर्षा के दिनों में फूलों से लदी रहती है, इसीलिए वृद्धों ने इसे 'पुष्पवास मैदान' का नाम दिया है। उस मनोहारी मैदान में पर्यटन करते हुए हिम-शोभा के साथ-साथ सुमनों की सुन्दरता का भी मैं प्रतिदिन उपभोग करता रहता था।

रात रात भर पहरेदारों के समान रीछ हमारे निवास के चारों ओर निर्भय घूमते फिरते थे और स्वेच्छा से बीच-बीच में लौटकर विश्राम करते थे। दिन-रात आनंद की वर्षा करनेवाली उस दिव्य भूमि में भयानक रीछ हिंस्र जंतुओं का हमें कोई भय नहीं था। वहां लाल रीछ बहुत थे। शायद इन्हें मनुष्यों पर हमला करने का अभ्यास नहीं होगा। इसी कारण वे मनुष्यों को नहीं सताते होंगे।

दिन-रात कभी-कभी कुछ लोगों की बातचीत की आवाज़ वहाँ ऊपर के प्रदेश में पास ही सुनायी पड़ती थी। ऐसी आवाज़ें कभी-कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट रूप से कानों में आ जाती थीं। श्रद्धावादी पुरातन लोगों का कहना है कि यह यक्ष, गंधर्व आदि देव-वर्गों का आलाप ही है जो कि सुनायी पड़ता है और बुद्धिवादी नवीन लोगों का कहना है कि यह वायु के प्रवाह के कारण पाषाण-छिद्रों से निकलने वाली आवाज़ ही है।

o

पुरातन लोगों की यह धारणा उपहासास्पद न होकर विचारणीय है। यक्षों की राजधानी अलकापुरी यहाँ से बहुत दूर नहीं है, बहुत पास ही है। यदि ये लोग यह विश्वास करें कि आकाशचारी यक्ष-गंधर्व लोग अपने सबसे प्यारे इन विजन-देशों में स्वच्छंद विचर रहे हैं तो इसमें क्या ग़लती है? यक्ष-गंधर्व और भूत-प्रेत-पिशाच आदि के बारे में हिमालय के ऊपर के देशों के रहनेवालों में जो विश्वास है, वह दृढ़बद्ध एवं अटूट है। वहाँ यह साधारण बात है कि उन्मत्त यक्ष युवतियाँ एकांत स्थान में पहाड़ी युवकों से मिलने पर उन पर हमला कर देती हैं। यदि कोई तर्क करे कि सचमुच यक्ष, गंधर्व आदि कोई नहीं है और उनकी कल्पना केवल अंधविश्वास है तो उन्हें ऐसा कहने दें। उनको प्रत्यक्ष देखनेवाले ये लोग भला कैसे उनके तर्क का कोई मूल्य समझें? यक्ष-गंधर्व और देवों के होने या न होने का ईश्वर ही निर्णय करें। अस्तु! न केवल ऊँचे हिमालय-प्रदेशों में, अपितु भारत के निम्न प्रदेशों तथा अन्य प्रदेशों में भी कई मनुष्य-वर्गों में इनके होने का विश्वास किया जाता है।

यद्यपि मन में भय, चिंता आदि कलुषताओं को पैदा करने वाले भालू, यक्ष-गंधर्व, गिरने की इच्छा में खड़े पर्वततट, हिम-संघात आदि पदार्थ गोमुख के पास बहुत हैं, तथापि हम संन्यासियों के लिए ये सब मन में बड़ी प्रसन्नता पैदा कर देते थे।

× × ×

यह विद्वानों का मान्य कथन है कि 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्।' इसका अनुभव करके उसमें निरंतर निष्ठा करने के समान सब तापों, अनर्थों और चिंताओं को दूर करने की और कोई औषधि इस संसार में नहीं है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' का उपनिषद्-वाक्य किसने नहीं सुना होगा? कितना ही बड़ा भय तथा कितना ही बड़ा दुःख हो वह ब्रह्मवित् की नित्य शांति का भंजन नहीं करता। जिन्होंने ईश्वर को नहीं देखा है, वे ईश्वर को ही हमेशा सब कहीं देखते हैं। ईश्वर-तत्त्व तो आप स्वयं ही है। अपने से स्वयं डर क्यों? दुःख क्यों? ईश्वर-तत्त्व का नित्य अनुसन्धान करने वाले तथा सब चराचरों को अविनाशी आनंदघन परमात्मा के रूप में निःशंक रूप से देखनेवाले हम लोगों को यदि देह-चिंता में डूबे प्राकृत जनों को डराने वाले ये पदार्थ नहीं डराते तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

तात्पर्य यह कि देहासक्ति के कारण ऐसे भयानक हिम-प्रदेशों में साधारण लोगों के मन में जो भय, आशंका आदि भाव उठा करते हैं, उनकी कल्पना तक हमने वहाँ नहीं की थी। सदा प्रसन्न-भाव, आनंद का भाव, उसको छोड़ किसी अन्य भाव का अनुभव हमें वहाँ नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में शंका की जा सकती है कि भय के अनेक कारणों के विद्यमान होने पर भी हमारी निर्भयता और प्रसन्नता हमें कैसे सुरक्षित रखेगी? इसका समाधान केवल यह है कि जैसे आसमान में उड़नेवाले पक्षियों की गति उनको छोड़ और कोई नहीं जानता, वैसे ही आंतरिक लोक में अर्थात् अध्यात्म-लोक में चलने वाले साधु-सन्यासियों की गति सिर्फ वे ही जानते हैं, बाहरी दुनियाँ में अर्थात् भौतिक लोक में भ्रमण करने वाले साधारण लोग उसे नहीं जान सकते। ज्ञानी लोगों के बीच एक प्रसिद्ध कहावत है कि ज्ञानियों को ज्ञानी ही जानते हैं।

•

फिर भी यदि कोई शंका करे कि ईश्वरदर्शी सदा सब कहीं ईश्वर-दर्शन करते हैं, इस कथन का क्या मतलब है? ईश्वर का स्वरूप क्या है?

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अति विलक्षण तथा अलौकिक परमात्म-तत्त्व शब्दों के व्यापारों से अछूता एवं शब्दों द्वारा अवर्णनीय है, और केवल स्वानुभव के ही योग्य है।

तब क्या श्रुतियों-स्मृतियों के परमात्मतत्त्व के बारे में नाना प्रकार के वर्णन व्यर्थ हैं? कभी नहीं। हमारा उद्देश्य शास्त्रों और विद्वानों द्वारा किये गये तत्त्वविवेचन के उपकार का कहीं निषेध करना नहीं है. यदि ईश्वर अवर्णनीय है तो ईश्वरीय वर्णन वर्णनीय कैसे हो सकता है? [illegible] उस का रूप कहकर समझा सकते हैं, इसलिए [illegible] के साधन के रूप में [illegible] को कहकर समझा सकते हैं। अवर्णनीय वस्तु का दर्शन तो अवर्णनीय है, अतः वह शब्दों का विषय नहीं हो सकता।

गोमुख के पास अधिक दिनों तक रहते हुए मैं गोमुख के गुहा-स्थान पर जाकर कई दिनों तक स्नान किया करता था। एक छोटी-सी बालिका के समान उस कृशकाय हिम-गंगा में एक बार गोता लगाना सामान्य लोगों के लिए असंभव है। आस्तिक लोगों का विश्वास है कि इस गोमुखी जल में एक सप्ताह स्नान करना इस नर-शरीर को निष्पाप एवं सफल बना देगा। सनातन-धर्मियों का यह विश्वास है कि प्रयाग आदि निम्न तीर्थों के गंगा-जल की एक बूंद भी यदि मरणासन्न व्यक्ति के मुख से छुआ दी जाए तो वह सद्‌गति को प्राप्त हो जाता है। उनकी दृष्टि में गोमुख से पहले-पहल निकलने वाली सुरसरिता गंगा की एक बूँद के विषय में कितनी उच्च एवं पवित्र भावना होगी, मेरे लिए यह निर्णय दे सकना अति कठिन है। परम-पवित्रा गोमुख-गंगा के स्नान-पान आदि के फल का भला कौन निर्णय कर सकता है?

निम्नोन्नत तथा अति विकट पाषाण-गणों के बीच, महाहिमधारा से सतत गिरती रहने वाली बर्फीली चट्टानों के समीप गोमुख-गुहा के पास जाकर स्नान करना यद्यपि बड़ा ही साहसिक कर्म है, तथापि श्रद्धा-भक्ति के असीम उद्रेक के कारण बार-बार वहाँ जाकर स्नान करने में मुझे कोई कष्ट या भय नहीं था, वरन् मेरे मन में उत्साह, आनंद और उल्लास ही उत्पन्न होता होता था। अनथक श्रद्धा और भक्ति के साथ ही कई बार मैंने वहाँ जाकर गंगा-स्नान तथा गंगा-पूजन को यथाविधि सम्पन्न किया था। जिन वर्षों में मैं अधिक दिनों तक वहाँ नहीं रह सका था, तब एक ही बार गोमुख में स्नान आदि करता था। जब एक ही स्नान का मूल्य चुकाने में कर्म-फलों के दाता परमेश्वर को कष्ट उठाना पड़ेगा तो यह देखकर ही जाना जाएगा कि इतनी स्नान-पूजा आदि के स्वामी इस साधु के लिए उन सब का मूल्य सर्वज्ञ ईश्वर कितना चुका देंगे?

: २ :

भोग-प्रधान एवं भोग-तृष्णा से कलुषित इस घोर कलिकाल में निष्काम कर्म, ध्यान-समाधि या ज्ञान-विचारों का अभ्यास शास्त्रों के अनुसार करना आसान नहीं है। इसीलिए हमसे दूरदर्शी पूर्वाचार्यों ने कलिकाल में भक्ति-साधनाओं को शक्ति के अनुसार ही करने का बार-बार आदेश दिया है।

भक्ति-साधनाओं में भगवान का नामोच्चारण बहुत आसान है। कोई भी पापी या विषयी "हे शिव !, हे कृष्ण !" का जप कर सकता है। चित्त को निष्काम बनाना, चित्त को एकाग्र बनाना अथवा चित्त को विचारशील बनाना विषयी लोगों के लिए असंभव है। इसलिए इस में पक्षान्तर नहीं है कि इस काल में भक्तिसाधनाओं की ही सुलभता और प्रधानता है।

सरलता से हो सकने वाले जप, प्रार्थना, कीर्तन, श्रवण आदि साधनाओं को नित्य करते रहने से भगवान् के चरणारविंदों का सच्चा अनुराग छोटे-से अंकुर के रूप में हमारे मन में उठने लगता है। इसके बाद दुर्दम विषय-तृष्णा तथा बहिर्मुखता धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है, और फिर चित्त भगवान् के अभिमुख प्रवाहित होने में उत्सुक तथा उद्यत हो जाता है, सदा भगवान् के आकार के ध्यान में चित्त रमने लगता है। ज्ञानी लोग निराकार की चिंता में रमते हैं तो भक्त साकार के ध्यान में आनंद का अनुभव करते हैं। साकार और निराकार में ईश्वर-वस्तु दो नहीं होती। ईश्वर एक ही है। इसलिए जिस भक्त को ईश्वर के साकार रूप में अनन्य अनुराग प्राप्त हुआ हो, उसके लिए और कोई लाभ पाना शेष नहीं है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि निराकार एवं निर्विशेष पर-ब्रह्म-तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, और यदि वह भक्त को प्राप्त नहीं हुआ है तो भक्त कृतकृत्य नहीं हुआ है। यदि कोई ऐसा निर्विशेष रूप भगवान् का हो तो उस कैवल्य-साधन-स्वरूप को आज नहीं तो कल वह अपने अनन्य भक्त को दिखाकर उन्हें कैवल्य-पद की ओर उठा देंगे। इसलिए साकार-निराकार के कोलाहल में भाग लिये विना एक मुमुक्षु साधक को चाहिए कि वह साकार की दृढ़-भक्ति अथवा निराकार का दृढ़ ज्ञान बड़ी तत्परता से अभ्यास करके पा ले। ज्ञान का परम एवं चरम परिणाम एक ही है। इसमें सन्देह नहीं कि वह ब्रह्म-प्राप्ति रूपी निर्वाण-पद ही है। ब्रह्म-ज्ञान रूपी गंभीर एवं विकट महागिरि-शिखर पर चढ़ने की कोशिश करके कोई रास्ता पाये विना मुँह के बल नीचे गिर कर नष्ट होने वाले अनधिकारियों की अपेक्षा वे व्यक्ति कितने भाग्यवान् हैं जो "हे शिव ! हे कृष्ण ! हे भगवान् !" का केवल नाम-स्मरण श्रद्धा के साथ करते हुए भक्ति के मार्ग में धीरे-धीरे आगे बढ़ते जा रहे हैं।

पंडित और पामर दोनों के लिए ईश्वर के पास पहुँचने के लिए भक्ति का मार्ग बड़ा सुगम है। इसलिए कई वैदिक तथा ईश्वरदर्शी भगत आचार्यों ने

इस प्रेम-मार्ग की अत्यंत प्रशंसा करके त्रिविध तापों से तप्त इस संसार में वड़ी संलग्नता के साथ भक्ति का प्रचार किया था।

न्याय, शास्त्र या अनुभव से यह तो सिद्ध है कि सर्वशक्त भगवान अपने भक्तों की भावना के अनुसार कुछ रूप धारण कर उन पर अनुग्रह करते हैं अथवा उनको साक्षात् दर्शन देकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं। अतः भगवान के प्रेमियों को "हे शिव ! हे कैलाशपति ! हे कृष्ण ! हे वैकुंठवासी ! पाहि, पाहि" का प्रेमोन्मत्तता के साथ उच्चारण करके रोदन करते सुनकर यदि कोई लोग उन्हें मूढ़-मति कहकर उनका उपहास करें तो अहो ! वे अभिमानी लोग अपना ही उपहास करते हैं।

दार्शनिक विचार-दृष्टि से प्रेम का हेतु एवं ज्ञान का हेतु तथा प्रेम का स्वरूप एवं ज्ञान का स्वरूप आदि का यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप से निरूपण किया जाता है तो भी यह तो निश्चित है कि उनके साधकों के लिए प्राप्त अन्तिम फल भिन्न नहीं, एक ही है। जो लोग ईश्वर-भक्तों का परिहास यह कहकर करते हैं कि ये तो मार्ग भूले हुए हैं वस्तुतः वे परिहास के पात्र हैं। मन विषय-प्रेम को छोड़ भगवान के रूप में अनुरक्त हो जाए, महान् पुण्य का यही महान् फल है।

भगवान् का स्वरूप जो भी हो, सांसारिक प्रलोभनों से विल्कुल मुक्त मन ही उसके प्रेम में लीन हो सकता है। भगवान् के प्रति प्रेम-प्रवाह में जिन की सांसारिक वासना समूल नष्ट हो गयी है, वे यदि ईश्वर की सत्ता में दृढ़ रूप से विश्वास करें तथा अद्वैत ज्ञान की कामना करें तो यह नितान्त स्वाभाविक है। जो धन्यात्मा लोग यह श्रद्धा रखते हैं कि ईश्वर विद्यमान है और ईश्वर ही सारे संसार का पालन करने वाला जगत्-पिता है, वे अपने संस्कार के अनुसार चाहे किसीभी आकार में भगवान की कल्पना करें, चाहे किसी भी विशेष लोक में, किसी भी श्रेष्ठ आसन पर विठाकर मन से उसकी पूजा करें, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर परमात्मा उनसे अवश्य प्रसन्न हो जाएगा।

'हे परमात्मा, तुम्हारे मनोहारी रूप को मैं अपनी इन आँखों से कव तक देख सकूंगा ? भक्त की इस प्रार्थना में उमड़े हुए गहरे प्रेम-रस की दिव्य मधुरिमा वही जान सकता है जिसने इसका अनुभव किया हो। इस प्रकार ज्ञान के समान जव भक्ति भी उत्तम ही है तो दार्शनिक प्रक्रियाओं के अनुसार ज्ञान और भक्ति के बीच उतम और अधम भाव के निर्णय में व्यर्थ

समय गँवा देना बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमानों को चाहिए कि वे अपने अधिकार के अनुसार किसी एक के आश्रय में साधना करके दुर्लभ ईश्वर-दर्शन को पाकर इस अमूल्य मानव-शरीर को कृतार्थ करें।

ईश्वर-प्रेम के साधक भी गोमुख के समान ऐसे एकांत स्थानों को बहुत चाहते हैं जो ईश्वर-महिमा की सतत उद्घोषणा करने वाले हैं। विरहिणी नारी प्रत्येक क्षण अपने प्रियतम का स्मरण करने वाली वस्तुओं से भरी कोठरी के एक कोने में चुपचाप बैठी अपने प्रियतम के ध्यान में लीन रहती है। एक आहट की बाधा भी उसके लिए असहनीय हो जाती है। अपने प्राणप्रिय के ध्यान को चंचल बनाने वाली सभी बाधाओं से वह घृणा करती है। इसी प्रकार अपने परम प्रेम के आधार भगवान के ध्यान एवं प्रार्थना में विघ्न-बाधाओं को ज़रा भी न सहने वाले भक्त के लिए ऐसे प्रशांत और एकांत स्थान से बढ़कर और कौन उत्तम स्थान मिल सकता है? ध्यान एवं प्रार्थना के रस को अधिकाधिक सिद्ध कराने वाले पदार्थों को छोड़कर वहाँ उपस्थित करने वाली चीज़ भला और क्या हो सकती है? ईश्वर-दर्शी, ईश्वर-प्रेमी और ईश्वर-ध्यायी अपने ईश्वर के दर्शन, अनुराग तथा ध्यान की प्रवृत्तियों के अखंड अभ्यास के लिए अपने संस्कार-सम्पन्न मन के अतिरिक्त और किसी बाह्य पदार्थ का आधार ग्रहण नहीं करते। इसलिए इन तीनों के लिए एकांत देश अत्यधिक उचित है। एकांत देश उनकी साधनाओं को बढ़ाने में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

यह गोमुखी स्थान, जो नितांत एकांतता की दृष्टि से ही नहीं, अध्यात्मिक शुद्ध वातावरण की दृष्टि से भी इस संसार में अनुपम है।

•

ऐसे स्थान ईश्वरकर्मी केलिए, अर्थात् फल की कामना किये बिना ईश्वर-पूजा का अनुष्ठान करने वाले कर्मयोगी के लिए, अत्यन्त उपयोगी होते हैं। कर्मयोगी गोमुखी जाकर श्रद्धा के साथ स्नान करके ईश्वर-प्रसाद पा सकता है, उसके द्वारा पाप का नाश एवं मन की शुद्धि कर सकता है तथा इस दिव्य स्थान को देखकर ईश्वर पर दृढ़ विश्वास कर सकता है।

कर्मयोगी अपनी साधनाओं के लिए बाहरी चीज़ों का आश्रय लेता है। प्राचीन आर्यों का मत यह है कि वर्णाश्रम के योग्य अग्निहोत्र आदि श्रौत-स्मार्त कर्मों का ईश्वर-अर्पण, बुद्धि के साथ निष्काम रूप से, करना ही कर्मयोग

है। किन्तु नवीन शिक्षित लोग तो कर्मयोग की नवीन व्याख्या करते हैं। उन का तर्क है कि पुराने जमाने में जब कि जीवन के विषय में इतना संघर्ष नहीं था और जो कि समृद्ध एवं निरुपद्रव था, देवताओं का निष्काम यजन-याजन आदि करके पूर्वज मन को परिमार्जित करके पवित्र बनाते थे। यह उचित ही है, लेकिन आज वह जमाना नहीं है। इस जमाने में, जब कि मनुष्यों की संख्या और साथ ही साथ जीवन का संघर्ष बढ़ता जा रहा है, परोक्षवर्ती देवों से बढ़कर कठिनाई के साथ जीवन बिताने वाले अपरोक्षवर्ती मनुष्य ही पूजनीय हैं। इसलिए मनुष्यों के सुखमय जीवन के लक्ष्य में स्वार्थ-कामना के बिना सब तरह से उनकी सेवा करना ही आज का कर्मयोग है तथा देव-यजन आदि वैदिक-काल के आचरण आज बिल्कुल व्यर्थ हैं।

इनका यह तर्क उपहास के साथ त्याज्य नहीं है। यद्यपि ईश्वर की पूजा एक ही है, तथापि प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल में पूजा की वस्तुएँ एवं पूजा-विधियाँ भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ सकती हैं। इस प्रकार ईश्वर-पूजा के कर्म-योग में देश-कालों की भिन्नता के कारण कर्मों में भी भेद आ जाता है, यह तर्क बुद्धिशून्य नहीं कहा जा सकता। उनका यह उपपादन सुन्दर हुआ है कि जैसे पुष्प, निवेद्य आदि पूजा-द्रव्यों एवं पूजा रीति के भेद में भी ईश्वर की अर्चना दूषित हुए बिना ईश्वर-प्रसाद का कारण बन जाती है, वैसे ही कर्मों के भेद में भी कर्मयोग दूषित हुए बिना ईश्वर-प्रसाद का साधन बन जाता है।

वर्णाश्रम नियम, उसके आधार में होनेवाले कर्मानुष्ठान-नियम तथा उन नियमों के ज्ञापक माने जानेवाले वेद अनादि तथा सनातन हैं—ऐसा विश्वास सनातन-धर्म की इसी भूमि में आज नष्टप्राय हो गया है। उसका कारण यही है कि आज के भारतीय श्रद्धा एवं परंपरा को प्रधान माने बिना बुद्धि को मुख्यता देने वाली नवीन शिक्षा में दीक्षित हैं। वैदिक धर्माभिमानी लोगों का यह धर्म-सिद्धांत कि जन्म के आधार पर ही वर्ण हैं, सब कुछ वर्णानुसार ही करना चाहिए तथा उसके विरुद्ध काम करना पाप है, आदि धारणाएँ आज आदर का पात्र नहीं, वरन् बड़े परिहास का पात्र बन गयी हैं। केवल भारत-भूमि ही कर्म-भूमि है। यहाँ पैदा हुए ब्राह्मण आदि वर्णाश्रम-अभिमानी ही कर्म के अधिकारी हैं तथा यवन, हूण, म्लेच्छ आदि विदेशी कर्म के अधिकारी भी नहीं हो सकते, आदि—इस प्रदेश की प्राचीन मान्यताओं की ओर ध्यान देने वाला आज कोई विवेकशील मानव दिखायी नहीं देता।

आज के लोगों का यही निर्णय है कि चाहे जिस वर्ण में या देश में पैदा

हाँ, सब मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार सकाम अथवा निष्काम कर्म करने के अधिकारी हैं। सनातन-धर्म के नियमों को मानें तो क्षत्रिय ही राज्य-शासन कर सकता है, दूसरे राजा बनने के अधिकारी नहीं होते। विद्या का समग्र अध्ययन एवं विद्या का अध्यापन करने के अधिकारी ब्राह्मण ही हैं। शूद्र वर्ण में जन्म लेने वाला परिचर्या के कर्म को छोड़ और किसी कर्म के करने योग्य नहीं होता। वर्णों के परे रहने वाले यवन, मलेच्छ आदि के अधिकारों का कहना ही क्या है?

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसे अभागे इस संसार में शोचनीय ही होते हैं। ऐसे धार्मिक नियम यदि आज के स्वतन्त्र-बुद्धि शिक्षित लोग सुनना ही न चाहें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आज का सामान्य धार्मिक नियम है कि मनुष्य कोई भी कर्म कर सकता है। जो काम संसार एवं अपने लिए कल्याणकारी है, उसके करने में सभी लोग समान रूप से अधिकारी हैं, पर ध्यान देने की बात यह है कि जो व्यक्ति कोई काम शुरू करता है, वह होशियार हो।

आज के धार्मिक एवं अधार्मिक लोगों का सिद्धान्त है कि गुण तथा निपुणता के सिवा जन्म कर्म-विभाग का मानदंड नहीं हो सकता। ईश्वर-तत्त्व को मानकर एवं ईश्वर-तत्त्व की प्राप्ति को ही परम-पुरुषार्थ समझकर उसके लिए उस ईश्वर की पूजा के रूप में कर्मों का निष्काम अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति धार्मिक कहाते हैं, तथा इसके विपरीत ईश्वर, ईश्वर-प्राप्ति या परलोक का विश्वास किये बिना केवल सांसारिक सुखों को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसके लिए, अर्थात् मनुष्य-वर्ग की ऐहिक उन्नति के लिए, कष्ट झेल-कर सदा कर्म करनेवाले अधार्मिक कहाते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं है कि ये अधार्मिक लोग नास्तिक हैं, और इसी कारण कर्मनिष्ठ होने पर भी कर्मयोगी के पवित्र नाम के योग्य नहीं होते। इस वर्ग के बारे में या उसकी दुर्गति के बारे में मैं यहाँ कुछ आलोचना नहीं करना चाहता। इनके विपरीत कुछ प्राचीन पद्धति से कर्मयोग का अनुष्ठान करनेवाले तथा अर्वाचीन सिद्धान्तों के अनुसार निष्काम रूप से लोक-सेवा करनेवाले आस्तिक और कर्मयोगी भी हैं।

यद्यपि कर्म-विभाग तथा अधिकारि-विभाग के निरूपण में इनके मत भिन्न-भिन्न हैं, तथापि यह मानना ही पड़ता है कि इस जग के मूल तत्त्व एवं कर्म-फलों के दाता परमेश्वर की सत्ता में दृढ़ विश्वास रखकर अपने कर्मों से

नित्य उसकी पूजा करने वाले ये व्यक्ति धीरे धीरे चित्त की शुद्धि पाते हुए परम पद को प्राप्त हो जाते हैं

यह तर्क हो सकता है कि प्राचीन सिद्धान्तवादियों के अग्निहोत्र आदि कर्म संसार के कल्याण के लिए उतने लाभकारी नहीं हैं, फिर भी वे ईश्वर की भक्ति, विश्वास एवं पूजा में पीछे नहीं हैं। इसलिए वे सद्गति के अधिकारी होते हैं। यह ठीक है कि अन्धविश्वास, विचार-संकोच, धार्मिक ज्ञान की अपूर्णता, संसार-कल्याण में असमर्थता, आदि त्रुटियों के कारण यद्यपि ऐसे व्यक्तियों की मानसिक शुद्धि तथा सद्गति के विलंब हो सकता है, किन्तु ये व्यक्ति उन वास्तविक व्यक्तियों के समान दुर्गति को नहीं प्राप्त हो सकते। जो इहलोक में लिप्त रहते हुए ईश्वर पर जरा भी विश्वास नहीं करते।

०

किसी भी प्रकार का कर्मयोगी हो वह, कर्म के साधन के रूप में कई बाहरी चीजें चाहता है। इसलिए कर्मयोग के अनुष्ठान के लिए गोमुख जरा भी अनुकूल नहीं होता। पुरातन रीति के पंचयज्ञ आदि नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान हो, अथवा आधुनिक रीति के विद्या-प्रचार, राष्ट्र-शासन, खेती, व्यापार, नाना प्रकार की कलाओं की उन्नति आदि कर्मों का अनुष्ठान हो, जो सुख-समृद्धि के उपाय समझे जाते हैं, धन और जन के अत्यंत अभाव के कारण वे यहाँ नितान्त उपलब्ध नहीं हैं। इसीलिए सकाम या निष्काम रूप से कर्म-जटिल जीवन बितानेवाले कर्म-रसिक और विषयों में आनन्द लेनेवाले देहाभिमानी जन निर्विषयक एवं नित्य-शान्त अद्वैत पद के समान कर्म या कर्म-साधनों से बिल्कुल हीन इस नितान्त शांत स्थान से डरते हैं।

वेद वाक्य है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति।' द्वैत से ही डर पैदा होता है। एक से भय कैसे हो? द्वैत-कल्पना एवं उससे होनेवाले इन्द्रिय-व्यापार ही भय तथा दुःख पैदा करते हैं,फिर भी इन्द्रिय-व्यापार के कर्म या उसके साधन विविध विषय जहाँ नहीं होते, वह स्थान सचमुच भयदायक नहीं, अभय का हेतु है। पर जैसे आचार्य गौड़पाद ने परिहास किया था कि 'अभये भयदर्शिनः,' वैसे अभय से निरतिशय आनन्द को अनुभव करनेवाले इस स्थान पर ये धर्मशील लोग भय से होने वाला विक्षेप-दुःख भोगते हैं। चूंकि अब वे नैष्कर्म्य रूपी नित्य शांति को जान कर भोगने के अधिकारी नहीं है,इसलिए उनका भय यह अनुचित नहीं है।

अपनी विद्वत्ता एवं जन-नेतृत्व के द्वारा ऊँची श्रेणी में विराजमान कई

स्वदेशी तथा विदेशी व्यक्ति गंगोत्तरी और गोमुखी में जाकर नैष्कर्म्य-निष्ठा में रहनेवाले इस साधु से इस विषय में, अर्थात् नैष्कर्म्य-स्थिति के रूप एवं उपयोगिता के बारे में, श्रद्धापूर्वक, पर आलोचना के रूप में, अक्सर कई प्रश्न किया करते हैं। किन्तु ऐसे प्रश्नों का समाधान देते-देते मुझे बड़ा अनुभव हुआ है। इसलिए अनायास ही उनके हर एक प्रश्न का स्पष्ट निरूपण करके समाधान देते हुए उनको पूर्ण संतोष प्रदान करता था। क्रिया, कारक और फल का द्वैत ही संसार है। उसकी निवृत्ति ही सांसारिक निवृत्ति है। यदि सक्रिय दशा ही संसार हो तो यह कहने की आवश्यकता ही क्या कि निष्क्रिय दशा सांसारिक निवृत्ति है ? यह प्राकृत लोग भी जानते हैं कि क्रिया, कारक और व्यवहारों की जागृत एवं स्वप्न दशाएँ संसार है, और सुषुप्ति की दशा सांसारिक निवृत्ति है। निष्काम होने पर भी कर्मों की आसक्ति के कारण यदि कोई इस शरीर में कर्मों से शून्य नित्य-शांति-पद की इच्छा नहीं करता तो उस आसक्ति के कारण ही इस शरीर के गिर जाने के बाद भी उसे दूसरा शरीर ग्रहण करने की इच्छा हो सकती है।

जो यह जानता है कि जन्म, जरा, मरण आदि दोषों से दूषित एवं द्वैत व्यवहारों से भरा यह संसार दुःख रूप है, उसकी निवृत्ति ही मोक्षपद है और वह मोक्षपद त्रिकाल में एकरस, निश्चल एवं नित्य शांत होकर विराज मान ब्रह्मवस्तु है, तथा उसकी निष्ठा करता है या निष्ठा करने की कोशिश करता है, तो उस दार्शनिक के बारे में यह कल्पना कैसे की जा सकती है कि वह द्वैत के अनुसंधान, उसके विभिन्न कर्मानुष्ठान एवं संघर्ष में आनंद प्राप्त करेगा तथा नैष्कर्म्यरूपी नित्य शांति-पद से डर जाएगा। चित्त एवं इन्द्रियों के चलनात्मक कर्म ही यदि कोई चाहता है तो कर्म के साधन शरीर को बार-बार ग्रहण करने के अतिरिक्त उसके नाशरूपी मोक्ष की इच्छा वह क्यों करेगा ? जो अशरीर भाव की इच्छा नहीं करता, उसके लिए तत्वज्ञान, कर्मक्षय, वासनाक्षय, आदि सब पाने के वास्ते भगीरथ प्रयत्न करने की जरूरत ही क्या है ?

तात्पर्य यह है कि यों कर्मवीरों के लिए भय का स्थान होने पर भी वासनाहीन एवं उपरत-चित्तवृत्ति शांतिप्रिय लोगों के लिए नैष्कर्म्य रूपी ब्रह्मपद के समान नैष्कर्म्य रूपी यह गोमुख प्रांत भी सर्वाधिक प्रिय अभय-स्थान बन जाता है। नैष्कर्म्य रूपी ब्रह्मपद में निष्ठित लोग भी यदि लोक-संग्रह के कामों में लगे रहें तो यहाँ न तो यह निषेध किया जाता है कि वह

न करें और न यह विधि कि वे उसे करें। स्वभाव का निग्रह भला कौन कर सकता है? कर्मों की प्रवृत्ति की मात्रा के अनुसार उस ज्ञानी जीवन में भी अनुकूल एवं प्रतिकूल वेदनाएँ ज़रूर होती रहती हैं। ऐसे इष्ट एवं अनिष्ट अनुभव ही का नाम संसार है तथा शांतिपद का मोक्षस्थान तो संसार के नाममात्र में भी स्पर्शहीन है।

०

यहाँ मेरु हिमधारा और गंगोत्तरी हिमधारा के बीच में गोमुख से केवल दो मील ऊपर की ओर विराजमान 'तपोवन' नामक विशाल मैदान विशेष रूप से मन को आकृष्ट करनेवाला एक सुन्दर स्थान है। जिन यात्राओं में मैं गोमुख के पास रहा करता था, तब कई बार वहाँ जाकर मैं उस मैदान का दर्शन करता था तथा वहाँ प्रसन्नता के साथ बैठकर इस पार और उस पार के शिवलिंग, भागीरथी आदि रँगीले मनोहारी पहाड़ों को, दोनों ओर फैली हुई उज्ज्वल हिम-शिखरों की पंक्तियों को, सामने ही उस पार विराजमान 'नंदनवन' नामक विशाल मैदान को एवं बदरीनाथ के मार्ग की 'चतुरंगी' नामक प्रसिद्ध जलधारा को अतृप्त मन के साथ देख-देख कर आनंदित हो जाता था। जब चारों हिम-संघातों और हिम-शिखरों से भरकर रजत एवं सुवर्ण की शोभा में चम-चम चमकते उस अद्भुत स्थान से अनमना होकर अपने निवास की ओर लौट आता था, तब मन को बड़ी कठिनाई से यों समझा देता था कि अगले वर्ष फिर तू इसी शिवलिंग मैदान में आनंद उठाएगा।

तपोवन मैदान से फिर कुछ दूर आगे बढ़ें तो वहाँ एक लंबा-चौड़ा नील-निर्मल सरोवर प्राप्त होगा। यदि दिन में धूप हो तो उस सरोवर में श्रद्धा के साथ गोता लगाते, बड़ी देर तक जल-क्रीड़ा करते और उस के मनोहारी किनारे पर बैठकर खाना खाते, इहलोक-परलोक की चिंता छोड़ कर अति आनंदित होता रहता था। यद्यपि ऐसे कई छोटे सर गंगोत्तरी धारा में इधर-उधर दिखायी देते हैं, तो भी धारा के बीच वे सब सुगम या स्नान-क्रीड़ा आदि के लिए उपयोगी नहीं होते। वहाँ से कुछ आगे 'कीर्त्ति' नाम से प्रकीर्त्तित हिमधारा के पास भी कभी-कभी जाकर मैं जल-प्रपात तथा चारों ओर के दृश्य देखकर अद्भुत रस का अनुभव करता था। इस कीर्त्ति हिमधारा के मार्ग से यद्यपि यहाँ से केदारनाथ का शिखर सिर्फ पाँच मील की दूरी

पर है, तथापि हिमसंघातों से भरे-पूरे उस भयानक प्रदेश को पार करने की सामर्थ्य किसमें है ?

सन् १९४७ में स्विट्जरलैंड के कुछ पर्वतारोही लोगों ने परिश्रम किया था, अर्थात् कीर्ति हिमधारा के मार्ग से कठिनाई के साथ तीन-चार मील आगे बढ़ने में वे विजयी हुए थे। फिर भी उससे आगे जाने मे असमर्थ होकर वे निराश ही लौटे थे। विशाल गंगोतरी हिमधारा के रास्ते पर यहाँ से करीब सात मील की दूरी पर सुमेरु का शिखर विराजमान है। भूगोल-शास्त्री कई आधुनिक लोग यह विश्वास करते हैं कि पुराण-प्रसिद्ध कनकादि का शिखर अर्थात् महामेरु का शिखर यही है, और वे अपने पक्ष के समर्थन के लिए कई प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। गोमुख के निवास के समय मैं एक बार विशाल एवं विकट गंगोतरी हिमधारा को कठिनाई से पार कर उस पार की चतुरंगी हिमधारा के संगम पर जा पहुँचा था और वहाँ की लालिमामय ललामता का बड़ी देर तक उपभोग करता रहा था। यहाँ से इस कठिन चतुरंगी हिम-धारा के द्वारा ही उद्यमी लोग दो-तीन दिनों में बदरीनाथ पहुँच सकते हैं।

गोमुख के पास नीचे की ओर भूर्ज-वृक्षों के सुन्दर वनान्तरों में लालिमा के साथ प्रकाशमान भृगुपथ हिम-धारा के पास भी मैं कभी-कभी कई दिनों तक रहा करता था। बड़े बड़े रीछों के विहार-स्थान के रूप में प्रसिद्ध उन वनों में भी कभी-कभी ऊपर की ओर चढ़ता जाता था और वहाँ के विशाल हिम-संघातों के किनारे शाम को अकेले ही सब भय-चिंताएँ छोड़कर उनकी सुन्दरता देख-देख आनंदोन्मत होकर देर तक भ्रमण करता रहता था। इन वनों में ऐसे कई दिव्य वृक्ष, लताएँ तथा वनस्पतियाँ दिखायी पड़ती हैं जो और कहीं नहीं दिखायी पड़तीं। कई छोटे-छोटे विचित्र पुष्पों को तोड़कर उनके गुच्छे बना लेना शाम का भ्रमण करते समय मेरा एक आनंददायक काम था। शायद स्वयं देवराज भी ऐसे वनों एवं हिम-धाराओं में स्वच्छंद विहार करने तथा अन्यत्र अप्राप्य दिव्य शोभावाले ऐसे पुष्पों को तोड़कर हाथ में लिये आनंदित होने की इच्छा करते होंगे। किंतु महाभागी एवं स्वर्गपति होने पर भी इन्द्र के लिए इसका भाग्य कहाँ ? यहां के निवास के बाद गंगोत्तरी की ओर लौटने पर मैं ब्रह्म-कमल—जल-कमल के आकार में ही बहुत ऊँचे हिम-प्रदेशों में पैदा होनेवाला एक प्रकार का स्थल-कमल—आदि बड़े आकार के फूलों तथा कस्तूरी-पुष्प आदि छोटे आकार के

फूलों को इकट्ठा करके ले गया था। वस्तुतः सब कुछ भूल जाने पर भी मेरे लिए यह न भुलायी जाने वाली बात थी।

सन् १६४१ के अगस्त महीने में मुझ पर अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले एक गुर्जर ब्राह्मण, मेरे संस्कृत-ग्रंथों के प्रकाशक वैद्यनाथ और वेदांत के पंडित श्री वल्लभराम शर्मा तथा दूसरे कुछ उच्च शिक्षित युवक अपने मित्रों के साथ मेरे दर्शन के लिए मेरे निवास-स्थान पर आ गये। उनके आगमन से मेरे मन में भी अति आश्चर्य तथा अति आनंद पैदा हुआ था। हिमालय के अत्यंत उन्नत तथा एकांत-शिखर प्रदेशों में मेरे ऐसे जीवन और उसमें मेरे ऐसे असाधारण प्रेम के बारे में जो व्यक्ति अब तक परोक्षरूप से जानते थे, अब इसे प्रत्यक्ष देख कर वे अति संतुष्ट एवं कृतार्थ हुए थे।

यद्यपि यह सज्जन अँग्रेजी में शिक्षित थे तो भी वे ईश्वर तथा महात्माओं में श्रद्धालु थे। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं उन्हें कुछ सन्देश लिख दूं। शायद वे इसे अखबारों में प्रकाशित कराना चाहते थे। उनकी उस इच्छा की पूर्ति करते हुए मैंने इस प्रकार लिखा—

"निरतिशय आनंद भोगने का भाग्य चिंताओं से संतप्त इस संसार में बहुत कम लोगों को ही मिल पाता है। नाना वासनाओं एवं विभिन्न कार्य-भारों से चंचल चित्त वाले साधारण लोग इस महाशान्ति का एक कण भी भोगने के अधिकारी नहीं होते। जैसे द्रव्य, प्रभुता आदि सम्पत्ति के बिना केवल इच्छा से राजभोग नहीं किया जा सकता, वैसे तत्त्वनिष्ठा, वासना-क्षय, उपरति आदि की सम्पत्ति के बिना इच्छा-मात्र से कोई आत्मशान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए साधारण लोग पहले कर्मों को छोड़ एकांतवास के लिए तैयार न हों, बल्कि तत्त्वनिष्ठा रूप मुख्य साधन का उपार्जन करें, और अंतःकरण की शुद्धि के लए निष्काम कर्म का निरंतर अभ्यास करें।"

मेरे इस लिखित सन्देश को लेकर वे बहुत प्रसन्न हुए, और गोमुखी-स्नान करके वे जल्द ही चले गये, मानों वे अपने अधिकार को जान गये हों।

•

ऐसे स्थानों पर जब मैं तंबू नहीं ले जाता था और पाषाण-गुफ़ा आदि भी तत्काल नहीं मिलती थी तो कई बार भूर्जवृक्षों के नीचे बड़े आनंद से रहा करता था। सब तरह की सुविधाओं से पूर्ण निवास-स्थानों की अपेक्षा वे वृक्ष-मूल कितनी निवृत्ति देते थे, यह अनुभव करने की ही बात है।

वस्तुतः प्रतिकूलता की निवृत्ति ही अनुकूलता है। यह एक शास्त्र-सत्य है कि प्रतिकूलता का अनुभव दुःख है एवं अनुकूलता का अनुभव सुख। आशय यह है कि प्रतिकूल दुःख की निवृत्ति में ही अनुकूल सुख की उत्पत्ति है। प्रतिकूलता जितनी दुःखद है, उसकी निवृत्ति में अनुकूल बुद्धि भी उतनी ही सुखद होती है।

अंधकार जितना गहरा होता है, उसके ध्वंस का प्रकाश भी उतना ही तेज प्रतीत होता है। बरसात में वर्षा होती रहती है। हिमालय के हिम-प्रदेशों की शीत तो वर्षा में असहनीयता को पहुँच जाती है। ऐसी कठिनाई के समय उस कठिन प्रदेश में वृक्ष की छाया ही बड़े-बड़े महलों से भी अधिक आनंद-दायक आश्रय बन जाती है। हिम-शिखरों की तराइयों में वर्षा की ठंड से काँपते हुए चलनेवाले मुसाफ़िर जब भूर्जवृक्षों की छाया में इकट्ठी लकड़ी बटोर कर आग जलाकर उसके पास बैठे विश्राम करते हैं, तब उनका आनंद एक विशाल महल में सुवर्ण-मंच पर विराजमान एक सम्राट् भी नहीं पा सकता। उस उन्नत भूमि में भूर्जवृक्षों से होने वाले उपकार को मेरा मन कृतज्ञता के साथ स्मरण किया करता है।

स्थावर्यं तव गांगनीरलहरीसंघट्टितांगस्य यद्—
धन्यं धन्यमतीव धन्यममरेन्द्राद्यैश्च संप्रार्थितम् ॥

'हे भाई भूर्ज ! लो, सुकृतियों में भी सुकृति तुम्हारे चरणमूलों में नमस्कार ! स्थावर-योनि के नाम से जो तुम्हारी निन्दा करते हैं, उन अभिमानी पंडितों को धिक्कार है ! क्योंकि वे नहीं जानते कि गंगाजल की लहरों से टकरानेवाला तुम्हारा स्थावरत्व धन्य, अतीव धन्य तथा देवेन्द्र आदि से इच्छित है ।'

●●

१९. उपसंहार

हिमगिरि-विहार के विवरण-रूपी इस ग्रन्थ को यहाँ समाप्त कर देता हूँ। इसे आगे बढ़ाने के लिए मेरा मन इच्छा नहीं करता। मैंने नागाधिराज पर अपनी परिव्रजनात्मक तपस्या की महिमा का ढिंढोरा पीटने के लिए यह ग्रन्थ नहीं लिखा है। प्रस्तुत ग्रंथ से मेरा उद्देश्य है कि हिमालय की प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं अध्यात्मिक महिमा को थोड़ा बहुत मलयाली[1] पाठकों के दिल में बिठा दूं। किंतु हिमगिरि की महिमा का विवरण केवल उसकी सुषमा का निदर्शन कराने के लिए नहीं किया गया, बल्कि यह विवरण इसलिए किया गया है कि यह स्थान पुरुषार्थों में श्रेष्ठतम अध्यात्मज्ञान के लिए अति उपयोगी है। इसी ज्ञान को उत्पन्न करने में ही प्रस्तुत ग्रंथ की चरितार्थता निहित है। वह कैसे ? अध्यात्मज्ञान तथा हिमालय की महिमा के वर्णन के बीच साध्य-साधन का भाव कैसे हो सकता है ? यह एक प्रश्न है।

संसार में केवल हिन्दू ही नहीं, ऐसे दूसरे धर्मवाले भी हैं जिनमें से देवात्मा हिमालय की सर्वतोमुखी महिमा में श्रद्धा एवं आदर का भाव है। महा-महिमाशाली हिमालय सबके लिए श्रद्धा एवं आदर का पात्र बनकर विराजमान है। हिमालय का नाम सुनते ही लोग आदर के कारण सिर नवाकर हाथ जोड़े उसे प्रणाम करते हैं। इस प्रकार सब के द्वारा एवं सब तरह से माननीय तुषार-गिरि की लोकोत्तर-महिमा को जो लोग उत्कंठा के साथ इस ग्रन्थ के द्वारा विशेष रूप से जान लेते हैं, उनको कठिन अध्यात्मतत्त्व भी, आसानी से सरसता से संप्राप्त हो जाता है।

इस गिरि का हरएक मुख्य-धाम इस की महानता के विजय-स्तंभ के रूप में विराजमान है। इस ग्रंथ में इन धामों की यात्राओं के विवरण के साथ-साथ इनसे सम्बद्ध अति निगूढ़ अध्यात्म-विषयों का भी सरल, सम्यक् एवं विशद प्रतिपादन किया गया है। उसमें दार्शनिक विषयों को जो स्थान दिया

---

1. मूल ग्रन्थ मलयालम में है, इसलिए 'मलयाली' पाठकों का नाम विशेष रूप से लिया गया।

गया है, उसका महत्व धामों एवं यात्रा के विवरण से ज़रा भी गौण नहीं है, अपितु वस्तुतः उससे भी मुख्य है। इसलिए यदि हम उत्साह के साथ हिमगिरि की महिमा का अभ्यास करें तो उसके द्वारा उत्साह तथा सुख के साथ अध्यात्मिक सिद्धांत भी अवश्य बुद्धि आ जाएंगे। अतः इसमें सन्देह नहीं कि एक विशेष ढंग से दार्शनिक चिंतन में तुहिन-गिरि के महिमा-वर्णन एवं साध्य-साधन का एक महान् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है कि 'मैं' 'मैं' के प्रयोग का विषय बनकर सब की बुद्धि में स्थित आत्मवस्तु वही है जो ईश्वर, ब्रह्म आदि कई नामों से कहलायी जाती है, और जो जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार के लिए हेतुभूत स्वतंत्र वस्तु है। इस ग्रन्थ का ही नहीं, सभी उपनिषदों का मुख्य विषय यही है। इस चेतन आत्मवस्तु को छोड़कर और कोई ईश्वर नहीं होता। जो इसको जानता है, वह ईश्वर को जानता है। इस आत्मवस्तु के सिवा और उससे अन्य कोई तटस्थेश्वर या किसी लोक-विशेष में छत्रपति के समान रहने वाला कोई साकार ईश्वर नहीं होता। 'नेदं यदिदमुपासते' आदि वाक्यों से हज़ारों वर्ष पूर्व ही हमारे उपनिषदों ने तटस्थेश्वरवाद का खंडन किया है। यही अद्वितीय एक सत्य वस्तु है। दूसरी सब वस्तुएँ विकारी एवं विनाशी हैं और इसलिए असत्य भी हैं।

देश-काल-वस्तुओं में अच्छिन्न आत्मरूपी यह ब्रह्मवस्तु निर्विकार रूप में आकाश आदि के क्रम में इस जगत् की सृष्टि करती है। वह कैसे ? सृष्टि की हेतुभूत वस्तु में विकार हुए बिना सृष्टि कैसे संभव हो सकती है ? उसमें स्थित एक शक्ति-विशेष अपने आधार ब्रह्मवस्तु में जरा भी विकृत हुए बिना इस संसार का सृजन करती है। उसके कारण ब्रह्म दशा-भेद का विकार पाये बिना सदा एकरूप में विराजमान रहता है। यही शक्ति महान् विचित्रता के कारण, माया और जगत् की उपादान होने के कारण, प्रकृति आदि कई नामों से जानी जाती है। यही विचित्र शक्ति अथवा इस विचित्र शक्ति से युक्त ब्रह्म ही इस जगत् के परिणाम को पा गया है।

इस कल्पना का कोई न्याय नहीं दीखता कि चेतनता हर शरीर में भिन्न-भिन्न हो। यदि जड़-स्वरूप संसार ही जगत् से भिन्न न हो तो चेतनामय प्राण ब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकता है ? यों वेदांत-दर्शन के कर्ता बादरायण एवं उनके अनुयायी शंकर आदि का यह मत है कि यह चेतनामय जगत् अद्वितीय चेतन ब्रह्म का ही परिणाम-भेद है—स्वयं अपरिणामी होने पर

पूर्ण वस्तु को देखता हूँ। किसी भी देश, काल, वस्तु या दशा में मैं उसी स्वयं प्रकाशमान वस्तु का साक्षात्कार कर लेता हूँ। उस सत्य वस्तु को छोड़कर और किसी वस्तु को मैं नहीं देखता, और कुछ सुनता भी नहीं, और किसी को मैं छूता भी नहीं, और किसी की मैं रसानुभूति नहीं करता, और किसी को मैं सूंघता नहीं तथा और किसी की मैं चिंता भी नहीं करता। उस आनंद-वस्तु के बिना और किसी में मैं रमता नहीं, और किसी में क्रीड़ा नहीं करता, और किसी में आनंदित भी नहीं होता।

इस प्रकार बुद्धि तथा बुद्धि में थोड़ी शुद्धि रखनेवाले सभी मानव-बंधुओं से प्रार्थना है कि मानव-जीवन को कृतार्थ करने वाली इस ब्रह्मानुभूति का—इस अत्यंत मधुर ब्रह्मानुभूति का—आनंद उठा लें। घर में रहनेवाला कोई गृहस्थ भी एक वनवासी सन्यासी के ही समान अध्यात्म-विचार कर सकता है। सभी वर्णी तथा सभी आश्रमी आत्मानंद भोगने के अधिकारी हैं। यदि मानसिक शक्ति हो तो कितने ही व्यस्त व्यवहारों के बीच भी आत्मभावना असंभव नहीं है।

यह लेखक सन्यास लेकर हिमगिरि में ही परमात्म-महिमा का अनुसंधान करते हुए निर्बाध रूप से रहने वाला एक एकांत-प्रिय व्यक्ति है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सन्यासाश्रम मानव-जीवन का पवित्रतम दशा-विशेष है, तथा वह दुःखमय कहलाने वाले इस संसार को आनंदमय बना देनेवाली एक विचित्र वस्तु है। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि विक्षेप के हेतु सब कर्मों के परित्याग के बिना कुछ अधिकारी लोगों के लिए अध्यात्म-विचार करना बिल्कुल असंभव है, फिर भी मेरा यह मत नहीं है कि गृहस्थ आदि अन्य आश्रमी लोग अध्यात्म-विचार के अनधिकारी हैं, अथवा उन आश्रमों में अध्यात्म-विचार की चर्चा करना सहज नहीं। यद्यपि मैं यह बात पहले भी कई बार कह आया हूँ, तथापि दृढ़ता के लिए फिर बताये देता हूँ। हम कोई भी कर्म क्यों न करते हों, हमें आत्मा की चिंता करनी चहिए। स्त्री, पुत्र और पौत्रों से घिरे घर में रहते हुए भी उस परमात्मा को प्रेमपूर्वक प्रणाम करो। इंद्रियों को चलानेवाली उस चेतनता का सतत स्मरण करते हुए ही इंद्रियों को उचित चेष्टाओं में लगाओ। सुरा-कुंभ पर मोहित हुए बिना सुधा-कुंभ का पान करके सदा आनंद प्राप्त करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।